प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

चौथी बार १९६१
मूल्य
दो रुपये २५ न० पै०

मुद्रक
राष्ट्रभाषा प्रिण्टर्स
दिल्ली ६

प्रकाशकीय

आचार्य विनोबाजीकी कई पुस्तकें हिन्दीमें प्रकाशित हो चुकी हैं, लेकिन उनके एक ऐसे संग्रहकी आवश्यकता अनुभव की जा रही थी, जो विशेष रूपसे युवकोंके लिए उपयोगी हो और जिसे पढ़कर वे जान सकें कि सच्ची शिक्षा एवं संस्कृति क्या है और उन्हें किस प्रकार अपने जीवनका निर्माण तथा विकास करना चाहिए, जिससे वे समाज और राष्ट्रकी अधिक-से अधिक सेवा कर सकें।

प्रस्तुत संग्रह इसी कमीको पूरा करनेके विचारसे निकाला जा रहा है। युवकों, विशेषकर विद्यार्थियोंकी दृष्टिसे लगभग सभी आवश्यक विषयोंका समावेश इसमें हो गया है। हमारी शिक्षा कैसी होनी चाहिए, वर्तमान शिक्षा प्रणालीको किस प्रकार लाभदायक बनाया जा सकता है, शिक्षकोंमें किन किन गुणोंका होना जरूरी है, विद्यार्थियोंको आत्मविकासके लिए भिन्न-भिन्न मूलभूत बातोंको अपने अन्दर विकसित करना चाहिए, शरीर-श्रम क्यों आवश्यक है, वास्तविक धर्मशास्त्र क्या है, हम ग्रामोंकी सेवापर अपना ध्यान क्यों केन्द्रित करना चाहिए, ग्रामोद्योगोंको प्रोत्साहन देनेमें क्या लाभ है, हमारे जीवनमें भावनाका क्या महत्त्व है, त्याग और दानका क्या स्थान है, आजकी सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओंको सर्वोदयके सिद्धान्त द्वारा किस प्रकार दूर किया जा सकता है, महापुरुषोंके जीवनसे हमें क्या-क्या शिक्षाएं मिलती हैं, आदि-आदि सभी विषयोंपर इस पुस्तकमें प्रकाश डाला गया है। विनोबाजी जो कुछ कहते हैं, उसके व्यावहारिक पहलूको पहले देख लेते हैं। अतः इस पुस्तकमें सिद्धान्त और व्यवहार, दोनोंका बड़ा ही सुन्दर समन्वय पाठकोंको मिलेगा।

विनोबाजी महान चिन्तक और साधक हैं। देशके करोड़ों भूखे, नंगे और पीड़ित लोगोंकी पुकार उन्हें पवनारसे खींचकर उनके बीच ले आई

है और वह समाजमें अहिंसक शांति उत्पन्न करनेके लिए देशके एक कोनेसे दूसरे कोनेतक पैदल यात्रा कर रहे हैं। हमें विश्वास है कि उनके विचारोंका अध्ययन, मनन और स्वाध्याय करके पाठक उस महान ध्येयकी पूर्तिमें योग देंगे जिसके लिए विनोबाजीने अपने प्राणोंकी बाजी लगा रखी है।

पुस्तककी सामग्री 'विनोबाके विचार' 'गांधीजीको श्रद्धांजलि' 'शांति-यात्रा' आदि कई पुस्तकोंसे ली गई है।

चौथा संस्करण

प्रस्तुत पुस्तकका चौथा संस्करण पाठकोंकी सेवामें उपस्थित करते हुए हमें बड़ा हर्ष हो रहा है। पुस्तकमें शिक्षा और संस्कृतिके विषयमें बुनियादी विचार हैं और इन विचारोंका जितना अधिक प्रचार होगा उतना ही लाभदायक है। हम चाहते हैं कि पुस्तक प्रत्येक युवकके हाथमें पहुंचे जिससे अपने जीवन-निर्माणमें उसे सही मार्गदर्शन प्राप्त हो।

हमें विश्वास है कि पुस्तक उत्तरोत्तर लोकप्रिय होगी।

—मंत्री

गभीर अध्ययन

अध्ययनमें लंबाई-चौड़ाई महत्त्वकी चीज नहीं है। महत्त्व है गहराईका। बहुत देरतक घंटों-के-घंटे और भांति भांतिके विषयोंका अध्ययन करते रहनेको मैं लंबा-चौड़ा अध्ययन कहता हूं। समाधिस्थ होकर नित्य निरतर थोड़ी देरतक किसी निश्चित विषयके अध्ययनको मैं गभीर अध्ययन कहता हूं। दस-बारह घंटे सोना पर करवटें बदलते रहना या सपने देखते रहना—ऐसी नींदमें विश्रांति नहीं मिलती बल्कि पांच ही छह घंटे सोयें किंतु गाढ़ निद्रा हो तो इतनी नींदसे पूर्ण विश्रांति मिल सकती है। यही बात अध्ययनकी है। समाधि अध्ययनका मुख्य तत्त्व है।

समाधियुक्त गभीर अध्ययनके बिना ज्ञान नहीं। लंबा चौड़ा अध्ययन बहुत-कुछ फजूल ही होता है। उसमें शक्तिका अपव्यय होता है। अनेक विषयोंपर सारी उमर पढ़ाई करते रहनेसे कुछ हाथ नहीं लगता। अध्ययनसे प्रज्ञा बुद्धि स्वतंत्र और प्रतिभावान होनी चाहिए। प्रतिभाके मानी हैं बुद्धिमें नई-नई कोंपलें फूटते रहना। नई कल्पना, नया उत्साह, नई खोज, नई स्फूर्ति ये सब प्रतिभाके लक्षण हैं। लंबी-चौड़ी पढ़ाईके नीचे यह प्रतिभा दबकर मर जाती है।

वर्तमान जीवनमें आवश्यक अनुभवोंका ख्याल रखकर ही सारा अध्ययन करना चाहिए अन्यथा भविष्य-जीवनकी आशासे वर्तमान कालमें मरने-जैसा प्रकार बन जाता है। शरीरकी स्थितिपर कितना विश्वास किया जाता है यह प्रत्येकके अनुभवमें आनेवाली बात है। भगवानकी हम सबपर अपार कृपा ही समझनी चाहिए कि हममें यह कुछ न-कुछ कमी रख ही देता है। वह चाहता है कि यह कमी जानकर हम जाग्रत रहें।

दो बिंदुओंसे रेखाका निश्चय होता है। जीवनका मार्ग भी दो ही बिंदुओंसे ही निश्चित होता है। एक है आना यह पहला बिंदु, दूसरा जाना है यह दूसरा बिंदु। इन दो बिंदुओंको तय कर लेना जीवनकी दिशा तय कर लेना है। इस विचारके बगैर इस किनारे इधर-उधर भटकते रहनेसे रास्ता तय नहीं हो पाता।

'ग्रामसेवावृत्त' से] —विनोबा

विषय-सूची

	विषय	पृष्ठ
१	रोजकी प्रार्थना	९
२	जीवन और शिक्षण	११
३	कौटुंबिक पाठशाला	१७
४	राष्ट्रीय शिक्षणकी	
	साहित्य	२
५	तेजस्वी विद्या	२४
६	नई शिक्षा प्रणालीका	
	आधार	२७
७	ब्रह्मचर्यका मर्म	३१
८	साक्षर या सार्थक ?	४२
९	निवृत्त शिक्षण	४५
१०	मारमादी भाषा	५६
११	साहित्य उसकी विद्या	६१
१२	तुलसीकृत रामायण	६३
१३	जीवनकी तीन प्रधान बातें	६
१४	गांधीजीकी शिक्षापद्धति	७
१५	सर्वोदयकी विचार-सरणी	७५
१६	सभा व्यक्तिकी भक्ति	
	समाजकी	७
१७	ग्रामसेवा और ग्रामधर्म	३
१८	ग्राम-सफाईकी उपासना	६
१९	स्वाध्यायकी आवश्यकता	६७
	दरिद्रोंसे तन्मयता	
२१	त्याग और दान	१ ३
२२	कृष्णभक्तिका रोग	१ ५
२३	कविके गुण	१ ९
२४	फायदा क्या है ?	११३
२५	चार पुरुषार्थ	११६
२६	निर्भयता	११३
२७	आत्मशक्तिका अनुभव	११४
२	सेवाका आचार-धर्म	१४१
२९	परशुराम	१५३
३	राष्ट्रीय अर्थशास्त्र	१५७
३१	खादी और गांवोंकी	
	सत्ता	१६२
३२	खादीका समग्र दर्शन	१६७
३३	उद्योगमय ज्ञान-दृष्टि	१७५
३४	मा-सेवाका रहस्य	१८१
३५	भिक्षा	१८९
३६	भूदान	१९२
३७	गुरुमंत्र	१९९
३	लोकमान्यके चरणोंमें	२ ३
३९	भूदान-यज्ञ और उसकी	
	भूमिका	२१५
४	ग्रामदानकी विचार और	
	आचार-योजना	२ ४

जीवन और शिक्षण

१

रोजकी प्रार्थना

ॐ असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय॥

हे प्रभो मुझे असत्यमेंसे सत्यमें ले जा। अन्धकारमेंसे प्रकाशमें ले जा। मृत्युमेंसे अमृतमें ले जा।

इस मंत्रमें हम कहां हैं अर्थात् हमारा जीव-स्वरूप क्या है और हमें कहां जाना है अर्थात् हमारा शिव-स्वरूप क्या है, यह दिखाया है। हम असत्यमें हैं अंधकारमें हैं मृत्युमें हैं। यह हमारा जीव-स्वरूप है। हमें सत्यकी ओर जाना है प्रकाशकी ओर जाना है, अमृतत्वको प्राप्त कर लेना है। यह हमारा शिव-स्वरूप है।

दो बिंदु निश्चित हुए कि रेखा निश्चित हो जाती है। जीव और शिव ये दो बिंदु निश्चित हुए कि परमार्थ-मार्ग तैयार हो जाता है। मुक्तके लिए परमार्थ-मार्ग नहीं है कारण उसका जीव-स्वरूप जाता रहा है। शिव-स्वरूप का एक ही बिंदु बाकी रह गया है, इसलिए मार्ग पूरा हो गया। जड़के लिए परमार्थ-मार्ग नहीं है। कारण उसे शिव-स्वरूप का भान नहीं है। जीव स्वरूपका एक ही बिंदु नजरके सामने है इसलिए मार्ग प्रारंभ ही नहीं होता। मार्ग बीचवाले लोगोंके लिए है। बीचवाले लोग अर्थात् मुमुक्षु। उनके लिए मार्ग है और उन्हींके लिए इस मंत्रवाली प्रार्थना है।

'मुझे असत्यमेंसे सत्यमें ले जा' ईश्वरसे यह प्रार्थना करनेके मानी हैं 'मैं असत्यमेंसे सत्यकी ओर जानेका बराबर प्रयत्न करूंगा' इस तरहकी

एक प्रतिज्ञा-सी करना। प्रयत्नवादकी प्रतिज्ञाके बिना प्रार्थनाका कोई अर्थ ही नहीं रहता। यदि मैं प्रयत्न नहीं करता और चुप बैठ जाता हूँ अथवा विरुद्ध दिशामें जाता हूँ और जबानसे 'मुझे असत्यमेंसे सत्यमें ले जा' यह प्रार्थना किया करता हूँ तो इससे क्या मिलनेका ? नागपुरसे कलकत्तेकी ओर जानेवाली गाड़ीमें बैठकर हम 'हे प्रभो मुझे बम्बई ले जा' की कितनी ही प्रार्थना करें,तो उसका क्या फायदा होना है ? असत्यसे सत्यकी ओर ले जानेकी प्रार्थना करनी हो तो असत्यसे सत्यकी ओर जानेका प्रयत्न भी करना चाहिए। प्रयत्नहीन प्रार्थना प्रार्थना ही नहीं हो सकती। इसलिए ऐसी प्रार्थना करनेमें यह प्रतिज्ञा शामिल है कि मैं अपना एक कदम असत्यसे सत्यकी ओर रक्खूंगा और अपनी शक्तिभर सत्यकी ओर जाने का भरपूर प्रयत्न करूंगा।

प्रयत्न करना है तो फिर प्रार्थना क्यों ? प्रयत्न करना है, इसीलिए तो प्रार्थना चाहिए। मैं प्रयत्न करनेवाला हूँ। पर फल मेरी मुट्ठीमें थोड़े ही है। फल तो ईश्वरकी इच्छापर अवलंबित है। मैं प्रयत्न करके भी कितना करूंगा ? मेरी शक्ति कितनी अल्प है ? ईश्वरकी सहायताके बिना मैं अकेला क्या कर सकता हूँ ? मैं सत्यकी ओर अपने कदम बढ़ाता रहूं तो भी ईश्वरकी कृपाके बिना मैं मंजिलपर नहीं पहुंच सकता। मैं रास्ता काटनेका प्रयत्न तो करता हूँ पर अगर मैं रास्ता जानूंगा कि बीचमें मेरे पैर ही टूट जानेवाले हैं यह कौन कह सकता है ? इसलिए अपने ही बलबूते मैं मंजिलपर पहुंच जाऊंगा यह घमंड फिजूल है। कामका अधिकार मेरा है पर फल ईश्वरके हाथमें है। इसलिए प्रयत्नके साथ-साथ ईश्वरकी प्रार्थना आवश्यक है। प्रार्थना के संयोगसे हमें बल मिलता है। यों कहो न कि अपने पासका संपूर्ण बल काममें लाकर और बाकी ईश्वरसे मांग करना यही प्रार्थनाका मतलब है।

प्रार्थनामें दैववाद और प्रयत्नवादका समन्वय है। दैववादमें पुरुषार्थकी अवगणना नहीं है इससे वह बचता है। प्रयत्नवादमें निरहंकार वृत्ति नहीं है इससे वह बचती है। फलतः दोनों ग्रहण नहीं किये जा सकते। किन्तु दोनोंको छोड़ा भी नहीं जा सकता। कारण दैववादमें जो नम्रता है वह जरूरी है। प्रयत्नवादमें जो पराक्रम है वह भी आवश्यक है। प्रार्थना इनका मेल साधती

है। 'मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः' गीतामें सात्त्विक कर्ताका यह जो लक्षण कहा गया है, उसमें प्रार्थनाका रहस्य है। प्रार्थना यानी अहंकार रहित प्रयत्न। सारांश, 'मुझे असत्यमेंसे सत्यमें ले जा' इस प्रार्थनाका संपूर्ण अर्थ होगा कि "मैं असत्यमेंसे सत्यकी ओर जानेका अहंकार छोड़कर, उत्साहपूर्वक सतत प्रयत्न करूंगा।" यह अर्थ ध्यानमें रखकर हम रोज प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिए कि—

हे प्रभो, तू मुझे असत्यमेंसे सत्यमें ले जा। अंधकारमेंसे प्रकाशमें ले जा। मृत्युमेंसे अमृतमें ले जा।

२

जीवन और शिक्षण

आजकी विचित्र शिक्षण-पद्धतिके कारण जीवनके दो टुकड़े हो जाते हैं। आयुके पहले पन्द्रह-बीस बरसोंमें आदमी जीनेके झंझटमें न पड़कर सिर्फ शिक्षा प्राप्त करे और बादको शिक्षणको बस्तेमें लपेट रखकर मरने तक जिये।

यह रीति प्रकृतिकी योजनाके विरुद्ध है। हाथभर लम्बाईका बालक साढ़े तीन हाथका कैसे हो जाता है, यह उसके अथवा औरोंके ध्यानमें भी नहीं आता। शरीरकी वृद्धि रोज होती रहती है। यह वृद्धि सावकाश क्रम क्रमसे थोड़ी-थोड़ी होती है। इसलिए उसके होनेका भान तक नहीं होता। यह नहीं होता कि आज रातको सोये तब तो दो फुट ऊंचाई थी और सबेरे उठकर देखा तो ढाई फुट हो गई। आजकी शिक्षण-पद्धतिका तो यह ढंग है कि अमुक वर्षके बिलकुल आखिरी दिनतक मनुष्य-जीवनके विषयमें पूर्ण रूपसे गैरजिम्मेदार रहे तो भी कोई हर्ज नहीं। यही नहीं, उसे गैरजिम्मेदार रहना चाहिए और आगामी वर्षका पहला दिन निकले कि सारी जिम्मेदारी उठा लेनेको तैयार हो जाना चाहिए। संपूर्ण गैरजिम्मेदारीसे संपूर्ण जिम्मेदारीमें पड़ना तो एक हनुमान-कूद ही हुई। ऐसी हनुमान-कूदकी कोशिशमें हाथ-पैर टूट जायं तो क्या अचरज!

भगवान्ने अर्जुनसे कुरुक्षेत्रमें भगवद्गीता कही। पहले भगवद्गीताके क्लास' लेकर फिर अर्जुनको कुरुक्षेत्रमें नहीं धकेला। तभी उसे वह गीता पची। हम जिसे जीवनकी तैयारीका ज्ञान कहते हैं उसे जीवनसे बिलकुल अलिप्त रखना चाहते हैं, इसलिए उस ज्ञानसे मौतकी ही तैयारी होती है।

बीस बरसका उत्साही युवक अध्ययनमें मग्न है। तरह-तरहके ऊंचे विचारोंके महल बना रहा है। मैं शिवाजी महाराजकी तरह मातृभूमिकी सेवा करूंगा। मैं वाल्मीकि-सा कवि बनूंगा। मैं न्यूटनकी तरह खोज करूंगा। एक हो चार, जाने क्या-क्या कल्पना करता है। ऐसी कल्पना करनेका भाग्य भी थोड़ोंको ही मिलता है। पर जिनको मिलता है उनकी ही बात लेते हैं। इन कल्पनाओंका आगे क्या नतीजा निकलता है? जब नोन-तेल-लकड़ीके चक्कर में पड़ा, जब पेटका प्रश्न सामने आया तो बेचारा दीन बन जाता है। जीवनकी जिम्मेदारी क्या चीज है, आजतक इसकी बिलकुल ही कल्पना नहीं थी और अब तो पहाड़ सामने खड़ा हो गया। फिर क्या करता है? फिर पेटके लिए दर-दर फिरनेवाले शिवाजी, कलम घीस पानेवाले वाल्मीकि और कभी नौकरीकी तो कभी बीमारीकी कभी लड़की-के लिए वरकी और उसमें ब्याजकी खोज करनेवाले न्यूटन—इस प्रकार की भूमिकाएं लेकर अपनी कल्पनाओंका समाधान करता है। यह अनुभव दूसरा कम है।

मैट्रिकके एक विद्यार्थीसे पूछा "क्योंजी तुम आगे क्या करोगे?"

"आगे क्या? आगे कालेजमें जाऊंगा।

"ठीक है। कालेजमें तो जाओगे। लेकिन उसके बाद? यह सवाल तो बना ही रहता है।

"सवाल तो बना रहेगा है। पर अभीसे उसका विचार क्यों किया जाय? आगे देखा जायगा।

फिर तीन साल बाद उसी विद्यार्थीसे वही सवाल पूछा।

"अभीतक कोई विचार नहीं हुआ।

"विचार हुआ नहीं मानी? लेकिन विचार किया था क्या?

"नहीं साहब विचार किया ही नहीं। क्या विचार करें? कुछ सूझता नहीं। पर अभी डेढ़ बरस बाकी है। आगे देखा जायगा।

'आगे देखा जायगा' ये वेही शब्द हैं जो तीस वर्ष पहले कहे गए थे। पर पहलेकी आवाज में बेफिक्री थी। आजकी आवाज म थोड़ी चिंताकी झलक थी।

फिर डेढ़ वर्ष बाद उसी प्रश्नकर्ताने उसी विद्यार्थीसे—अथवा कहो अब 'गृहस्थ' से—वही प्रश्न पूछा। इस बार चेहरा चिंताक्रांत था। आवाज की बेफिक्री बिल्कुल गायब थी। 'ततः किं? ततः किं? ततः किम्?' यह शंकराचार्यजीका पूछा हुआ सनातन सवाल अब विकरालरूप धरकर चक्कर लगाने लगा था। पर पास जवाब नहीं था।

आजकी मौत कलपर ढकेलते-ढकेलते एक दिन ऐसा आ जाता है कि उस दिन मरना ही पड़ता है। यह प्रसंग उनपर नहीं आता जो 'मरनेके पहले ही मर लेते हैं' जो अपना मरण आंखोंसे देखते हैं। जो मरणका 'अगाऊ' अनुभव कर लेते हैं उनका मरण टलता है और जो मरनेके अगाऊ अनुभवसे जी चुराते हैं, डरते हैं, उनकी छातीपर मरण आ पड़ता है। सामने खम्भा है यह बात अंधेको उस खम्भेका छातीमें प्रत्यक्ष धक्का लगनेके बाद मालूम होती है। आंखवालेको वह खम्भा पहले ही दिखाई देता है। अतः उसका धक्का उसकी छातीको नहीं लगता।

जिंदगीकी जिम्मेदारी कोई निरी मौत नहीं है और मौत ही कौन ऐसी बड़ी 'मौत' है? अनुभवके अभावसे यह सारा 'हौआ' है। जीवन और मरण दोनो आनन्दकी वस्तु होनी चाहिए। कारण अपने परम प्रिय पिताने—ईश्वरने—वे हमें दिये हैं। ईश्वरने जीवन दुःखमय नहीं रचा। पर हमें जीवन जीना आना चाहिए। कौन पिता है, जो अपने बच्चों के लिए परेशानीकी जिंदगी चाहेगा। तिसपर ईश्वरके प्रेम और करुणा का पार है? वह अपने लाड़ले बच्चोंके लिए सुखमय जीवनका निर्माण करेगा कि परेशानी और झंझटोंसे भरा जीवन रचेगा? कल्पनाकी क्या आवश्यकता है प्रत्यक्ष ही देखिये न। हमारे लिए जो चीज जितनी जरूरी है उसके उतनी ही सुलभतासे मिलने का इन्तजाम ईश्वरकी ओरसे है। पानीसे हवा ज्यादा जरूरी है तो ईश्वरने पानीसे हवाको अधिक सुलभ किया है। जहां नाक है, वहां हवा मौजूद है। पानीसे अन्न की जरूरत कम होनेकी वजह से पानी प्राप्त करनेकी बनिस्बत अन्न प्राप्त करनेमें अधिक

परिश्रम करना पड़ता है। 'मालिक' शब्दसे पवित्र परमात्मा याद होनेके कारण वह ईश्वरको हमेशाके लिए दे डाली गई है। ईश्वरकी ऐसी प्रेम पूर्ण योजना है। इसका ख्याल न करके हम जितने अब उपयोगमें ज्यादा करके जितना तरह काम करते हैं उतना हम दोषी हैं। यह यह हमारी जवाबदारी होता है जैसाकि नहीं।

जिन्दगीकी जिम्मेदारी कोई व्यापारी चीज नहीं है। यह सच इतने गोल ज्ञान है कि ईश्वरकी रची हुई जीवनकी महान योजनाका स्वार्थमें [illegible] मनुष्य [illegible] [illegible] जाय। यह जैसे यह [illegible] [illegible] है जैसे ही [illegible] भी [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible]

अर्जुनके सामने प्रत्यक्ष कर्तव्य करते हुए सवाल पैदा हुआ। उसका उत्तर देनेके लिए भगवद्गीता निर्मित हुई। इसीका नाम शिक्षा है। बच्चोंको खेत में काम करने दो। वहां कोई सवाल पैदा हो तो उसका उत्तर देनेके लिए सृष्टि-शास्त्र अथवा पदार्थ-विज्ञानकी या दूसरी जिस चीजकी जरूरत हो उसका ज्ञान दो। यह सच्चा शिक्षण होगा। बच्चोंको रसोई बनाने दो। उसमें जहां जरूरत हो रसायनशास्त्र सिखाओ। पर असली बात यह है कि उनको 'जीवन जीने दो'। व्यवहारमें काम करनेवाले आदमीको भी शिक्षण मिलता ही रहता है। वैसे ही छोटे बच्चोंको भी मिले। भेद इतना ही होगा कि बच्चोंके आस-पास जरूरत के अनुसार मार्ग-दर्शन करानेवाले मनुष्य मौजूद हों। ये आदमी भी 'सिखानेवाले' बनकर 'नियुक्त' नहीं होंगे। वे भी 'जीवन जीनेवाले' हों जैसे व्यवहारमें आदमी जीवन जीते हैं। अन्तर इतना ही है कि इन 'शिक्षक' कहलानेवालोंका जीवन विचार-मय होगा, उसमेंके विचार मौकेपर बच्चोंको समझाकर बतानेकी योग्यता उनमें होगी। पर 'शिक्षक' नामके किसी स्वतन्त्र धन्धे की जरूरत नहीं है, न 'विद्यार्थी' नामके मनुष्य-कोटिसे बाहरके किसी प्राणीकी। और 'क्या करते हो' पूछनेपर 'पढ़ता हूं' या 'पढ़ाता हूं' ऐसे जवाबकी जरूरत नहीं है। 'खेती करता हूं' अथवा 'बुनता हूं' ऐसा शुद्ध पेशेवर कहिये या व्यावहारिक कहिये पर जीवनके भीतरसे उत्तर आना चाहिए। इसके लिए उदाहरण विद्यार्थी राम-लक्ष्मण और गुरु विश्वामित्रका लेना चाहिए। विश्वामित्र यज्ञ करते थे। उसकी रक्षाके लिए उन्होंने दशरथसे लड़कोंकी याचना की। उसी कामके लिए दशरथने लड़कोंको भेजा। लड़कोंमें भी यह जिम्मेदारीकी भावना थी कि हम यज्ञ रक्षण के 'काम' के लिए जाते हैं। उसमें उन्हें अपूर्व शिक्षा मिली। पर यह बताना हो कि राम-लक्ष्मणने क्या किया तो कहना होगा कि 'यज्ञ-रक्षा की'। 'शिक्षण प्राप्त किया' नहीं कहा जायगा। पर शिक्षण उन्हें मिला जो मिलना ही था।

शिक्षण कर्तव्य कर्मका आनुषंगिक फल है। जो कोई कर्तव्य करता है उसे जाने-अनजाने वह मिलता ही है। लड़कोंको भी वह उसी तरह मिलना चाहिए। औरोंको वह ठोकरें खा-खाकर मिलता है। छोटे लड़कोंमें आज उतनी शक्ति नहीं आई है इसलिए उनके आस-पास ऐसा वातावरण बनाना

चाहिए कि बहुत बोझरूप न लगने पावें और धीरे धीरे वे स्वावलम्बी बनें ऐसी व्यवस्था और योजना होनी चाहिए। शिक्षण फल है। और 'मा फलेषु कदाचन' यह मर्यादा इसके लिए भी लागू है—खास शिक्षणके लिए कोई कर्म करना वह भी हराम हुआ—और उसमें भी 'इदमद्य मया लब्धम्'—आज मैंने यह पाया 'इदं प्राप्स्ये'—कल यह पाऊंगा इत्यादि गणनाएं त्याज्य ही हैं। इसलिए हमें 'शिक्षण-मोह' से छूटना चाहिए। इस मोहसे जो छूटा उसे सर्वोत्तम शिक्षण मिला समझना चाहिए। मां बीमार है उसकी सेवा करनेसे मुझे खूब शिक्षण मिलेगा। पर इस शिक्षणके लोभसे मुझे माताकी सेवा नहीं करनी है। वह तो मेरा पवित्र कर्तव्य है इस भावनासे मुझे माताकी सेवा करनी चाहिए। अथवा माता बीमार है और उसकी सेवा करनेसे मेरी दूसरी चीज—जिसे मैं 'शिक्षण' समझता हूं वह—जाती है तो इस शिक्षणके नष्ट होनेके डरसे मुझे माताकी सेवा नहीं त्यागनी चाहिए।

प्राथमिक महत्त्वके जीवनोपयोगी परिश्रम को शिक्षणमें स्थान मिलना चाहिए। कुछ शिक्षणशास्त्रियोंका इसपर यह कहना है कि वे परिश्रम शिक्षणकी दृष्टिसे ही शामिल किये जायं पेट भरनेकी दृष्टिसे नहीं। आज 'पेट भरने' का बड़ा विकृत अर्थ प्रचलित है, उससे घबराकर यह कहा जाता है और उस हदतक वह ठीक है। पर मनुष्यको 'पेट' देनेमें ईश्वरका हेतु है। ईमानदारीसे 'पेट भरना' अगर मनुष्य जान ले तो समाजके बहुतेरे दुःख और पातक नष्ट हो ही जायं। इसीलिए मनुने 'योऽर्थेशुचिः स हि शुचिः'—जो आर्थिक दृष्टिसे शुचि है वही शुचि है यह यथार्थ उद्गार प्रकट किये हैं। 'अभ्यासविरोधेन' जैसे लिये इस शिक्षणके सारा शिक्षण गया जाता है। अविरोधवृत्तिसे शरीर-यात्रा चलाना मनुष्यका प्रथम कर्तव्य है। यह कर्तव्य करनेमें ही उसकी आध्यात्मिक उन्नति होगी। इसीसे शरीर यात्राके लिए उपयोगी परिश्रम करनेको ही शास्त्रकारोंने 'यज्ञ' नाम दिया है। 'उदर भरण नोहे जाणिजे यज्ञकर्म'—यह उदर-भरण नहीं है इसे यज्ञकर्म जान। वामन पंडित का यह वचन प्रसिद्ध है। अतः मैं शरीर-यात्राके लिए परिश्रम करता हूं यह भावना उचित है। शरीर यात्रामें सम्भव अपने साथ लोग हमारे शरीरकी यात्रा न चलाकर समाज

शरीरकी यात्रा यह उदार धर्म मनमें बैठना चाहिए। मेरी शरीर-यात्रा यानी समाजकी सेवा और इसीलिए ईश्वरकी पूजा इतना समीकरण दृढ़ होना चाहिए। और इस ईश्वर-सेवामें देह लगाना मेरा कर्तव्य है और वह मुझे करना चाहिए, यह भावना हरेकमें होनी चाहिए। इसलिए वह छोटे बच्चोंमें भी होनी चाहिए। इसके लिए उनकी शक्तिभर उन्हें जीवन के भार सेनेका मौका देना चाहिए और जीवनको मुख्य केंद्र बनाकर उसके आस-पास आवश्यकतानुसार ज्ञान सिखानेकी रचना करनी चाहिए।

इससे जीवनके दो खंड न होंगे। जीवनकी जिम्मेवारी अचानक आ पड़नेसे उत्पन्न होनेवाली घबराहट पैदा न होगी। अनायास शिक्षा मिलती रहेगी पर 'शिक्षणका मोह' नहीं चिपकेगा और निष्काम कर्मकी ओर प्रवृत्ति होगी।

३

कौटुम्बिक पाठशाला

विचारोंका प्रत्यक्ष जीवनसे नाता टूट जानेसे विचार निर्जीव हो जाते हैं और जीवन विचार-शून्य बन जाता है। मनुष्य घरमें जीता है और मदरसेमें विचार सीखता है, इसलिए जीवन और विचारका मेल नहीं बैठता। उपाय इसका यह है कि एक ओरसे घरमें मदरसेका प्रवेश होना चाहिए और दूसरी ओरसे मदरसेमें घर घुसना चाहिए। समाज-शास्त्रको चाहिए कि शालीन कुटुम्ब निर्माण करे और शिक्षण-शास्त्र को चाहिए कि कौटुम्बिक पाठशाला स्थापित करे।

आश्रम अथवा शिक्षकोंके घरको शिक्षाकी बुनियाद मानकर उसपर शिक्षणकी इमारत रचनेवाली शाला ही कौटुंबिक शाला है। ऐसे कौटुंबिक शालाके जीवनक्रमके संबंधमें—पाठ्यक्रमको अलग रखकर—कुछ सूचनाएं इस लेखमें करनी हैं। वे इस प्रकार हैं—

१ ईश्वर-निष्ठा संसारमें सार वस्तु है। इसलिए नित्यके कार्यक्रम

मे दोनों वेला सामुदायिक उपासना या प्रार्थना होनी चाहिए। प्रार्थनाका स्वरूप सर्व-धर्मोंकी सद्भावनासे ईश्वर-स्मरण होना चाहिए। उपासनामें एक भाग नित्यके किसी निश्चित पाठको देना चाहिए। 'सर्वेषामविरोधेन' यह नीति हो। एक प्रार्थना शामको सोनेके पहले होनी चाहिए और दूसरी सुबह सोकर उठनेपर।

२ आहार-शुद्धिका चित्त-शुद्धिसे निकट संबंध है, इसलिए आहार सात्त्विक रखना चाहिए। गरम मसाला, मिर्च, तले हुए पदार्थ, चीनी और दूसरे निषिद्ध पदार्थोंका त्याग करना चाहिए। दूध और दूधसे बने पदार्थोंका मर्यादित उपयोग करना चाहिए।

३ आश्रममें या दूसरे किसी रसोईघरमें रसोई नहीं बनवानी चाहिए। रसोईकी शिक्षा शिक्षाका एक अंग है। सार्वजनिक काम करनेवालेके लिए रसोईका ज्ञान जरूरी है। शिक्षक, प्रवासी, ब्रह्मचारी सबको यह आनी चाहिए। स्वावलम्बनका यह एक अंग है।

४ कौटुंबिक पाठशालाको अपने पाखानेका काम भी अपने हाथमें लेना चाहिए। अस्पृश्यता-निवारणका अर्थ किसीसे छूतछात न मानना ही नहीं, किसी भी समाजोपयोगी काममें नफरत न करना भी है। पाखाना साफ करना मनुष्यका काम है, यह भावना पक्की जमनी चाहिए। इसके अलावा स्वच्छताकी अच्छी तालीम भी इसमें है। इसमें सार्वजनिक स्वच्छता रखनेके ढंगका अभ्यास है।

५ अस्पृश्योंसहित सबको आदरसे स्थान मिलना चाहिए, यह तो है ही, पर 'कौटुंबिक' पाठशालामें पंक्ति-भेद रखना भी संभव नहीं। आहार-शुद्धिका नियम रहना काफी है।

६ स्नानादि प्रातःकर्म सबेरे ही कर डालनेका नियम होना चाहिए। स्वास्थ्य-भेदसे अपवाद रखा जा सकता है। स्नान ठंडे पानीसे करना चाहिए।

७ प्रातःकर्मोंकी तरह सोनेके पहलेके 'सायंकर्म' भी जरूर होने चाहिए। सोनेके पहले देह-शुद्धि आवश्यक है। इस सायंकर्मका पाठ शिक्षा और ब्रह्मचर्यके समान है। पुनः इसमें अलग-अलग सोनेका नियम होना चाहिए।

८ विद्यार्थी शिक्षाके अभ्यास उद्योगपर ज्यादा जोर देना चाहिए। कम-से-कम तीन घंटे तो उद्योगमें लगने ही चाहिए। इसके बिना अध्ययन तेजस्वी नहीं होनेका। 'कर्मातिशेषण' अर्थात् काम करके बचे हुए समयमें वेदाध्ययन करना श्रुतिका विधान है।

९. शरीरको तीन घंटे उद्योगमें लगाने और गृहकृत्य और स्वकृत्य स्वतः करनेका नियम रखनेके बाद दोनों समय व्यायाम करनेकी जरूरत नहीं है। फिर भी एक वेला अपनी-अपनी जरूरतके मुताबिक खुली हवामें घूमना या कोई विशेष व्यायाम करना उचित है।

१० कातनेको राष्ट्रीय धर्मकी भावनाकी खातिर नित्यकर्ममें गिनना चाहिए। उसके लिए उद्योगके समयके अलावा कम-से-कम आधा घंटा वक्त देना चाहिए। इस आधे घंटे में तकलीका उपयोग करनेसे भी काम चल जायगा। कातनेका नित्यकर्म यात्रामें या बीमारी में भी छोड़े बिना जारी रखना हो तो तकली ही उपयुक्त साधन है। इसलिए तकलीपर कातना तो आना ही चाहिए।

११ कपड़ेमें खादी ही बरतनी चाहिए। दूसरी चीजें भी जहाँतक संभव हो स्वदेशी ही लेनी चाहिए।

१२ सेवाके सिवा दूसरे किसी भी कामके लिए रातको जागना नहीं चाहिए। बीमार आदमीकी सेवा इसमें अपवाद है। पर मौजके लिए या ज्ञान-प्राप्तिके लिए भी रातका जागरण निषिद्ध है। नींदके लिए ढाई पहर रखने चाहिए।

१३ रातमें भोजन नहीं करना चाहिए। आरोग्य व्यवस्था और अहिंसा तीनों दृष्टियोंसे इस नियमकी आवश्यकता है।

१४ प्रचलित विषयोंमें संपूर्ण जागृति रखकर वातावरणको निर्मल रखना चाहिए।

अभ्यास अनुभवके आधारपर कौटुम्बिक शालाके जीवनक्रमके बारेमें ये चौदह सूचनाएँ की गई हैं। इनमें विद्यार्थी शिक्षा और औद्योगिक शिक्षाके पाठ्यक्रमके बारेमें ब्यौरा नहीं दिया गया है। राष्ट्रीय शिक्षाके विषयमें जिन्हें रस है वे इन सूचनाओंपर विचार करें।

४

राष्ट्रीय शिक्षकोंका दायित्व

एक वैद्यसेवाविद्यापीठीसे किसीने पूछा, "कहिये, अपनी समझमें आप क्या काम अच्छा कर सकते हैं?"

उसने उत्तर दिया, "मेरा खयाल है, मैं केवल सिखानेका काम कर सकता हूँ और उसीका शौक है।"

"यह तो ठीक है। अक्सर आदमीको जो आता है, अनायास उसका उसे शौक होता ही है। पर यह कहिये कि आप दूसरा कोई काम कर सकेंगे या नहीं?"

"जी नहीं। दूसरा कोई काम नहीं करना आयेगा। सिर्फ सिखा सकूँगा और विश्वास है कि यह काम तो अच्छा कर सकूँगा।"

"हाँ-हाँ, अच्छा सिखानेमें क्या शक है, पर अच्छा क्या सिखा सकते हैं? कातना, धुनना, बुनना अच्छा सिखा सकेंगे?"

"नहीं, यह नहीं सिखा सकता।"

"तब सिलाई? रंगाई? बढ़ईगिरी?"

"न, यह कुछ भी नहीं।"

"रसोई बनाना, पीसना वगैरा घरेलू काम सिखा सकेंगे?"

"नहीं, कामके नामसे तो मैंने कुछ किया ही नहीं, मैं केवल सिखाना…"

"भाई, जो पूछा जाता है, उसमें 'नहीं', 'नहीं' कहते हो और कहे जाते हो 'केवल सिखानेका काम कर सकता हूँ।' इसके मानी क्या हैं? आखिर क्या सिखा सकियेगा?"

वैद्यसेवाविद्यापीठीने जरा चिढ़कर कहा, "आप क्या पूछ रहे हैं? मैंने पुस्तक पढ़ना-पढ़ाना सीखा, कुछ दूसरा कोई काम करना नहीं आता। मैं साहित्य पढ़ा सकता हूँ।"

प्रश्नकर्ताने उस जवाबसे कहा, "ठीक कहा। अबकी आपकी बात कुछ तो समझमें आई! आप 'रामचरितमानस' जैसी पुस्तक सिखला सकते हैं?"

अब तो देशसेवाभिमानी महाशयका पारा गरम हो उठा और मुझसे कुछ ऊटपटांग निकलनेको ही था कि प्रश्नकर्ता बीचमें ही बोल उठा 'शांति क्षमा तितिक्षा रखना सिखा सकेंगे ?

अब तो हद होगई। मानो जैसे मिट्टीका तेल डाल दिया हो। यह प्रहार खूब जोरसे समझता लेकिन प्रश्नकर्ताने तुरंत उसे पानी डालकर बुझा दिया—"मैं आपकी बात समझा। आप लिखना-पढ़ना आदि सिखा सकेंगे और इसका भी जीवनमें थोड़ा-सा उपयोग है बिलकुल न हो ऐसा नहीं है। और आप बुनाई सीखनेको तैयार हैं ?

"अब कोई नई चीज सीखनेका हौसला नहीं है और तिसपर बुनाईका काम तो मुझे आनेका ही नहीं क्योंकि आजतक हाथको ऐसी कोई आदत ही नहीं।

"माना इस कारण सीखनेमें कुछ ज्यादा वक्त लगेगा लेकिन इसमें न आनेकी क्या बात है ?

"मैं तो समझता हूं नहीं ही आयेगा। पर मान लीजिए बड़ी मेहनतसे आया भी तो मुझे इसमें बड़ा झंझट मालूम होता है। इसलिए मुझसे यह नहीं होगा यही समझिये।

"ठीक जैसे लिखना सिखानेको तैयार हैं वैसे खुद सिलनेका काम कर सकते हैं ?

"हां जरूर कर सकता हूं। लेकिन सिर्फ बैठे-बैठे सिलाई करनेका काम भी है झंझटी फिर भी उसके करनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

यह बातचीत यहीं समाप्त हुई। नतीजा इसपर क्या हुआ यह बतानेकी हमें जरूरत नहीं।

शिक्षकोंकी मनोवृत्ति समझनेके लिए यह बातचीत काफी है। शिक्षक यानी—

शिक्षा मदरसेकी भी जीवनोपयोगी शिक्षासे शून्य

कोई नई कामकी चीज सीखनेमें स्वभावतः असमर्थ हो गया है

विद्यार्थीमात्रके लड़केके लिए अपनाया हुआ

सिर्फ दिमाग या कलम चलानेवाला पुस्तकोंसे पढ़ा हुआ आलसी जीव

'सिर्फ शिक्षण' का मतलब है जीवनसे तोड़कर चिपकाया हुआ मुर्दा शिक्षण और शिक्षणके मानी 'मृत-जीवी' मनुष्य।

'मृत-जीवी' को ही कोई-कोई बुद्धि-जीवी कहते हैं। पर यह है वाणीका व्यभिचार। बुद्धि-जीवी कौन है? कोई गौतम बुद्ध, कोई सुकरात, शंकराचार्य अथवा ज्ञानेश्वर बुद्धि-जीवनकी ज्योति जलाकर दिखाते हैं। 'गीता' में बुद्धि-ग्राह्य जीवनका अर्थ अतीन्द्रिय जीवन बतलाया है। जो इन्द्रियोंका गुलाम है, या देहासक्तिका मारा हुआ है, वह बुद्धि-जीवी नहीं है। बुद्धिका पति आत्मा है। उसे छोड़कर जो बुद्धि देहके हाथकी दासी हो गई वह बुद्धि व्यभिचारिणी बुद्धि है। ऐसी व्यभिचारिणी बुद्धिका जीवन ही मरण है। और उसे जीनेवाला मृत-जीवी। सिर्फ शिक्षणपर जीनेवाले जीव विशेष प्रसंग मृत जीवी हैं। सिर्फ शिक्षणपर जीनेवालोंको मनुने 'भृतकाध्यापक' एवं 'वेतन-भोगी शिक्षक' नाम देकर श्राद्धके कामसे इनका निषेध किया है। ठीक ही है। श्राद्धमें तो मृत पूर्वजोंकी स्मृतिको जिंदा करना रहता है और जिन्होंने प्रत्यक्ष जीवनको मृत कर दिखाया है, उनका इस काममें क्या उपयोग?

शिक्षकोंको पहले आचार्य कहा जाता था। आचार्य अर्थात् आचारवान्। स्वयं आदर्श जीवनका आचरण करते हुए राष्ट्रसे उसका आचरण करा लेनेवाला आचार्य है। ऐसे आचार्योंके पुरुषार्थसे ही राष्ट्रका निर्माण हुआ है। आज हिन्दुस्तानकी नई तह बैठती है। राष्ट्र-निर्माणका काम आज हमारे सामने है। आचारवान् शिक्षकोंके बिना वह संभव नहीं है।

इसी से राष्ट्रीय शिक्षणका प्रश्न सबसे महत्त्वपूर्ण है। उसकी व्याख्या और व्याप्ति हमें अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। राष्ट्रका सुविहित सर्व निर्मल और निश्चित होता जा रहा है। इसका उपाय राष्ट्रीय शिक्षणकी आग सुलगाना ही है।

पर वह अग्नि होनी चाहिए। अग्निकी दो शक्तियाँ मानी गई हैं। एक 'स्वाहा' और दूसरी 'स्वधा'। ये दोनों शक्तियाँ जहाँ हैं वहाँ अग्नि है। 'स्वाहा' के मानी हैं आत्माहुति देनेकी आत्मत्यागकी शक्ति और 'स्वधा' के मानी हैं आत्म-धारणकी शक्ति। ये दोनों शक्तियाँ राष्ट्र-शिक्षणमें व्यापक

होनी चाहिए। इन शक्तियोंके होनेपर ही वह राष्ट्रीय शिक्षक कह लायेगा। बाकी सब मृत—निर्जीव—है, कोरा शिक्षण।

ऊपर ऊपरसे दिखाई देता है कि अबतक हमारे राष्ट्रीय शिक्षकोंने बड़ा आत्मत्याग किया है पर वह उतना सही नहीं है। फुटकर स्वार्थ-त्याग अथवा गर्भित त्यागके मानी आत्मत्याग नहीं है। उसकी कसौटी भी है। जहां आत्मत्यागकी शक्ति होगी वहां आत्मधारणकी शक्ति भी होती है। न हुई तो त्याग कोई क्यों करेगा? जो आत्मा अपनेको पकड़ ही नहीं रख सकता वह छोड़ेगा कैसे? मतलब आत्मत्यागकी शक्तिमें आत्मधारण पहलेसे शामिल ही है। यह आत्मधारणकी शक्ति 'स्वधा' राष्ट्रीय शिक्षकोंने अभीतक सिद्ध नहीं की है। इसलिए आत्मत्याग करनेका जो आभास हुआ वह आभास मात्र ही है।

पहले स्वधा होगी उसके बाद स्वाहा। राष्ट्रीय शिक्षण को अर्थात् राष्ट्रीय शिक्षकोंको अब स्वधा-धारणकी तैयारी करनी चाहिए।

शिक्षकोंको केवल शिक्षण की व्यापक कल्पना छोड़कर स्वतंत्र जीवन की जिम्मेदारी—जैसी विद्यार्थियोंपर होती है वैसी—अपने ऊपर लेनी चाहिए और विद्यार्थियोंको भी उसीमें दायित्वपूर्ण भाग देकर उनके चारों ओर शिक्षणकी रचना करनी चाहिए, अथवा अपने-आप होने देनी चाहिए। 'गुरोः कर्मातिशेषेण' इस वाक्यका अर्थ 'गुरुके काम पूरे करके वेदाभ्यास करना' यही ठीक है। नहीं तो गुरुकी व्यक्तिगत सेवा—इतना ही अगर 'गुरोः कर्म' का अर्थ लें तो गुरुकी सेवा आखिर कितनी होगी? और उसके लिए कितने लड़कोंका कितना काम करनेको रहेगा? इसलिए 'गुरोः कर्म' करनेके मानी हैं गुरुके जीवन व जिम्मेदारी में हिस्सा लेना। ऐसा दायित्वपूर्ण भाग लेकर उसमें जो सवाल अथवा पैदा हों उन्हें अपनी बुद्धि और गुरुको भी चाहिए कि उनके जीवनकी जिम्मेदारी निबाहते हुए और परीक्षा एवं सब समझकर उसका यथोचित उत्तर दिया जाय। यह शिक्षणका स्वरूप है। इसीमें थोड़ा स्वतंत्र समय प्रार्थना-स्वरूप वेदाभ्यासके लिए रखना चाहिए। प्रत्येक कर्म ईश्वर की उपासनारूप ही हो पर ऐसा करके भी कुछ इस थोड़ा समय उपासनाके लिए देना पड़ता है। यही न्याय वेदाभ्यास अथवा शिक्षणपर लागू करना चाहिए। मतलब जीवनकी

जिम्मेदारीके काम ही शिक्षणके मुख्य साधन करने चाहिए और उन सभीको शिक्षणका ही काम समझना चाहिए। साथ ही रोज एक-दो घंटे (period) 'शिक्षणके निमित्त' भी देना चाहिए।

राष्ट्रीय जीवन कैसा होना चाहिए, इसका आदर्श अपने जीवन में उतारना राष्ट्रीय शिक्षकका कर्तव्य है। यह कर्तव्य करते रहनेसे उसके जीवनमें अपने आप उसके आस-पास शिक्षाकी किरणें फैलेंगी और उन किरणोंके प्रकाशसे आस-पासके वातावरणका काम अपने-आप हो जायगा। इस प्रकारका शिक्षक स्वतः सिद्ध शिक्षण-केंद्र है और उसके समीप रहना ही शिक्षा पाना है।

मनुष्यको पवित्र जीवन बितानेकी फिक्र करनी चाहिए। शिक्षणकी जवाबदारी रखनेके लिए वह जीवन ही समर्थ है। उसके लिए 'पेशेवर शिक्षक' की हस्ती रखनेकी जरूरत नहीं।

५

तेजस्वी विद्या

जब मैं अपनेको विद्यार्थियोंमें पाता हूं तो मुझे बहुत खुशी होती है। इसका कारण यह है कि आपकी और मेरी जाति एक है। आप विद्यार्थी हैं और मैं भी विद्यार्थी हूं। हर रोज कुछ-न-कुछ नया ज्ञान हासिल कर ही लेता हूं।

युनिवर्सिटीमें रहकर आप जान कुछ ज्ञान कमाते हैं और समझते हैं कि यह ज्ञान आपको अपने भावी जीवनमें काम पहुंचायेगा। वास्तवमें जहां युनिवर्सिटीका ज्ञान खतम होता है वहां शिक्षाका आरंभ होता है। युनिवर्सिटीका अध्ययन पूरा करनेका अर्थ इतना ही है कि अब आप अपने प्रयत्नसे विद्या प्राप्त कर सकते हैं। आप विद्याधार बनें निराधार न रहें।

आप बाल्यावस्थामें हैं। ज्ञान-शक्ति आपको प्राप्त है। बालक तो वह होता है जो बलवान् है, जो मानता है कि यह सारी दुनिया मेरे हाथके

मिट्टी-जैसी है, उसकी जो भी चीज़ मैं बनाना चाहूंगा बना लूंगा। सारांश यह कि आपको अपनी बुद्धि स्वतन्त्र रखनी चाहिए।

विद्यार्थियोंके बारेमें मेरी यह शिकायत है कि उन्हें स्वतन्त्रतापूर्वक किसी बातपर सोचने ही नहीं दिया जाता। आजतक हर हुकूमत (स्टेट) की यह कोशिश रही है कि बने-बनाये विचार विद्यार्थियोंके दिमागमें ठूंस दिये जायं फिर चाहे वह स्टेट सोशलिस्ट (समाजवादी) हो कम्यु निस्ट (साम्यवादी) या कम्यूनलिस्ट (साम्प्रदायिकतावादी) हो या और भी कोई इस्ट या अनिस्ट हो। लेकिन यह तरीका गलत है। एक ज़माना था जब हमारे गुरु विद्यार्थियोंको पूरा विचार-स्वातन्त्र्य देते थे। वे अपने शिष्योंसे कहते कि हमारे दोषोंका नहीं अच्छी बातोंका ही अनुकरण करो। गुरुको तो अपने उस शिष्यपर अभिमान होना चाहिए, जो सोच-समझकर विचारपूर्वक गुरुकी बातको माननेसे इन्कार कर देता है। आजकल तो जो पढ़ाता है अपनी ही बात मनवाना चाहता है। विद्यार्थियोंके लिए यह एक बहुत बड़ा खतरा है। मानो ये लोग विद्यार्थियों-का यन्त्रीकरण ही करना चाहते हैं। आपको ऐसे किसी यन्त्रका पुर्जा नहीं बनना चाहिए। आपको मन्त्र बनना है यन्त्र नहीं बनना है। मन्त्र वह है जो मननसे उत्पन्न होता है और यन्त्र वह है जो किसी बने-बनाये ढांचेपर चलाया जाता है। आप लोग अलग अलग यूनियनें बनाते हैं। इन यूनियनोंमें रहनेके लिए एक खास विचार प्रणालीका अनुसरण जरूरी होता है? मैं आपसे पूछता हूं, पैरोंका कभी कोई यूनियन बनता है क्या? यूनियन तो पेटोंका बनता है। मेरा मतलब यह नहीं कि इन्सान आपसमें सहकार ही नहीं करता है। अच्छी बातोंमें सहकार जरूर करना है। लेकिन विचारोंका स्वातन्त्र्य रखना है और सत्य खोजनेके लिए उसमें आवश्यक परिवर्तन करनेको सदा तैयार रहना है। इसे ही रेशनलिस्ट कहते हैं और आजकल इसकी कदर नहीं की जाती है।

आजकल हम के लिए एक और जरूरी बात है संयम। मैं कहता हूं। वे तो इस बारी दुनियाका है। उसपर पैर काबू होना चाहिए। विद्यार्थी अवस्थामें आपको अपनी महान् विद्या सीख लेनी है। जब आप

संयमकी शक्तिका संग्रह कर लेंगे तो एकाग्रता भी जो जीवनकी एक महान् शक्ति है, पा लेंगे।

आप बांध और पानीका भेद समझें। आज सारी दुनियाके विद्यार्थियोंके लिए छूट होनी चाहिए। उनको सर्व-प्रकारकी पूरी आजादी होनी चाहिए। लेकिन पानी तो नियत मार्गपर चलना चाहिए। तभी प्रवाह होगा। बारिशका सारा पानी जगह-जगह बिखरनेमें यहाँ-वहाँ बह जाय तो नदी नहीं बनेगी। नदी बननेके लिए नियत किनारा चाहिए। संयम की शक्ति इस दृष्टान्तसे समझ लीजियेगा।

एक बार मुझे विद्यार्थियोंके 'उत्तम उत्साही मण्डल' में जाना पड़ा। मैंने कहा कि उत्साही मण्डल तो बूढ़ोंके होने चाहिए। जिस शब्दको अपने विद्यार्थियोंको उत्साहित करनेकी जरूरत पड़ती है, वह शब्द तो काल ही हुआ समझिये। तरुणोंको धृतिकी आवश्यकता है। उसीसे उत्साह टिकता और कारगर होता है। जैसे गीताने कहा है कि धृति और उत्साह मिलकर कर्मयोग बनता है। आपको कर्मयोगी बनना है।

एक सवाल हर वक्त पूछा जाता है कि विद्यार्थियोंको राजनीतिमें भाग लेना चाहिए या नहीं। विद्यार्थियोंको राजनीतिमें प्रवीण बनना है। हर शासन उनको ध्यानमें रखकर अपनी नीति निश्चित करती है। राजनीतिमें विद्यार्थी साक्षी और मध्यस्थ बनकर रहें। हम मध्यस्थ उसे कहते हैं, जिसकी आंख सारी दुनियापर रहती है। विद्यार्थी-दशामें आप जीवन से सम्बन्धित सारे प्रश्नोंपर तटस्थकी भूमिकासे निरीक्षण-परीक्षण करते रहें और अपने निर्णय बनाते रहें। समय आनेपर उसपर अमल करें।

कर्मयोगी बननेके लिए विद्यार्थियोंको कुछ-न-कुछ निर्माण-कार्य करते रहना चाहिए। निर्माणके बिना निश्चयात्मक ज्ञान भी नहीं होता। प्रयोगसे प्राप्त ज्ञान ही निश्चयात्मक ज्ञान होता है। मैं विद्यार्थियोंसे पूछता हूँ "आप लोग रोटी बनाना जानते हैं?" वे कहते हैं, "नहीं हम तो सिर्फ खाना जानते हैं। रोटी पकाना तो लड़कियोंका काम है।" रोटी पकाना अगर लड़कियोंका काम है तो रोटी खाना भी लड़कियोंका ही काम रहने दीजिये। अपने लिए 'आमरण भोजन' रख लीजिये। जिन लोगोंने लड़कियों और लड़कोंके

कार्योंको इस तरह विभाजित किया उन्होंने दोनोंको गुलाम बनानेका तरीका ढूंढ निकाला है और मानवको पुरुषार्थ-हीन बनाया है।

श्रीकृष्ण बचपनमें हाथोंसे काम करता था मेहनत-मजदूरी करता था। इसीलिए गीतामें उनकी स्वतन्त्र प्रतिभाका दर्शन हमें होता है। हमें ढेर-की ढेर विद्या हासिल नहीं करनी है। तेजस्वी विद्या हासिल करनी है। जिस विद्यामें कर्तृत्व-शक्ति नहीं स्वतंत्र रूपसे सोचनेकी बुद्धि नहीं जगाने उठानेकी वृत्ति नहीं वह विद्या निस्तेज है। मैं चाहता हूं कि आप सब तेजस्वी विद्या प्राप्त करनेकी वृत्ति रखें।

६

नई शिक्षा प्रणालीका आधार

'ब्रेड लेबर' के मानी हैं 'रोटीके लिए मजदूरी'। यह शब्द आपमेंसे कई लोगोंने नया ही सुना होगा। लेकिन यह नया नहीं है। टॉल्स्टॉयने इस शब्दका उपयोग किया है। उन्होंने भी यह शब्द बाउंड्रेफ नामक एक लेखकके निबन्धोंसे लिया और अपनी उत्तम निबन्ध-शैली द्वारा उसको दुनियाके सामने रख दिया। इस विषयपर विचार ही नहीं बल्कि वैसा ही आचार करनेकी कोशिश भी मैं आज सालोंसे करता आ रहा हूं क्योंकि जीवनमें और खास-कर शिक्षणमें भी शरीर-श्रमको मैं प्रथम स्थान देता हूं।

हम जानते हैं कि हिन्दुस्तानकी आबादी पैंतीस करोड़ है और चीनकी चालीस-पैंतालीस करोड़। ये दोनों राष्ट्र प्राचीन हैं। इन दोनोंको मिला लिया जाय तो कुल आबादीकी आधी करीब हो जाती है। इतनी जनसंख्या दुनियाका सबसे बड़ा और महत्त्वका हिस्सा हो जाता है। और यह भी हम जानते हैं कि यही दोनों देश आज दुनियामें सबसे ज्यादा दुःखी पीड़ित और दीन हैं। इसका कारण यह है कि इन दोनों मुल्कोंने दुनियाके जो आदर्श अपने सामने रखा था उसका पूरा अनुसरण उन्होंने नहीं किया और बादके

उन्होंने उस वृत्तिको कभी स्वीकार ही नहीं किया। मेरे कहने का मतलब यह है कि हिंदुस्तानमें शरीर-श्रमको जीवनमें प्रथम स्थान दिया गया था और उसके साथ यह भी निश्चित किया गया था कि वह परिश्रम चाहे जिस प्रकार का हो कातनेका हो बढ़ईका हो रसोई बनानेका हो उसका मूल्य एक ही है। भगवद्गीता मे यह बात साफ शब्दोंमें लिखी है। ब्राह्मण हो क्षत्रिय हो वैश्य हो या शूद्र हो किसीको चाहे जितना छोटा या बड़ा काम मिला हो मगर उसने उस कामको अच्छी तरह किया है तो उस व्यक्तिको संपूर्ण मोक्ष मिल जाता है। अब उसने अधिक कुछ करना बाकी नहीं रह जाता। मतलब यह है कि हरेक उपयुक्त परिश्रमका नैतिक सामाजिक और आर्थिक मूल्य एक ही है। इस प्राचीन धर्मका आचरण तो हमने किया नहीं पर एक बड़ा भारी शूद्रवर्ण निर्माण कर दिया। शूद्रवर्ण यानी मजदूरी करनेवाला वर्ग। यहां जितना बड़ा शूद्रवर्ग है, उतना बड़ा शायद ही किसी दूसरी जगह हो। हमने उससे अधिक-से-अधिक मजदूरी करवाई और उसको कम-से-कम खानेको दिया। उसका सामाजिक दर्जा हीन समझा। उसे कुछ भी शिक्षा नहीं दी। इतना ही नहीं उसे अछूत भी बना दिया। नतीजा यह हुआ कि कारीगरवर्गमें ज्ञानका पूरा अभाव हो गया। वह पशुके समान केवल मजदूरी ही करता रहा।

प्राचीन कालमे हमारे यहां कला कम नहीं थी। लेकिन पूर्वजोंसे मिलने वाली कला एक बात है और उसमें दिन-प्रतिदिन प्रगति करना दूसरी बात। आज भी काफी प्राचीन कारीगरी मौजूद है। उसको देखकर हमें आश्चर्य होता है। अपनी प्राचीन कलाको देखकर हमें आश्चर्य होता है यही सबसे बड़ा आश्चर्य है! आश्चर्य करनेका प्रसंग हमारे सामने क्यों आना चाहिए? उन्हीं पूर्वजोंकी तो हम सन्तान हैं न? तब तो उनसे बढ़कर हमारी कला होनी चाहिए। लेकिन आज आश्चर्य करनेके सिवा हमारे हाथमें और कुछ नहीं रहा। यह कैसे हुआ? कारीगरोंमें ज्ञानका अभाव और ज्ञानमें परिश्रम-प्रतिष्ठाका अभाव ही इसका कारण है।

प्राचीन कालमें ब्राह्मण और शूद्रकी समान प्रतिष्ठा थी। जो ब्राह्मण था वह विचार-प्रवर्तक तत्त्वज्ञानी और तपश्चर्या करनेवाला था। जो किसान था वह ईमानदारीसे अपनी मजदूरी करता था। प्रात काल उठकर

भगवान्का स्मरण करके सूर्यनारायणके उदयके साथ खेतमें काम करने लग जाता था और सायंकाल सूर्य भगवान् जब अपनी किरणों को समेट लेते तब उनको नमस्कार करके घर वापस आता था। ब्राह्मण और इस किसानमें कुछ भी सामाजिक धार्मिक या नैतिक भेद नहीं माना जाता था।

हम जानते हैं कि पुराने ब्राह्मण 'उदर-पात्र' होते थे यानी उतना ही संचय करते थे जितना कि पेटमें समाता था। यहांतक उनका अपरिग्रही आचरण था। आजकी भाषामें कहना हो तो ज्यादा-से-ज्यादा काम देते थे और बदलेमें कम-से-कम वेतन लेते थे। यह बात प्राचीन इतिहाससे हम जान सकते हैं। लेकिन बादमें ऊंच-नीचका भेद पैदा हो गया। कम-से-कम मजदूरी करनेवाला ऊंची श्रेणीका और हर तरहकी मजदूरी करनेवाला नीची श्रेणीका माना गया। उसकी योग्यता कम उसे खानेके लिए कम और उसकी प्रगति ज्ञान प्राप्त करनेकी व्यवस्था भी कम।

प्राचीनकालमें न्यायशास्त्र व्याकरणशास्त्र वेदान्तशास्त्र इत्यादि शास्त्रोंके अध्ययनका जिक्र हम सुनते हैं। गणितशास्त्र वैद्यकशास्त्र ज्योतिष शास्त्र इत्यादि शास्त्रोंकी पाठशालाओंका जिक्र भी आता है। लेकिन उद्योगशालाओंका उल्लेख कहीं नहीं आता है। इसका कारण यह है कि हम वर्णाश्रमधर्म माननेवाले थे इसलिए हरेक जातिका धंधा उस जातिके लोगोंके घरमें चलता था और इस तरह हरेक घर उद्योगशाला था। कुम्हार हो या बढ़ई उसके घर में बच्चोंको बचपनसे ही उस धंधेकी शिक्षा अपने पितासे मिल जाती थी। इसके लिए अलग प्रबंध करनेकी आवश्यकता न थी। लेकिन बादमें क्या हुआ कि एक ओर हमने यह मान लिया कि शिक्षा ही पढ़ना पुस्तकोंसे करना चाहिए और दूसरी ओर बाहरसे आया हुआ माल सस्ता मिलने लगा इसलिए उसीको खरीदने लगे। मुझे कभी-कभी ऐसे भाइयोंसे बातचीत करनेका मौका मिल जाता है। मैं उनसे कहता हूँ कि वर्णाश्रम-धर्म नष्ट हो रहा है इसका अगर आपको दुःख है तो कम-से-कम स्वदेशी वर्णाश्रम तो पालन कीजिये। कुम्हारसे तो मैं कहूँगा कि अपने बापदादा जैसा बरतन बनाना तुम्हारा धर्म है लेकिन उसका बनाया हुआ बरतन मैं नहीं खरीदूँगा तो वर्णाश्रम-धर्म कैसे टिक सकता है? हमारी इस गलत उदार नीति और उदारताके साथ उदासीनता भी गई। इसका

कारण यह है कि हमने शरीर-श्रमको गौण मान लिया। जो आदमी कम-से-कम परिश्रम करता है वही आज सबसे अधिक बुद्धिमान और नीतिमान् माना जाता है।

किसीने कहा, "अब विनोबाजी किसान-जैसे दीखते हैं।" तो दूसरेने कहा, "लेकिन जबतक उनकी धोती सफेद है तबतक वह पूरे किसान नहीं हैं।" इस वचनमें एक मर्म था। खेती और स्वच्छ दोनोंकी मुलाकात है, इस कल्पनामें दम है। जो अपनेको ऊपरकी श्रेणीवाले समझते हैं उनको यह अभिमान होता है कि हम बड़े साफ रहते हैं, हमारे कपड़े बिल्कुल सफेद बगलेके पर जैसे होते हैं। लेकिन उनका यह सफाईका अभिमान मिथ्या और कृत्रिम है। उनके शरीरकी डाक्टरी जांच—मैं मानसिक जांचकी तो बात ही छोड़ देता हूं—की जाय और हमारे परिश्रम करनेवाले मजदूरोंके शरीरकी भी जांच की जाय और दोनों परीक्षाओंकी रिपोर्ट डाक्टर पेश करके कह दे कि कौन ज्यादा साफ है। हम भीतरसे साफ हैं या बाहरसे। उसमें अपना मुंह देख लीजिये। लेकिन अंदरसे हमें समझनेकी जरूरत ही नहीं जान पड़ती। हमारे लिए अन्दरकी अहम्मियत ही नहीं होती। हमारी स्वच्छता केवल बाहरी और दिखावटी होती है। हमें शर्म होती है कि खेतीकी मिट्टीमें काम करनेवाला किसान कैसे साफ रह सकता है। लेकिन मिट्टीमें या खेतमें काम करनेवाले किसानके कपड़े पर मिट्टीका रंग लगता है, वह मैल नहीं है। सफेद कमीजके बदले किसी ने लाल कमीज पहन लिया तो उसे रंगीन कपड़ा समझते हैं। वैसेही मिट्टी-का भी एक प्रकारका रंग होता है। रंग और मैलमें काफी फर्क है। मैलमें बदबू होती है, पसीना होता है, उसकी बदबू आती है। मृत्तिका तो 'पुण्यगन्ध' होती है। गीतामें लिखा है, 'पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च'। मिट्टीका शरीर है, मिट्टीमें ही मिल जाता है। उसी मिट्टीका रंग किसानके कपड़ेपर है। तब वह मैला कैसे हुआ।

अपनी उच्चारण पद्धतिका भी हमें ऐसा ही मिथ्या अभिमान है। देहाती लोग जो उच्चारण करते हैं उसे हम अशुद्ध मानते हैं। लेकिन पाणिनि-का कहना है कि साधारण जनता जो वाणी बोलती है वही व्याकरण है। तुलसीदासजीने रामायण ग्राम भाषामें लिख दिया। वह जानते थे कि देहाती

लोग 'ष' 'श' और 'स' के उच्चारणमें फर्क नहीं करते । आम लोगोंकी जबानमें लिखनेके लिए उन्होंने रामायण में सब जगह 'स' ही लिखा । वह धन्य हो गये । उनको तो आम लोगोंको रामायण सिखानी थी तो फिर उच्चारण भी उन्हींका होना चाहिए ।

हममेंसे कोई गीतापाठ, भजन और जप करता है या कोई उपनिषद् कंठ कर लेता है तो वह बड़ा भारी महात्मा बन जाता है । जप तथा पूजा-पाठ ही धर्म माना जाता है । लेकिन सत्य परिश्रममें हमारी श्रद्धा नहीं होती । जो धर्म बेकार, निकम्मा अनुत्पादक हो उसीको हम सच्चा धर्म मानते हैं । जिससे पैदावार होती है वह सच्चा धर्म कैसे हो सकता है ? भक्ति और उत्पत्तिका भी कहीं मेल हो सकता है ? लेकिन वेद मन्त्रमें हम पढ़ते हैं "विश्वकी उत्पत्ति करनेवालोंके गुणगान करो । उसने विश्वकी सृष्टिका रास्ता दिया उसका अनुसरण करो ।" लेकिन हमारी साधुकी कल्पना इससे उलटी है । एक ब्राह्मण खेतमें जोतनेका काम कर रहा है या हल चला रहा है ऐसी तस्वीर अगर किसीने खींच दी तो वह तस्वीर खींचनेवाला पागल समझा जायगा । "क्या ब्राह्मण भी मजदूरके जैसा काम कर सकता है ?" यह सवाल हमारे यहाँ उठ सकता है । "क्या तपस्वी का भी करना है ?" यह सवाल नहीं उठता । वह पढ़नेसे पाप लगता है । ब्राह्मणको खिलाना ही तो हम अपना धर्म समझते हैं उसीको पुण्य मानते हैं ।

हिन्दुस्तान की संस्कृति इस तरह गिर गई इसी कारण बाहरके लोगोंने इन ऊपरी लोगोंको हटाकर हिन्दुस्तानको जीत लिया । बाहरके लोगोंने आक्रमण क्यों किया ? संपत्तिसे फायदा उठानेके लिए । इसीलिए उन्होंने बड़े-बड़े मशीनोंकी खोज की । शरीर-श्रम कम-से-कम करके बचे हुए समयके भोग और आराम करनेकी उनकी दृष्टि है । इसका नतीजा आज यह हुआ है कि हरेक राष्ट्र अब मशीनोंका उपयोग करने लग गया है । यहाँ मशीन जितना लिखाजी उनकी हुकूमत नहीं चली बल्कि दूसरोंके पास मशीन नहीं थी । मशीनसे संपत्ति और युद्ध तभी तक जिता जबतक दूसरोंने मशीनका उपयोग नहीं किया था । हरेकके पास मशीन आ जानेपर ताकत कम हो गई ।

आज यूरोप एक बड़ा 'चिड़ियाखाना' ही बन गया है। जानवरोंकी तरह हरेक अपने अलग-अलग पिंजड़ेमें पड़ा है और पड़ा-पड़ा सोच रहा है कि एक-दूसरेको कैसे खा जाऊं, क्योंकि वह अपने हाथोंसे कोई काम करना नहीं चाहता। हमारे सुधारक लोग कहते हैं — हाथोंसे काम करना बड़ा भारी कष्ट है, उससे किसी-न-किसी तरकीबसे छूट सकें तो बड़ा अच्छा हो। अगर दो घंटे काम करके पेट भर सकें तो तीन घंटे क्यों करें? अगर चार घंटे काम करेंगे तो कब साहित्य पढ़ेंगे और कब संगीत होगा? कलाके लिए वक्त ही नहीं बचता।

भर्तृहरिने लिखा है "साहित्यसंगीत कलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः" — जो साहित्य-संगीत-कलासे विहीन है वह बिना पुच्छविषाण (पूंछ और सींग) का पशु है। मैं कहता हूं — ठीक है साहित्य संगीत-कला विहीन अगर पुच्छविषाणहीन पशु है, तो साहित्य-संगीत कलावाला पुच्छविषाणवाला पशु है। भर्तृहरिके लिखनेका मतलब क्या था वह तो मैं नहीं जानता लेकिन उसपरसे मुझे यह अर्थ सूझ गया। दूसरे एक पंडितने लिखा है "काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्" — बुद्धिमान् लोगोंका समय काव्य-शास्त्र विनोदमें कटता है। मानो उनका समय कटता ही नहीं मानो वह उन्हें खानेके लिए उनके दरवाजेपर खड़ा है। काल तो खाने ही वाला है। उसके खानेकी चिंता क्यों करते हो? वह सार्थक कैसे होगा यह देखो। शरीर-श्रमको दुःख क्यों मान लिया है यही मेरी समझमें नहीं आता। आनन्द और सुखका जो साधन है उसीको कष्ट माना जाता है।

एक अमरीकन श्रीमान्‌से किसीने पूछा 'दुनियामें सबसे अधिक बलवान कौन है?' उसने जवाब दिया "जिसकी पाचनेंद्रिय अच्छी है, वह।" उसका कहना ठीक है। संपत्ति खूब पड़ी है। लेकिन खून भी हजम करनेकी ताकत जिसमें नहीं है उसको उस संपत्तिसे क्या लाभ? और पाचनेंद्रिय कैसे मजबूत होगी? काव्यशास्त्रसे तो 'कालो गच्छति'। उससे पाचनेंद्रिय थोड़े ही मजबूत होनेवाली है। पाचनेंद्रिय तो व्यायामसे परिश्रमसे मजबूत होती है। लेकिन आजकल व्यायाम भी एक फैशन निकला है। मैंने एक किताब देखी— 'फिफ्टीन मिनिट्स एक्सरसाइज'।

ऐसे व्यायामसे दीर्घायुषी बनेंगे या अल्पायुषी इसकी चिन्ता ही नहीं होती। सैंडो भी जल्दी ही मर गया। इन लोगोंने व्यायामका शास्त्र भी हिंसक बना रखा है। तीन मिनटमें एकदम व्यायाम हो जाना चाहिए। जल्दी-से जल्दी उससे निपटकर काव्यशास्त्रमें कैसे लग जायं यही फिक्र है। थोड़े ही समयमें एकदम व्यायाम करनेकी जो पद्धति है उससे स्नायु बनते हैं, नसें नहीं बनतीं। और अमरबेल जिस प्रकार पत्तोंको खा जाती है वैसे ही स्नायु आरोग्यको खा जाते हैं। नसें आरोग्यको बढ़ाती हैं। धीरे-धीरे और सतत जो व्यायाम मिलता है उससे नसें बनती हैं और पाचनेंद्रिय मजबूत होती है। चौबीस घण्टे हम लगातार हवा लेते हैं लेकिन अगर हम यह सोचने लगें कि दिनभर हवा लेनेकी यह तकलीफ क्यों उठायें दो घण्टेमें ही दिनभरकी पूरी हवा मिल जाय तो अच्छा हो तो यही कहना पड़ेगा कि हमारी संस्कृति आखिरी स्टेशन पहुंच गई है। हमारा दिमाग इसी तरहसे चलता है। पढ़ते-पढ़ते आंख बिगड़ जाती है तो हम ऐनक लगा लेते हैं लेकिन आंखें न बिगड़ें इसका कोई तरीका नहीं निकालते।

हमारा स्वास्थ्य बिगड़ गया है, भेदभाव बढ़ गया है और हमपर बाहरके लोगोंका आक्रमण हुआ है—इस सबका कारण यही है कि हमने परिश्रम छोड़ दिया है।

यह तो हुआ जीवनकी दृष्टिसे। अब शिक्षाकी दृष्टिसे परिश्रमका विचार करना है।

हमने शिक्षाकी जो नई प्रणाली बनाई है उसका आधार उद्योग है क्योंकि हम जानते हैं कि शरीरके साथ मनका निकट सम्बन्ध है। आज कल मनोविज्ञानका अध्ययन करनेवाले हमें बहुत दिखाई देते हैं। पर बेचारोंको खुद अपना काम क्रोध जीतनेका तरीका मालूम नहीं होता। मनके बारेमें इधर-उधरकी किताबें पढ़-पढ़कर दो चार बातें कर सकते हैं। चौदह सालके बाद मनुष्यके मनमें एकाएक परिवर्तन होता है। इसलिए चौदह सालतक लड़कोंकी पढ़ाई होनी चाहिए यह सिद्धान्त एक मानसशास्त्रीने मुझे सुनाया। सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने कहा "क्या मनमें परिवर्तन होनेका भी कोई वर्ष होता है? हम देखते हैं कि शरीर धीरे-धीरे बढ़ता है। किसी एक दिन एकदम दो फुट ऊंचा हो गया हो

ऐसा नहीं होता। तो फिर मनमें ही एकदम परिवर्तन कैसे हो सकता है? बादमें मैंने उनको समझाया कि हड्डियां चौदह सालके बाद बड़ी तेजीसे बढ़ती हैं और मनका शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे विकास भी उसी हिसाबसे तेजीसे निश्चित होता है। शरीर और मन दोनों एक ही प्रकृतिके एक ही कोटिमें आते हैं।

कार्लाइल एक भारी तत्त्ववेत्ता और विचारक था। उसके ग्रन्थ पढ़ते-पढ़ते कई जगह कुछ ऐसे विचार आ जाते थे जो मेरे विचारोंसे मेल नहीं खाते थे। एमर्सनमें जैसा सीधा सरल विचार-प्रवाह मालूम होता है वैसा उसके लेखोंमें नहीं दीखता। उसका चरित्र बादमें मुझे पढ़नेको मिला। उससे मुझे मालूम हुआ कि कार्लाइलको सिरके दर्दकी बीमारी थी। तब मुझे उसके लेखन-दोषका कारण मिल गया। मैंने सोचा कि जिस समय उसका सिर दर्द करता होगा उस समयका उसका चिन्तन कुछ टेढ़ा-मेढ़ा होता होगा। योगशास्त्रमें तो मन शुद्धिके लिए प्रथम शरीर-शुद्धि बतलाई गई है। हमारे शिक्षण-शास्त्रका भी आधार यही है। शरीर-शुद्धिके साथ मनोशुद्धि होती है। लड़कोंकी मनोवृत्ति बदली है, उसको दिशा देनी है, तो शारीरिक श्रम कराके उनकी भूख जाग्रत करनी चाहिए।

परिश्रमसे उनकी भूख बढ़ेगी। जिसको दिनभरमें तीन बार अच्छी भूख लगती है उसे अधिक धार्मिक समझना चाहिए। भूख लगना जिन्दा मनुष्यका धर्म है। जिसे दिनभरमें एक ही दफा भूख लगती है उसका सम्भवतः स्वच्छ जीवन अनीतिमय होगा। भूख तो भगवान्‌का सन्देश है। भूख न होती तो दुनिया बिल्कुल अनीतिमय और अधार्मिक बन जाती। फिर नैतिक प्रेरणा ही हमारे अन्दर न होती। किसीको भी भूख-प्यास अगर न लगती तो हमें अतिथि-सत्कारका मौका कैसे मिलता? सामने यह खम्भा खड़ा है। इसका हम क्या सत्कार करेंगे? इसको न भूख है न प्यास। हमें भूख लगती है इसलिए हमारे पास धर्म है।

लड़कोंसे परिश्रम लेना है तो शिक्षकको भी उनके साथ परिश्रम करना चाहिए। क्लासमें झाड़ लगाना होता है, लेकिन इसके लिए या तो नौकर रखे जाते हैं या लड़के झाड़ लगाते हैं। शिक्षकको हम कभी झाड़ लगाते नहीं देखते। विद्यार्थी क्लासमें पहले आ गये तो वे झाड़ लगा लें, कभी

शिक्षक पहले आया तो वह लगा ले ऐसा होना चाहिए। लेकिन झाड़ू लगानेके कामको हमने नीचा मान लिया है। फिर शिक्षक भला वह कैसे करें? हम लड़कोंको झाड़ू लगाने का भी काम देंगे तो शिक्षणकी दृष्टिसे। जो परिश्रम लड़कोंसे कराना है वह शिक्षकको पहले सीख लेना चाहिए और लड़कोंके साथ करना चाहिए। मैंने एक झाड़ू तैयार की है। एक रोज दो-तीन लड़कियां यहां आई थीं। तब उनको मैंने वह दिखाई और उसमें कितनी बातें भरी हैं यह समझाया। समझानेके बाद जितनी बातें मैंने कहीं वे सब एक-दो-तीन करके उनसे दोहरवा लीं। लेकिन यह मैं तभी कर सका जब झाड़ू लगानेका काम मैं खूब कर चुका था। इस तरह हरेक चीज शिक्षणकी दृष्टि से लड़कों को सिखानी चाहिए। एक भाईने मुझसे कहा 'गांधीजीने पीसना कातना जूते बनाना वगैरा काम खुद करके परिश्रमकी प्रतिष्ठा बढ़ा दी। मैंने कहा 'मैं ऐसा नहीं मानता। परिश्रमकी प्रतिष्ठा किसी महात्माने नहीं बढ़ाई। परिश्रम की निजकी ही प्रतिष्ठा इतनी है कि उसने महात्माको प्रतिष्ठा दी। आज हिंदुस्तान में गोपाल-कृष्णकी जो इतनी प्रतिष्ठा है वह उनके गोपालनने उन्हें दी है। ग्वाला हमारा गुरुदेव है।

दुनियाकी हरेक चीज हमको शिक्षा देती है। एक दिन मैं धूपमें घूम रहा था। चारों तरफ बड़े-बड़े हरे वृक्ष दिखाई देते थे। मैं सोचने लगा कि ऊपर से इतनी कड़ी धूप पड़ रही है फिर भी ये वृक्ष हरे कैसे हैं? वे सब मेरे गुरु बन गये। मेरी समझ में आ गया कि जो वृक्ष ऊपर से इतने हरे-भरे दीखते हैं, उनकी जड़ें जमीनमें गहरी पहुंची हैं और वहांसे उन्हें पानी मिल रहा है। इस तरह भीतरसे पानी और ऊपरसे धूप दोनोंकी कृपासे यह सुंदर हरा रंग उन्हें मिला है। इसी तरह हमें भीतरसे भक्तिका पानी और बाहरसे तपश्चर्याकी धूप मिले तो हम भी पेड़ोंके-जैसे हरे-भरे हो जायं। हम ज्ञानकी दृष्टिसे परिश्रमको नहीं देखते इसलिए उसमें तकलीफ मालूम होती है। ऐसे लोगोंके लिए अज्ञानता यह पाप है कि उनको आरोग्य और ज्ञान कभी मिलने की आशा नहीं।

किताबें पढ़नेसे ज्ञान मिलता है यह खयाल गलत है। पढ़ते-पढ़ते बुद्धि ऐसी हो जाती है कि जिस समय जो पढ़ते हैं वह ठीक लगता है। एक भाई

मुझसे कहते थे "मैंने समाजवादकी किताब पढ़ी तो वे विचार ठीक जान पड़े। बाद में गांधी-सिद्धांतकी पुस्तक पढ़ी तो वे भी ठीक जंचे।" मैंने विनोदसे उनसे कहा, "पहली किताब दो बजे पढ़ी होगी और दूसरी चार बजे। दो बजेके लिए पहली ठीक थी और चार बजेके लिए दूसरी।" मेरे कहने का मतलब यह है कि बहुत पढ़नेसे हमारा दिमाग स्वतन्त्र विचार ही नहीं कर सकता। खुद विचार करनेकी शक्ति नष्ट हो जाती है। मेरी कुछ ऐसी राय है कि बहुत किताबें पढ़नेसे उनमें स्वतन्त्र विचार-पद्धति नष्ट हो गई है। कुरान शरीफ में एक सवाल आया है कि मुहम्मदसाहबसे कुछ विद्वान लोगोंने पूछा, "तुम्हारे पहले जितने पैगम्बर आये उन सबने चमत्कार करके दिखाये। तुम तो कोई चमत्कार ही नहीं दिखाते, तो फिर पैगम्बर कैसे बन गये?" उन्होंने जवाब दिया, "आप कौन-सा चमत्कार चाहते हैं? एक बीज बोया जाता है, उसमें से बड़ा-सा वृक्ष पैदा होता, उसमें फूल लगते हैं और उनमें से फल पैदा हो जाते हैं। यह क्या चमत्कार नहीं है?" यह तो एक जवाब हो गया। दूसरा जवाब उन्होंने यह दिया, "मुझ-जैसा अनपढ़ आदमी भी आप लोगोंको ज्ञान दे सकता है, यह क्या कम चमत्कार है? आप और कौन सा चमत्कार चाहते हैं?" हमारे शास्त्रोंकी सृष्टि ज्ञानसे भरी है। हम उसकी तहतक नहीं पहुंचते, इसलिए उसमें जो ज्ञान भरा है वह हमें नहीं मिलता।

रसोई बनानेका काम माता करती है। माताका हम गौरव करते हैं। लेकिन माताका असली ज्ञान तो उस रसोईमें ही है। अच्छी से अच्छी रसोई बनाना, बच्चोंको प्रेमसे खिलाना—इसमें कितना ज्ञान और प्रेम भावना भरी है! रसोईका यह काम यदि माताके हाथोंसे ले लिया जाय तो उसका प्रेम व्यक्त ही नहीं हो सकेगा। प्रेम भाव प्रकट करनेका यह मौका कोई माता छोड़नेके लिए तैयार न होगी। इसीके सहारे तो वह जिंदा रहती है। मेरे कहनेका मतलब कोई यह न समझे कि किसी-न-किसी बहाने मैं स्त्रियों पर रसोईका काम लादना चाहता हूं। मैं तो उलटा काम हल्का करना चाहता हूं। इसीलिए हमने आश्रममें रसोईका काम मुख्यतः पुरुषोंसे ही कराया है। मेरा मतलब इतना ही था कि कैसे रसोई का काम माता छोड़ देगी तो उसका ज्ञान-साधन और प्रेम-साधन चला

जायगा। वैसे ही यदि हम परिश्रमसे घृणा करेंगे तो ज्ञान-साधन ही खो बैठेंगे।

लोग मुझसे कहते हैं, "तुम लड़कोंसे मजदूरी कराना चाहते हो। उनके दिन तो गुलाबके फूल-जैसे खिलने और खेलने-कूदनेके हैं।" मैं कहता हूं, बिलकुल ठीक। लेकिन यह गुलाबका फूल किस तरह खिलता है यह भी तो जरा देखो। यह पूर्ण रूपसे स्वावलम्बी है। जमीनसे सब तत्त्व चूस लेता है। खुली हवामें अकेला खड़ा होकर धूप, बारिश, जाड़ा सब सहन करता है। बच्चोंको भी वैसा ही रखो। मैं यह पसंद करता हूं। उनसे पूछकर ही देखो कि फूलको पानी देनेमें, पौधोंको घटती-बढ़ती देखनेमें आनंद आता है या किताबोंमें और व्याकरणके नियम घोटते रहनेमें? गुरगांव (पंजाब) का एक उदाहरण मुझे मालूम है। वहां एक प्राथमिक पाठशाला है। करीब ७ से ११ सालके लड़के उसमें पढ़ते हैं। मां-बापोंकी राय है कि वहांका शिक्षक अच्छा पढ़ाता है। परीक्षाके एक या दो महीने बाकी थे, तब उसने सुबह ८ से १०॥ तक और दोपहरमें २ से ५॥ तक और रातको फिर ७ से ९ बजे तक—यानी कुल नौ घंटे पढ़ाना शुरू किया। न मालूम इतने घंटे वह क्यों पढ़ाता होगा और विद्यार्थी भी क्या पढ़ते होंगे! मगर लड़के पास हो गये तो हम समझते हैं कि शिक्षकने ठीक पढ़ाया है। इस तरह नौ-नौ घंटे पढ़ाई करानेवाला शिक्षक लोक-प्रिय हो सकता है। लेकिन मैं तीन घंटे कातनेकी बात कहूं तो कहते हैं "यह लड़कोंको हैरान करना चाहता है।" ठीक ही है। जहां सब कामसे बचनेकी फिक्रमें हों वहां लड़कोंको काम देनेकी बात भला कौन सोचे?

फिर लोग यह पूछते हैं कि "उद्योग इष्ट है यह तो मान लिया। लेकिन उसमें इतना उत्पादन होना ही चाहिए यह आग्रह क्यों?" मेरा जवाब यह है "लड़कोंको तो जब कोई चीज बनती है तभी आनंद आता है। बेचारे मेहनत भी करें और उससे कुछ पैदा न हो तो क्या इसमें उन्हें आनंद आ सकता है? किसीसे अगर कहा जाय कि चक्की तो पीसो लेकिन उसमें गेहूं न डालो और आटा भी तैयार न होने दो, तो वह पूछेगा कि फिर यह नाहक चक्की घुमानेका मतलब? तो क्या हम यह कहेंगे कि भुजाएं और छाती मजबूत बनानेके लिए? ऐसे उद्योगोंमें क्या कुछ आनंद आ

सकता है। वह तो बेकारकी मेहनत हो जायगी। अतः उद्योगक्रम ही आवश्यक है।

इसलिए मुख्य दृष्टि यह है कि शरीर-श्रमकी महिमाको हम समझें। प्राइमरी स्कूलोंमें हम उद्योगके आधार पर शिक्षण न देंगे तो शिक्षाको अनिवार्य न कर सकेंगे।

आज मां-बाप कहते हैं कि 'लड़का स्कूलमें पढ़ने जाता है तो उसमें कामके प्रति घृणा पैदा हो जाती है और हमारे लिए वह निकम्मा हो जाता है। फिर उसे स्कूल क्यों भेजें?" लेकिन हमारी पाठशालाओंमें अगर उद्योग शुरू हो गया तो मां-बाप खुशीसे अपने लड़केको स्कूल भेजेंगे। लड़का क्या पढ़ता है यह भी देखने आयेंगे। आज तो लड़केकी क्या पढ़ाई हो रही है यह देखनेके लिए भी मां-बाप नहीं आते। उनको उसमें रस नहीं मिलता। उद्योगके स्कूलमें दाखिल हो जानेके बाद इसमें फर्क पड़ेगा। मां-बापोंके पास काफी ज्ञान है। हमारा शिक्षक सर्वज्ञ तो नहीं हो सकता। वह मां-बापोंके पास जायगा और अपनी कठिनाइयां उनको बतायेगा। स्कूलके बगीचेमें अच्छे पपीते नहीं लगते तो वह उसका कारण मां-बापोंसे पूछेगा। फिर वे बतायेंगे कि इस-इस किस्मकी खाद डालो। खाद खराब होनेसे पपीतेमें कीड़े लग जाते हैं। हम समझते हैं कि कृषि-कालेजोंमें पढ़े हुए हैं, इसलिए हमारे ही पास ज्ञान है। लेकिन हमारा ज्ञान किताबी होता है। हम उसे व्यवहारमें नहीं लाते। जबतक हम प्रत्यक्ष उद्योग नहीं करते तबतक उसमें प्रगति और वृद्धि नहीं होती। अगर हम मां-बापोंका यह बोध चाहते हैं उनके ज्ञानसे अगर हम लाभ उठाना है, तो स्कूलमें उद्योग शुरू करना चाहिए। हमारे और उनके सहयोगसे उस ज्ञानमें सुधार भी होगा।

यह सब तब होगा जब हमारे शिक्षकोंमें प्रेम आदर और कामके प्रति आदर उत्पन्न होगा। हमारी नई शिक्षा-प्रणाली इसी आधारपर बनाई गई है।

७

ब्रह्मचर्यका अर्थ

यों तो हर धर्ममें मनुष्य-समाजके लिए कल्याणकारी बातें पाई जाती हैं। इस्लाम धर्ममें ईश्वर-भजन है। 'इस्लाम' शब्दका अर्थ ही 'भगवानका भजन' है। अहिंसा भी ईसाई धर्ममें पाई जाती है। हिंदू ऋषि-मुनियोंने परीक्षा करके जो तत्त्व निकाले हैं वे दूसरे धर्मोंमें पाये जाते हैं। लेकिन हिंदूधर्मने विशिष्ट आचारके लिए एक ऐसा शब्द बनाया है जो दूसरे धर्मोंमें नहीं दीख पड़ता। वह है 'ब्रह्मचर्य'। ब्रह्मचर्याश्रमकी व्यवस्था हिंदू-धर्मकी विशेषता है। अंग्रेजीमें ब्रह्मचर्यके लिए शब्द ही नहीं है। लेकिन उस भाषामें शब्द नहीं है इसका मतलब यह नहीं है कि उन लोगोंमें कोई संयमी हुआ ही नहीं। ईसामसीह खुद ब्रह्मचारी थे। वैसे अच्छे-अच्छे लोग संयमी जीवन बिताते हैं लेकिन ब्रह्मचर्याश्रमकी यह कल्पना उन धर्मोंमें नहीं है जो हिंदू धर्ममें पाई जाती है। ब्रह्मचर्याश्रमका हेतु यह है कि मनुष्यके जीवनको आरम्भमें अच्छी खाद मिले। जैसे वृक्षको जब वह छोटा होता है तब खादकी अधिक आवश्यकता रहती है। बड़ा हो जानेके बाद खाद देनेसे जितना लाभ है उससे अधिक लाभ जब वह छोटा रहता है तब देनेसे होता है। यही मनुष्य-जीवनका हाल है। यह खाद अगर अनन्त मिलती रहे तो अच्छा ही है लेकिन कम-से-कम जीवनके आरम्भ-कालमें तो यह बहुत आवश्यक है। हम बच्चोंको दूध देते हैं। उसे वह जब तक मिलता रहे तो अच्छा ही है लेकिन अगर नहीं मिलता तो कम-से-कम बचपनमें तो मिलना ही चाहिए। शरीरकी तरह आत्मा और बुद्धिको भी जीवनके आरम्भ-कालमें अच्छी खुराक मिलनी चाहिए। इसीलिए ब्रह्मचर्याश्रमकी कल्पना है। ऋषि लोग जिस चीजका प्रचार जीवनभर करते थे उसका थोड़ा-सा अनुभव अपने बच्चोंको भी मिले इस दृष्टिसे उन्होंने ब्रह्मचर्याश्रमकी स्थापना की।

अनुभवसे मैं इस निर्णयपर आया हूँ कि आजीवन पवित्र जीवन बितानेकी दृष्टिसे कोई ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहे तो ब्रह्मचर्यकी प्रचलित विधि उसके लिए उपयोगी नहीं होगी। '[illegible]' नाम के

काम नहीं आयेगा। 'सर्व बल' इस तरहकी 'पॉजिटिव' यानी भावात्मक भाषा ब्रह्मचर्यके काममें आती है। विषय-वासना मत रखो यह ब्रह्मचर्यका 'निगेटिव' यानी अभावात्मक रूप हुआ। सब इंद्रियोंकी शक्ति परमात्माकी सेवामें खर्च करो यह उसका भावात्मक रूप है। 'ब्रह्म' यानी कोई बृहत् कल्पना। अगर मैं चाहता हूं कि इस छोटी-सी देहके सहारे दुनियाकी सेवा करूं उसके ही काममें अपनी सब शक्ति खर्च करूं तो यह एक विशाल कल्पना हुई। विशाल कल्पना रखते हुए ब्रह्मचर्यका पालन आसान हो जाता है। 'ब्रह्म' लम्बे शरीरमें नहीं। मान लीजिये एक आदमी अपने बच्चेकी सेवा करता है और मानता है कि यह बच्चा परमात्मा-स्वरूप है, इसकी सेवामें सबकुछ अर्पण कर चुका और तुलसीदासजी जैसे रघुनाथजीको 'साहिब रघुनाथ हमारे' कहकर भजते थे वैसे ही वह उस लड़केको भजता है तो उस लड़केकी भक्तिसे भी वह आदमी ब्रह्मचर्य पालन कर सकता है। मेरे एक मित्र थे। उन्हें बीड़ी पीनेकी आदत थी। सौभाग्यसे उनके एक लड़का हुआ। तब उनके मनमें विचार आया कि मुझे बीड़ीका व्यसन लगा है इससे मेरा जो बिगड़ा सो बिगड़ा लेकिन अब मेरा लड़का तो उससे बच जाय। मेरा उदाहरण लड़केके लिए ठीक न होगा। सदाहरण उपस्थित करनेके लिए तो मुझे बीड़ी छोड़ ही देनी चाहिए। और उससे उनकी बीड़ी छूट गई। यही कल्पना छोटी-सी बातसे बढ़कर देशसेवाकी कल्पना उनके मनमें आती तो वे संपूर्ण ब्रह्मचर्यका आसानीसे पालन कर सकते। देशकी सेवा कोई ब्रह्मभावसे करता है तो वह ब्रह्मचारी है। उसमें उसे कष्ट जरूर उठाने पड़ेंगे लेकिन वे सब कष्ट उसे बहुत कम मालूम होंगे। माता अपने बच्चेकी सेवा रात-दिन करती है। अब उसके पास कोई सेवाकी रिपोर्ट मांगने आयगा तो वह क्या रिपोर्ट देगी? माता इतनी सेवा करती है कि उसकी वह रिपोर्ट ही नहीं दे सकती। वह अपनी रिपोर्ट इस वाक्यमें दे देगी —"मैंने तो लड़केकी कुछ भी सेवा नहीं की।" भला माताकी रिपोर्ट इतनी छोटी क्यों? इसका कारण है। माताके हृदयमें बच्चे के प्रति जो प्रेम है उसके मुकाबले उसकी कुछ भी सेवा नहीं हुई है, ऐसा उसे लगता है। सेवा करनेमें उसे कष्ट कुछ कम नहीं सहने पड़े हैं लेकिन वे कष्ट उसे कष्ट मालूम नहीं हुए। इसलिए हम अपने सामने कोई बृहत्

कल्पना रखेंगे तो मालूम होगा कि अभीतक तो हमने कुछ भी नहीं किया। इंद्रियोंका निग्रह करना यही एक वाक्य हमारे सामने हो तो हम गिनती करने लग जायेंगे कि इतने दिन हुए और अभी तक कुछ फल नहीं दिखाई देता। लेकिन इसी बृहत् कल्पना के लिए हम इंद्रिय-निग्रह करते हैं तो 'यह हम करते हैं' ऐसा 'कर्तरि प्रयोग' नहीं रहता। 'निग्रह किया जाता है' ऐसा 'कर्मणि प्रयोग' हो जाता है या यों कहिये कि निग्रह ही हमें करना है। भीष्म पितामहके सामने एक कल्पना आ गई कि पिताके संतोषके लिए मुझे संयम करना है। बस पिता का संतोष ही उनका ब्रह्म हो गया और उससे वह आदर्श ब्रह्मचारी बन गये। ऐसे ब्रह्मचारी पाश्चात्योंमें भी हुए हैं। एक वैज्ञानिककी बात कहते हैं कि वह रात-दिन प्रयोगमें मग्न रहता था। उसकी एक बहन थी। भाई प्रयोगमें लगा रहता है और उसकी सेवा करनेके लिए कोई नहीं है यह देखकर वह ब्रह्मचारिणी रहकर भाईके ही पास रही और उसकी सेवा करती रही। उस बहनके लिए 'बंधु-सेवा' ब्रह्म की सेवा हो गई। देहके बाहर जाकर कोई भी कल्पना ढूंढ़िये। अगर किसीने हिंदुस्तानके गरीब लोगोंको जीवन देनेकी कल्पना अपने सामने रखी तो इसके लिए वह अपनी देह समर्पण कर देगा। वह मान लेगा कि मेरा कुछ भी नहीं है जो कुछ है वह गरीब जनताका है। 'जनताकी सेवा' उसका ब्रह्म हो गई। उसके लिए जो आचार वह बरतेगा वही ब्रह्मचर्य है। हरेक काममें उसे गरीबोंका ही ख्याल रहेगा। वह दूध पीता होगा तो उसे पीते वक्त उसके मनमें विचार आ जायगा कि मैं तो निर्बल हूं इसलिए मुझे दूध पीना पड़ता है पर गरीबोंको दूध कहां मिलता है? लेकिन मुझे उनकी सेवा करनी है यह सोचकर वह दूध पियेगा। मगर इसके बाद फौरन ही वह गरीबोंकी सेवा करनेके लिए दौड़ जायगा। बस यही ब्रह्मचर्य है। अध्ययन करनेमें अगर हम मग्न हो जाय तो उस दशा में विषय-वासना कहांसे रहेगी? मेरी माता काम करते करते भजन गाया करती थी। क्योंकि मैं कभी-कभी अगर भूलसे दुबारा पढ़ जाता था लेकिन गीतामें मैं इतना मग्न रहता था कि मुझे उसका पता ही न चलता था। वेदाध्ययन करते समय मैंने अनुभव किया कि देह मानो है ही नहीं यों" लगता था ऐसी भावना उस समय हो जाती थी। इसीलिए ऋषियोंने कहा है कि बचपनमें वेदाध्ययन करो।

मैंने अध्ययनके लिए ब्रह्मचर्य रखा। उसके बाद देशकी सेवा करता रहा। वहां भी इन्द्रिय-निग्रहकी आवश्यकता थी। लेकिन बचपनसे इन्द्रिय-निग्रहका अभ्यास हो गया था इसलिए बादमें मुझे वह कठिन नहीं मालूम हुआ। मैं यह नहीं कहता कि ब्रह्मचर्य आसान चीज है। हां, विशाल कल्पना मनमें रखेंगे तो आसान है। ऊंचा आदर्श सामने रखना और उसके लिए अपनी जीवनका आचरण रखने को मैं ब्रह्मचर्य कहता हूं।

यह हुई एक बात। अब एक दूसरी बात और है। सिर्फ एक विषयका संयम और बाकीके विषयोंका भोग यह ब्रह्मचर्य नहीं है। जब मैंने बेलगांव-जेलमें 'डरपिन हृदय' नाम की पुस्तक देखी। उसमें 'जरा-सा' के विषयमें कुछ लिखा था। पुस्तक कुछ अच्छी लगी। 'जरा-सा भोग-सा करनेमें क्या होता है' ऐसा मत सोचो। जीवनमें एक-एक घड़ीमें हरेक बातमें संयमकी आवश्यकता है। मिट्टीके बर्तनमें थोड़ा-सा छिद्र हो तो क्या हम उसमें पानी भरेंगे? एक भी छिद्र आता है तो वह पानी भरनेके लिए बेकार ही है। ठीक इसी तरह जीवनका हाल है। जीवनमें एक भी छिद्र नहीं रखना चाहिए। चाहे जैसा जीवन बिताते हुए ब्रह्मचर्यका पालन करेंगे, यह मिथ्या आशा है। बातचीत, भोजन, स्वाध्याय वगैरा सभी बातोंमें संयम रखना चाहिए।

८

साक्षर या सार्थक ?

किसी आदमीके घरमें यदि बहुत-सी शीशियां भरी रखी हों तो बहुत करके यह मनुष्य रोगी होगा ऐसा हम अनुमान करते हैं। पर किसीके घरमें बहुत-सी पोथियां पड़ी देखें तो हम उसे ज्ञानी समझेंगे। यह अन्याय नहीं है क्या? आरोग्यका पहला नियम है कि अनिवार्य हुए बिना दवाईका आहार न करो। वैसे ही जहांतक संभव हो पोथीमें आंख न गड़ाना या नाहक आलमारीमें पोथी न बढ़ाना यह ज्ञानोपासनाकी पहली धारा है। पोथीको हम

रोगी शरीरका चिह्न मानते हैं। पोथी को भी—फिर वह सांसारिक पोथी हो चाहे पारमार्थिक पोथी हो—रोगी मनका चिह्न मानना चाहिए।

सदियां बीत गईं, जिनके सयानेपनकी सुगंध आज भी दुनियामें फैली हुई है उन लोगोंका ध्यान जीवनको साक्षर करनेके बजाय सार्थक करने की ओर ही था। साक्षर जीवन निरर्थक हो सकता है, इसके उदाहरण वर्तमान सुशिक्षित समाजमें बिना ढूंढे मिल जायंगे। इसके विपरीत निरक्षर जीवन भी सार्थक हो सकता है इसके अनेक उदाहरण इतिहासमें देखे हैं। बहुत बार 'सु'-शिक्षित और 'अ'-शिक्षितके जीवनकी तुलना करनेसे 'अक्षराणा मकारोऽस्मि' गीताके इस वचनमें कहे अनुसार 'सु'के बजाय 'अ' ही पसंद करने लायक जान पड़ता है।

पुस्तकमें अक्षर होते हैं। इसलिए पुस्तककी सम्पत्तिसे जीवनको निरर्थक करनेकी आशा रखना व्यर्थ है। "बातोंकी कढ़ी और बातोंका ही भात खाकर पेट भरा है किसीका ?" यह सवाल मार्मिक है। कविके कथनानुसार पोथीका चूल्हा जलाता भी नहीं और पोथीकी नैया तारती भी नहीं। 'अश्व' माने 'घोड़ा' यह कोशमें लिखा है। बच्चे सोचते हैं 'अश्व' शब्दका अर्थ कोशमें लिखा है, पर यह सही नहीं है। 'अश्व' शब्दका अर्थ कोशके बाहर तबेलेमें बंधा खड़ा है। उसका कोशमें समाना संभव नहीं। 'अश्व' माने 'घोड़ा' यह कोशका वाक्य इतना ही बतलाता है कि 'अश्व शब्दका वही अर्थ है जो 'घोड़ा' शब्दका है। वह है क्या सो तबेलेमें जाकर देखो। कोशमें सिर्फ पर्याय शब्द दिया रहता है। पुस्तकमें अर्थ नहीं रहता। अर्थ सृष्टिमें रहता है। जब यह बात ध्यानमें आयेगी तभी सच्चे ज्ञानकी चाह जगेगी।

निषाद वधकी कामना फूट निकली उसका एक रहस्य था—शापरत्न को सक्रिय रूप देना। 'शापरत्न बिल्कुल भूखों ही मरा है' यह देखकर 'उसके मुंहपर वधका टुकड़ा फेंक दिया जाय' तो बेचारेका भूखा मरना बंद हो जायगा और जीवन सार्थक करनेके प्रयत्नको अवकाश मिल जायगा यह उसका भीतरी भाव है। वाल्मीकिने शतकोटि रामायण लिखी उसे लूटने के लिए देव दानव और मानवके बीच झगड़ा शुरू हुआ। झगड़ा मिटाना न

देकर शंकरजी चल पड़े गए। उन्होंने तीनोंको तैंतीस-तैंतीस करोड़ श्लोक बाँट दिये। एक करोड़ बचे। यों उत्तरोत्तर बाँटते-बाँटते अंतमें एक श्लोक बच रहा। रामायणके श्लोक अनुष्टुप् छन्दके हैं। अनुष्टुप् छन्दके अक्षर होते हैं बत्तीस। शंकरजीने उनमेंसे दस-दस अक्षर तीनोंको बाँट दिये। बाकी रहे दो अक्षर। वे कौन-से थे? 'रा-म'। शंकरजीने वे दोनों अक्षर बँटवारेकी मजदूरीके नामपर खुद ले लिये। शंकरजीने अपना सारा रस दो अक्षरोंमें खत्म कर लिया तभी तो देव दानव और मानव कोई भी उनके ज्ञानकी बराबरी न कर सका। सन्तोंने भी साहित्यका सारा सार राम-नाममें भर रखा है। पर 'परमात्मा नाम पावन है सबका'—इस प्रमाणे पामर नरको यह नहीं सूझता।

सन्तोंने रामायणको दो अक्षरोंमें समाप्त किया। ऋषियोंने वेदोंको एक ही अक्षरमें समेट रखा है। अक्षर होने भी इतना नहीं छूटती तो 'ॐ-भारत्या' जप करो बस। इतनेसे काम न चले तो नन्हा-सा मांडूक्य उपनिषद् पढ़ो। फिर भी बाधा रह जाय तो ईशोपनिषद् देखो। इस मतलबका एक वाक्य मुक्तिकोपनिषद्में आया है। उससे ऋषियोंका इरादा साफ जाहिर होता है। पर ऋषियोंका यह कहना नहीं है कि एक अक्षरका भी जप करना ही चाहिए। एक या अनेक अक्षर रटनेमें जीवनकी सार्थकता नहीं है। वेदोंके अक्षर पोथीमें मिलते हैं, अर्थ जीवन में खोजना है। तुकारामका कहना है कि उन्हें अक्षर सीखे बिना ही वेदोंका अर्थ मिल गया था। इस कथनका आशय किसीने अस्वीकार नहीं किया। शंकराचार्यने आठ वर्षमें वेदाभ्यास पूरा कर लिया। इससे किसी शिष्यने आश्चर्यचकित होकर किसी गुरुसे पूछा "महाराज, आठ वर्षकी उम्रमें शंकराचार्यने वेदाभ्यास कैसे पूरा कर लिया?" गुरुने मर्मीपनेसे उत्तर दिया, "शंकराचार्यकी बुद्धि बचपनमें उतनी ठीक नहीं रही होगी, इसीसे उन्हें आठ वर्ष लगे।"

एक आदमी दवा खाते-खाते ऊब गया क्योंकि 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की'। अन्तमें किसीकी सलाहसे उसने वैद्यसे काम करना बन्द किया। उससे नीरोग होकर थोड़े ही दिनोंमें हृष्ट-पुष्ट हो गया। अनुभव सिद्ध हुई यह आरोग्य-भावना वह लोगोंको बतलाने लगा।

किसीके हाथमें बीड़ी देखी कि बड़े मनोभावसे सीख देता "बीड़ीसे कुछ होने जानेका नहीं हाथमें कुदाल लो तो चंगे हो जाओगे। लोग कहते "तुम तो बीड़ियां पी-पीकर तृप्त हुए बैठे हो और हमें मना करते हो।" दुनियाका ऐसा ही हाल है। दूसरेके अनुभवसे सयानापन सीखनेकी मनुष्य की इच्छा नहीं होती। उसे स्वतंत्र अनुभव चाहिए, स्वतंत्र ठोकर चाहिए। मैं हितकी बात कहता हूं कि "पोथियोंमें कुछ फायदा नहीं है। फिजूल पोथियोंमें न उलझो" तो वह कहता है 'हां तुम तो पोथियां पढ़ चुके हो और मुझे ऐसा उपदेश देते हो!' "हां मैं पोथियां पढ़ चुका पर तुम न चूको इसलिए कहता हूं।" वह कहता है, "मुझे अनुभव चाहिए" —"ठीक है। लो अनुभव। ठोकर खानेका स्वातंत्र्य तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है। इतिहासके अनुभवसे हम सबक नहीं लेते। इसीसे इतिहासकी पुनरावृत्ति होती है। हम इतिहास की कद्र करें तो इतिहासने आगे बढ़ जाय। इतिहास की कीमत न समझनेसे उसकी कीमत नाहक बढ़ गई है पर अब इस ओर ध्यान जाय तब न!

६

निभृत शिक्षण

फ्रांसकी राज्यक्रान्तिके इतिहासमें रूसो और वाल्टेयर नामक ग्रंथकारों के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। इन ग्रंथकारोंकी भाषा विचारशैली तथा लेखन पद्धति तेजस्वी जीवंत और क्रान्तिकारक है। लोगोंमें जितनी जागृति इनकी लेखनी ने की उतनी बड़े-बड़े बलवान राजाओंके शस्त्रबलसे भी नहीं की। फ्रांसकी राज्यक्रान्ति इनके लेखोंका पूर्ण परिणाम थी। इन दोनों लेखकोंमें से रूसो विशेष भावना प्रधान था। लेख लिखनेके लिए उसने कभी भाषा शास्त्रका अध्ययन नहीं किया था। उसके विचार उसके हृदयमें समाते नहीं थे बाहर निकलनेके लिए छटपटाते और धक्के देते थे। ज्वालामुखी पर्वतसे बहते हुए रसकी भांति बल्कि उससे भी बढ़कर, दाहक होते थे

और उसकी इच्छाके विरुद्ध 'अनिच्छन्नपि'—बाहर निकलते थे। उनके लेखों द्वारा उनका हृदय बोलता था। और इसीलिए उनके लेख चाहे बौद्धिक या तार्किक कसौटीपर भले ही खरे न उतरें, तो भी परिणामतः वे बन्दूककी मारके समान होते थे यह इतिहासको भी मानना पड़ा है। 'मृत जीवनकी अपेक्षा जीवित मृत्यु श्रेयस्कर है'—उनके लेखोंका यही एक सूत्र था। ऐसे प्रभावशाली प्रतिभावान लेखकके शिक्षण-विषयक मतोंका मनन पूर्वक विचार करना हमारा कर्तव्य है।

रूसोके मतानुसार शिक्षणके तीन विभाग करने चाहिए—(१) निसर्ग-शिक्षण (२) व्यक्ति-शिक्षण और (३) व्यवहार-शिक्षण।

शरीरके प्रत्येक अवयवका संपूर्ण और व्यवस्थित विकास होना, इंद्रियोंका काम फुर्तीसे कार्यक्षम बनना, विभिन्न मनोवृत्तियोंका सर्वांगीण विकास होना, स्मृति, प्रज्ञा, मेधा, धृति, तर्क इत्यादि बौद्धिक शक्तियोंका प्रबल और प्रखर बनना—इन सबका समावेश उनके मतसे निसर्ग-शिक्षणमें होता है। दूसरे शब्दोंमें मनुष्यकी भीतरी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक शक्तिका आत्मविकास—निसर्ग-शिक्षण है। मनुष्यको बाह्य परिस्थितिमेंसे जो ज्ञान प्राप्त होता है, व्यवहारमें जो अनुभव होता है, उस सब पदार्थविज्ञानको या भौतिक जानकारीको उसने व्यवहार-शिक्षण नाम दिया है। और निसर्ग-शिक्षण द्वारा होनेवाले आत्मविकासका ज्ञानकी दृष्टिसे बाह्य जगतमें कैसे उपयोग किया जाय, इस संबंधमें दूसरे मनुष्योंके प्रयत्नसे जो व्यक्तिगत, साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक (पाठशालामें मिलनेवाला) शिक्षण मिलता है, उसे उसने व्यक्ति-शिक्षण संज्ञा दी है। अर्थात् व्यक्ति-शिक्षण उसकी दृष्टिमें व्यवहार-शिक्षण और निसर्ग-शिक्षणको जोड़नेवाली संधि है। वस्तुतः यह बात कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती कि रूसोने शिक्षणके कितने विभाग किये हैं। अमुक विषयके अमुक विभाग करने चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। यह सब सुविधाका सवाल है। इसलिए दृष्टि भेदसे उनके वर्गीकरणमें अन्तर होना स्वाभाविक है। रूसोके किये हुए तीन विभाग न मानने योग्य हों ऐसी भी कोई बात नहीं है, क्योंकि ऐसा कहा जा सकता है कि मनुष्यको सदा व्यक्ति-शिक्षण और सदा व्यवहार-शिक्षण बाहरसे मिलता है। केवल निसर्ग-शिक्षण ही भीतरसे मिलता है। इस

दृष्टिसे अगर हम अन्त:शिक्षण और बाह्य शिक्षण ये दो ही विभाग करें तो क्या हर्ज है?

परन्तु इससे भी आगे बढ़कर यह भी कहा जा सकता है कि बाह्य शिक्षण केवल प्रमाणात्मक क्रिया है और अन्त:शिक्षण ही भावरूप है। इसलिए शिक्षणका यही एकमात्र यथार्थ अथवा वास्तविक विभाग है। हमने जिसे 'बाह्य-शिक्षण' कहा है, वह केवल मनुष्योंसे अथवा पाठशालामें ही नहीं मिलता। वह शिक्षण इस अनन्त विश्वके प्रत्येक पदार्थसे निरन्तर मिलता ही रहता है। उसमें कभी विराम नहीं होता। जैसाकि शेक्सपीयरने कहा है "बहते हुए झरनोंमें प्रासादिक ग्रन्थ छिपे हैं, पत्थरोंमें दर्शन छिपे हुए हैं और अन्यान्य पदार्थोंमें शिक्षाके सारे तत्त्व सन्निहित हैं।" वृक्ष, वनस्पति, फल, नदियां, पर्वत, आकाश, तारे—सभी मनुष्यको अपने-अपने ढंगसे शिक्षा देते हैं। नैयायिकोंके अणुसे लेकर खगोलके महत्तत्त्व, भूमिति (रेखागणित) के बिन्दुसे लेकर भूगोलके सिन्धु या छप्पनकी भाषामें कहें तो 'रामजी की चोटीसे लेकर तुलसीके मूल तक सारे छोटे-बड़े पदार्थ मनुष्यके गुरु हैं। विचक्षण विज्ञान-वेत्ताओंके दूर-चक्षु (दूरबीन) से अथवा हार-शिकारियोंके चर्मचक्षु, कल्पनाकुशल कवियोंके दिव्य-चक्षुमें या तात्त्विक तत्त्व-वेत्ताओंके ज्ञान-चक्षुसे जो-जो पदार्थ दृष्टिगोचर होते होंगे—अथवा न भी होते होंगे—उन सब पदार्थोंसे हमें नित्यपाठ मिल रहे हैं। सृष्टि-परमेश्वर द्वारा हमारे अध्ययनके लिए हमारे सामने खोलकर रखा हुआ एक शाश्वत दिव्य आश्चर्यमय परम पवित्र ग्रन्थ है। उसके सामने वेद व्यर्थ हैं, कुरान बेकार है, बाइबिल निरर्थक है। लेकिन यह ग्रन्थ-गंगा चाहे जितनी ही गम्भीर क्यों न हो मनुष्य तो अपने लोटेमें ही उसका पानी लेगा। इसलिए इस विश्वमेंसे 'बाह्य' हमें वही और उतना ही शिक्षण मिलता जितने या जितनेके बीज हमारे 'अन्दर' होंगे। इसका अनुभव हरेकको है। हम इतने विषय सीखते हैं, इतने ग्रन्थ पढ़ते हैं, इतने विचार सुनते हैं, इतनी चीजें देखते हैं, उनमेंसे कितनी हमें याद रहती हैं? सारांश बाह्य अन्तर्गत हम जो कुछ सीखते हैं वह सब भुला देते हैं। उनकी जगह केवल संस्कार बाकी रह जाते हैं। बल्कि शिक्षणका अर्थ जानकारी नष्ट होनेपर बचे हुए संस्कार ही हैं। इसका कारण ऊपर दर्शाया गया है। जो हमारे

'अन्दर' नहीं है, वह बाहरसे आया असम्भव है। बाह्य विषय कोई स्वतन्त्र
या वास्तविक पदार्थ नहीं है। वह केवल एक कल्पनात्मक क्रिया है।

अब ऐसे प्रसंगमें हमेशा एक जुड़ी समस्या पैदा होती है। यदि बाह्य
विषयको मिथ्या मानें तो संस्कार बननेके लिए किसी-न-किसी बाह्य
निमित्त या आलम्बन अथवा आधारकी आवश्यकता होती ही है। इसके
विपरीत अगर बाह्य विषयको सत्य या भाव-रूपमें मानें तो ऊपर कहे
अनुसार उसका अन्दर-विभागके अनुकूल भाव ही और वह भी संस्कार
रूपमें शेष रहता है। अर्थात् उभय पक्षमें विप्रतिपत्ति (डाईलेमा) उपस्थित
होती है। ऐसी अवस्थामें इन दोनों विकल्पोंका परस्पर सम्बन्ध क्या माना
जाय? परन्तु यह विचार नया नहीं है। इसलिए इसका निर्णय भी नया नहीं
है। सभी शास्त्रोंमें इस प्रकारके विचार उपस्थित होते हैं और सर्वत्र उनका
एक ही निर्णय होता है। उदाहरणके लिए, वह वेदान्ती विचार कि 'सुखका
बाह्य पदार्थोंसे क्या सम्बन्ध है' लीजिये। यहां भी यही गुत्थी है। अगर आप
कहें कि बाह्य पदार्थोंसे सुख है, तो उनसे सर्वदा सुख ही मिलना चाहिए
लेकिन ऐसा होता नहीं है। यदि मन स्थिति बिगड़ी हुई हो तो दूसरे अवसरोंपर
सुखकारक प्रतीत होनेवाले पदार्थ भी सुख नहीं दे सकते। इसके विपरीत
यदि कहें कि बाह्य पदार्थोंमें सुख नहीं है, सुख एक मानसिक भावना है तो
ऐसा भी अनुभव हुआ नहीं होता। जैसाकि शेक्सपीयरने कहा है, 'इच्छा
ही घोड़ा बन सकती तो प्रत्येक मनुष्य घुड़सवार हो जाता।' लेकिन ऐसा
हो नहीं सकता यह निष्ठुर सत्य है। तब इस समस्याका समाधान
कैसे हो?

इसी तरहका दूसरा दृष्टान्त न्याय-शास्त्रसे लीजिये। प्रश्न यह है कि
'मिट्टीका घटसे क्या सम्बन्ध है?' अगर आप कहें कि मिट्टी ही घड़ा है,
तो मिट्टीमें पानी भरकर दिखाइये। मिट्टी अलग और घड़ा अलग कहें तो
हमारी मिट्टी हम ले लीजिये अपना घड़ा लेते जाइये। ऐसी हालतमें इन
दोनोंका क्या सम्बन्ध माना जाय? यदि हम शुद्ध हिन्दीमें कहें कि हम
समझा नहीं सकते कि इस सम्बन्धका क्या स्वरूप है तो हमारा अज्ञान
दीखता है। इसलिए इस समझ-वाले 'अनिर्वचनीय सम्बन्ध' यह शब्द और
अनन्य सम्बन्ध नाम दिया गया है।

परंतु इस संबंधके अनिर्वचनीय होते हुए भी एक पक्ष में जिस प्रकार 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्, 'मिट्टी तात्त्विक और मटका मिथ्या'—ऐसा तारतम्य निश्चय किया जा सकता है उसी प्रकार दूसरे पक्षमें अंत-शिक्षण भावरूप और बाह्य शिक्षण अभावरूप कार्य है, ऐसा कहा जा सकता है।

किंतु ऐसा कहते ही एक दूसरा ही मूलोत्पाटी प्रश्न उपस्थित होता है। हमने शिक्षणके दो विभाग किये हैं। उनमेंसे अंत-शिक्षण अथवा आत्म विकास भावरूप होते हुए भी वह हरेक व्यक्तिके अंदर-ही-अंदर होता रहता है। उसके लिए हम कुछ भी कर नहीं सकते। उसका कोई पाठ्यक्रम नहीं बनाया जा सकता। और यदि बनाया भी जाय तो उसपर अमल नहीं किया जा सकता। बाह्य शिक्षण सामान्यतः और व्यक्ति-शिक्षण विशेषतः अभावरूप करार दिया गया है। "ऐसी अवस्थामें 'न हि कश्चित्-क्रियाणां कोऽपि परमं ददाति' इस न्यायके अनुसार शिक्षण-विषयक आयोजन हमारी मूर्खताके प्रदर्शन ही हैं क्या?" यह कह देना आवश्यक है कि [illegible] आक्षेप आपाततः जैसे भयंकर या मुहतोड़ मालूम होता है, वस्तुतः वैसा नहीं है। कारण जब हम यह कहते हैं कि बाह्य शिक्षण अभावात्मक कार्य (निगेटिव फंक्शन) है तब हम यह नहीं कहते कि वह 'कार्य' ही नहीं है। वह कार्य है, वह उपयोगी कार्य है, परन्तु वह अभावात्मक कार्य है इतना ही हमें कहना होता है। मतलब इतना ही है कि शिक्षणका कार्य कोई स्वतंत्र तत्त्व उत्पन्न करना नहीं है। सुप्त तत्त्वको जाग्रत करना है। इसलिए शिक्षणका उपयोग लोग जिस अर्थमें समझते हैं उस अर्थमें नहीं है। लेकिन इससे शिक्षण निरुपयोगी नहीं हो जाता। शिक्षण उत्तेजक दवा नहीं है, वह प्रतिबंध निवारण उपाय है। रस्किनने शिल्पकारकी भी ऐसी ही व्याख्या की है। शिल्पकार पत्थर या मिट्टीमें से मूर्ति उत्पन्न नहीं करता। वह तो उसमें है ही। सिर्फ छिपी हुई है। उसे प्रकट करना शिल्पीका काम है। इसपरसे स्पष्ट है कि शिक्षण अभावात्मक होते हुए भी उपयोगी है। और चाहे प्रतिबंध निवारण के कार्यमें ही क्यों न हो, उसमें थोड़ी-सी भावात्मकता है ही। इसी कर्तव्यको ध्यानमें रखकर ऊपर, तारतम्य से (अपेक्षाकृत) अभावात्मक ऐसी सावधानीकी भाषा का प्रयोग किया है। शिक्षण

पारमार्थिकताकी तुलनामें प्रमाणात्मक है। अर्थात् उसका 'भाव' बहुत थोड़ा है।

लेकिन हमने शिक्षाका भाव बेहद बढ़ा दिया है। इसलिए हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अत्यन्त अस्वाभाविक विपरीत और दुराग्रही हो गई है। यहां किसी लड़केकी स्मरण-शक्ति जरा तीव्र दिखाई दी कि उसे और ज्यादा रट करनेको उत्साहित किया जाता है। लड़केका सिर भारी हो उठता है। लड़केके दिमागमें कितना ठूसूं और कितना नहीं इसका उसे कोई विवेक नहीं रहता। पाठशालाकी शिक्षण-पद्धतिमें भी यही नीति निर्धारित की जाती है। इसके विपरीत यदि विद्यार्थी मंद हो तो उसकी घोर उपेक्षा की जायगी। होशियार माने जानेवाले लड़के जैसे-तैसे कालेजतक पहुंचते हैं और फिर पिछड़ जाते हैं। और यदि कालेजमें न पिछड़े तो आगे बाहरी व्यवहारमें निकम्मे साबित होते हैं। इसका कारण यह है कि उनकी कोमल बुद्धिपर बेहिसाब बोझ लादा जाता है। यदि घोड़ा तेज है और स्वाभाविकरूपसे चलता है तो उसे छेड़ना नहीं चाहिए। लेकिन इसके बदले 'घोड़ा तेज है न? लगाओ चाबुक' ऐसी नीतिसे क्या होगा? घोड़ा मरने लगेगा। चूर तो पहले से ही था अपने मालिकको भी गिरायेगा। यह घुड़दौड़ीकी और जल्दीकी नीति कम-से-कम राष्ट्रीय शालाओंमें तो हरगिज नहीं बरतनी चाहिए।

सच बात तो यह है कि जहां विद्यार्थीको यह भान हुआ कि वह शिक्षण ले रहा है, वहां शिक्षणका सारा आनन्द ही लुप्त होजाता है। छोटे लड़कोंसे जो कहा जाता है कि खेल ही उत्तम व्यायाम है उसका भी रहस्य यही है। खेलमें व्यायाम होता है लेकिन 'मैं व्यायाम करता हूं' यह बोध नहीं होता। खेलते समय आसपासका भान नष्ट हो जाता है। लड़के तन्मय होकर अद्वैतका अनुभव करते हैं। देह भान लुप्त हो जाता है। प्यास-भूख थकान कोई किसी वेदनाकी भी प्रतीति नहीं होती। क्योंकि खेल आनन्द होता है। वह नियम-रूप कर्तव्य नहीं होता। यही न्याय शिक्षणपर भी लागू करना चाहिए। 'शिक्षण एक कर्तव्य है' इस कृत्रिम भावनाके बदले 'शिक्षण आनन्द है' यह नैसर्गिक और सच्ची भावना उत्पन्न होनी चाहिए। लेकिन क्या हमारे मदरसोंमें ऐसी भावना पाई जाती है? 'शिक्षण आनन्द है' इस भावनाकी

बात तो छोड़ दीजिये किन्तु 'शिक्षण कर्तव्य है' यह भावना भी बहुत कम पाई जाती है। 'शिक्षण धन्धा है' यह नौकरीकी भावना ही आज शिक्षा विभागमें प्रचलित है। बालकने जरा सजीवताकी चमक या स्वतन्त्र-वृत्तिके लक्षण दिखाये नहीं कि तुरन्त घरवाले कहने लगे कि अब इसे स्कूलमें भेजना चाहिए। तो पाठशालाका अर्थ क्या हुआ?—जेलकी जगह! इसलिए इस पवित्र कार्यमें हाथ बटानेवाले शिक्षक इस जेलखानेके छोटे-बड़े कर्मचारी हैं।

लेकिन इसमें दोष किसका है? शिक्षाके विषयमें हमारे जो विचार हैं और उनके अनुसार हमने जिस पद्धतिका—अथवा पद्धतिके अभावका—अवलम्बन लिया है उसका यह दोष है। विद्यार्थियोंका शिक्षण इस प्रकार होना चाहिए कि उन्हें उसका बोध न हो बल्कि स्वाभाविकरूपसे होना चाहिए। बाल्यावस्थामें बालक जिस सहजभावसे मातृभाषा सीखता है उसी सहजभावसे उसका सबका शिक्षण भी होना चाहिए। बच्चा व्याकरण क्या चीज है यह भले ही न जानता हो लेकिन वह 'मां भाषा' नहीं कहता। कारण वह व्याकरण समझता है। वह 'व्याकरण' शब्द भले ही न जानता हो या उसे व्याकरणकी परिभाषा भले ही न मालूम हो परन्तु व्याकरणका मुख्य कार्य तो हो चुका है। साध्य और साधनको उलट-पुलट नहीं करना चाहिए। साध्यके लिए साधन होते हैं साधनके लिए साध्य नहीं। यही बात तर्कशास्त्रपर भी लागू होती है। गौतमके न्यायसूत्र अथवा अरस्तूका तर्कशास्त्र पढ़नेका क्या अभिप्राय है? यही कि हम व्यवस्थित विचार कर सकें अचूक अनुमान कर सकें। बच्चा बड़ा होने लगता है तब छोटा लड़का भी प्रकाश करता है कि शायद उसमें तेज नहीं है। उसके दिमागमें सारा तर्क होता है। हां इतना अवश्य है कि वह 'पञ्चावयवी वाक्य' या 'सिलॉजिज्म' नहीं बना सकता। विद्यार्थीके भीतर तर्क शक्ति स्वभावतः होती है। शिक्षकका कार्य केवल उसे अवसर उपस्थित करना है जिससे उस तर्क-शक्तिको समय-समय पर साथ मिलता रहे। सारे शास्त्र सब प्रकार तमाम सद्गुण मनुष्यमें बीजरूप रहते हैं। हम इन बीजोंको देख नहीं सकते। लेकिन यह दिखाई नहीं देता इसलिए उनका अभाव तो नहीं है।

परन्तु कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि इसको यह मत पर्याप्त नहीं है। मनुष्य स्वभावतः दुर्बल है, मनोविकारग्रस्त है। शिक्षणने उसे बलवान या नीतिमान बनाया है। स्वभावसे वह पशु है, उसे मनुष्य बनाया है। 'पापोंमें जन्म और पापोंमें पालनपोषण' यह उसका पूर्व-रूप है। उसका उत्तर-रूप शिक्षणसे सम्पन्न होनेवाला है—इस आशयकी भाषाका प्रयोग यह कभी-कभी करता है। इससे भिन्न आशयके वाक्य भी उसके ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं। इसलिए उसका प्रमुख ही मत है यह कहना कठिन है, तथापि उसका ऊपर दिये अनुसार मत हो तो भी उससे उसका विशेष दोष नहीं है बल्कि उसके जमानेकी परिस्थितिका दोष है, ऐसा कहा जा सकता है। स्वतंत्र बुद्धिके लोग भी तब तक यदि परिस्थितिके गुलाम नहीं होते तो कम-से-कम परिस्थितिसे प्रभावित तो हो ही जाते हैं और फिर रूसोके जमानेके फ्रांसकी स्थिति कैसी भीषण थी! आरम्भसे अन्त किस प्रकार हरदीप करोड़ मनुष्यों-का भयानक दुःख नजर आता रहा है? उसी उथलपुथलमें शासन उस जमानेके सामग्री थी। इसलिए यदि रूसो जैसे ज्वालामुखी स्वभाव और प्रतिभाव उत्कट मनुष्यका भावनामय एवं विकारी हृदय मनुष्य-जातिके प्रति घृणासे परिपूर्ण हो गया हो तो यह सम्भव है। घृणाको देखते ही वह खौल जाता था। उसका खून खौलने लगता था। वह आपेसे बाहर हो जाता था। ऐसी स्थितिमें मनुष्य जातिके प्रति घृणाके कारण यदि उसका यह मत हो गया हो कि मनुष्य एक जानवर है और उसे शिक्षणसे थोड़ी-बहुत इन्सानियत आती है तो हम उसका तात्पर्य समझ सकते हैं। लेकिन रूसोके साथ हमें कितनी ही सहानुभूति क्यों न हो तो भी इस प्रकारका मत—चाहे किसीने किसी भी परिस्थितिमें प्रतिपादन किया हो—अनुचित है, इसमें सन्देह नहीं। मनुष्य स्वभावतः दुष्ट है, ऐसा माननेमें सिर्फ मनुष्य-जातिका अपमान है और निराशावादकी परमावधि है। अगर मनुष्य स्वभावतः ही दुष्ट हो तो शिक्षणकी कोई आशा नहीं हो सकती। वस्तुसे उसका स्वभाव बदल दिया पुरुष बनना नव-पुरुष असम्भव है। इसलिए यदि मनुष्य स्वभावतः प्रथम अगर से प्रथम दुष्ट ही हो तो उन दुष्टताओंके मारे असफल अतः एव आशय और निराशावादका नगा उसके साथ-साथ पशु-वृत्तिका साम्राज्य शुरू हो जायगा क्योंकि आशा नष्ट होते ही उसका राज्य स्थापित हो जाता

है। कुछ लोग जोशमें आकर कहा करते हैं कि ब्रिटिश सरकारपरसे हमारा विश्वास सदाके लिए उठ गया। मुंहसे यह सिर्फ जोशकी भाषा होती है। परन्तु, यदि यह सच होता तो किसी भी धार्मिक आन्दोलनका अर्थ निराशाका कर्म-योग ही होता। स्वावलंबनकी दृष्टिसे यह कहना ठीक है कि हमें सरकारके भरोसे नहीं रहना चाहिए। लेकिन यदि इसका अर्थ यह हो कि हमें यह निश्चय हो गया हो कि अंग्रेजोंके हृदय नहीं है, उनकी कभी उन्नति ही नहीं हो सकती तब तो निःशस्त्र-आन्दोलन केवल एक लाचारीका काम हो जाता है। क्या सत्याग्रहका और क्या शिक्षणका मुख्य आधार ही यह मूलभूत कल्पना है कि प्रत्येक मनुष्यके आत्मा है। जिस प्रकार शत्रुके आत्मा नहीं है यह सिद्ध होते ही सत्याग्रह बेकार हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य स्वभावतः दुष्ट है, यह साबित होते ही शिक्षणकी प्राय सारी माया नष्ट हो जाती है। फिर तो छड़ी पड़े छम-छम विद्या आवे धम-धम' शिक्षाका एकमात्र सूत्र होगा। इसलिए शिक्षाशास्त्रों और शिक्षण-वेत्ताओं-ने भी यह शास्त्रीय सिद्धांत मान लिया है कि मनुष्यके मनमें पूर्णताके सारे तत्त्व बीज-रूपमें स्वतः-सिद्ध हैं।

यह शास्त्रीय सिद्धांत स्वीकार करनेपर जिस प्रकार मारकी सिद्दी शिक्षा-पद्धति गलत साबित होती है, उसी प्रकार शिक्षाका कार्य नागरिक बनाना है, इस भावके आत्म-समाधित तत्त्व भी निराधार सिद्ध होते हैं। हम कुछ-न-कुछ शिक्षण देते हैं लड़कोंके दिमागपर किसी-न-किसी बातका असर होता है और उस परिणामका तथा हमारे शिक्षणका समीकरण करके 'अस्माकमेवायं विजयः, अस्माकमेवायं महिमा' ऐसा कहकर हम नाचने लगते हैं। यह मानवीय मूर्खताकी महिमा है। ऊपर कहा जा चुका है कि शिक्षणकी रचना ऐसी होनी चाहिए, जिससे विद्यार्थियोंको यह मालूम भी न पड़े कि वह शिक्षण ले रहा है। लेकिन इसके लिए साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि शिक्षकके दिलमें ऐसी धुनकी और मद भावना भी न हो कि वह विद्यार्थियोंको शिक्षण दे रहा है। जबतक गुरु अनन्य और सहज-शिक्षक नहीं होगा तबतक विद्यार्थियोंको सहज-शिक्षण मिलना असंभव है। जब कहा जाता है कि 'हम तो फ्रोबेल पैस्टालाजी या मॉन्टेसरीकी पद्धतिसे शिक्षण देते हैं' तब साफ समझ लेना चाहिए कि यह केवल वाचिक भ्रम है, यह शब्द

शिक्षण है यह किसी व्यक्तिकी अर्थ-शून्य कल्पना है, यह सच है, इसमें शक नहीं है। शिक्षण कोई जीवनभिन्नका सूत्र (फार्मूला) थोड़े ही है कि सूत्र ध्यान ही जीवनमें उतर आ जाय। जो दिया जाता है, वह शिक्षण है ही नहीं है और न शिक्षण इसकी पद्धति पद्धति है। जो प्रकट है वह सहज भावसे प्रकट होता है—इस तरहसे जो प्रकट होता है, वही शिक्षण है। यही सहज-शिक्षण —'सर्वोपमपि'—स्वभाव बन ही हो तो भी अच्छा है। परन्तु किसी विशिष्ट पद्धतिके पुस्तकोंके द्वारा प्राप्त होनेवाला व्यवस्थित प्रकाश हमें नहीं चाहिए।

आखिर शास्त्र क्या चीज है? 'शास्त्र बराबर है व्यवस्थित प्रकाशके'। इसके सिवा इन शास्त्रोंका कोई अर्थ भी है। शिक्षण-शास्त्रवेत्ता स्वयं नि गण-शास्त्रवत् लिखते हुए कहता है कि शिक्षणसे अलौकिक व्यक्ति बनते नहीं हैं। इसे शास्त्राकी शास्त्र-दृष्टिसे क्या कीमत हो सकती है। 'एवम् कृत्वा बुद्धिमान् स्यात् इत्यस्माकं प्रार्थ्यं' जैसी शास्त्रकी प्रतिज्ञा होनी चाहिए। जो शास्त्र ऐसी प्रतिज्ञा नहीं कर सकता वह शास्त्र लोगोंकी भाषा। न पुन लोकमतका व्यवस्थित प्रयास मात्र है। शेक्सपीयरने कौन-से नाट्य-शास्त्रका अध्ययन किया था? व्याकरण-शास्त्रके नियम रटकर क्या कभी कोई प्रतिभावान कवि—या नाट्य-रचिक भी—बना है? शास्त्र पद्धति इन लक्षणोंकी दृष्टिसे बाहर कुछ अर्थ ही नहीं रखता। वह सहज भ्रम है। आम्नायाः और रचनाश्च जन्म ममति शास्त्राणि'—महापुरुषोंकी श्रेष्ठ रचनाएं ही शास्त्र हैं—ऐसी मान्यता यह एक सामान्य वचन है। यहाँतक भी वह लागू होता है। जो किसी भी पद्धतिके बिना सुव्यवस्थित होता है जिस कोई भी बन न सकी सकता परन्तु जो किया जाता—ऐसा शिक्षणका अनिर्वचनीय स्वरूप। इसलिए शिष्टबुद्धिमानोंमें महात्माओंने कहा कि शिक्षण कैसे दिया जाता है हम नहीं जानते। न विजानीमो (केनोपनिषद्) शिक्षण-पद्धति पाठ्यक्रम समय-पत्रक ये सब अर्थशून्य हैं। इसमें सिवा आत्म वचनाके और कुछ नहीं बचता है। जीवनकी क्रियासे ही शिक्षण मिलना चाहिए। शिक्षण जब जीवनकी क्रियासे भिन्न एक स्वतन्त्र क्रिया बनती है, तब वह मनुष्य विजातीय द्रव्य खानेसे जैसा परिणाम होता है, वैसा ही शिक्षा भी रोगोत्पादक परिणाम हमारे मनपर होता है। कर्मकी कक्षाके

बिना ज्ञानकी भूख नहीं जगती। और ऐसी हालतमें जो ज्ञान विजातीय द्रव्यके रूपमें अन्दर घुसता है उसे हजम करनेकी ताकत ज्ञानेंद्रियोंमें नहीं होती। सिर्फ भेजेमें किताबें ठूंस देनेसे अगर मनुष्य ज्ञानी बन जाता तो पुस्तकालयकी आलमारियां ज्ञानी मानी जातीं। जातमसे लाये हुए ज्ञानका अपचन होता है और बौद्धिक अजीर्ण हो जाता है। और अन्तमें मनुष्यकी नैतिक मृत्यु होती है।

जो नियम विद्यार्थियोंके शिक्षणपर लागू है, वही लोक-शिक्षण या लोक-संग्रहपर भी घटित होता है। महापुरुषोंकी दृष्टिसे सारा समाज एक बहुत बड़ा शिशु है। "भीष्माचार्य आमरण ब्रह्मचारी रहे। किन्तु बिना पुत्र के तो सद्गति नहीं होती ऐसा सुनते हैं। तब भीष्माचार्यको सद्गति कैसे मिली होगी?" ऐसी बेहूदी शंका पेश होनेपर उसका समाधान इस प्रकार किया गया कि भीष्माचार्य सारे समाजके लिए पिताके समान होनेके कारण हम सब उनके पुत्र ही हैं। इसलिए लोक-संग्रहका प्रश्न महापुरुषोंकी दृष्टिसे बालकोंके शिक्षणका ही प्रश्न है। परन्तु शिक्षणके प्रश्नकी तरह लोक-संग्रहका भी नाहक हौआ बनाकर ज्ञानी पुरुषकी यह एक भारी जिम्मेदारी है, ऐसा कहनेका रिवाज चल पड़ा है। लोक-संग्रह किसी व्यक्तिके लिए रुका नहीं है। लोक-संग्रह मुझपर निर्भर है, ऐसा मानना गोया टिटहरीका यह मानकर कि मेरे आधारपर आकाश स्थित है मुझको उलटा टांग लेनेके बराबर है। 'कर्त्ताहम्' 'मैं कर्ता हूं' यह अज्ञानका लक्षण है ज्ञानका नहीं। यहांतक कि जहां 'कर्त्ताहम्' यह भावना जाग्रत है वहां यथार्थ कर्तृत्व ही नहीं रह सकेगा। शिक्षण जिस प्रकार अभावात्मक या प्रतिबन्ध—निवारणात्मक कार्य है उसी प्रकार लोक-संग्रह भी है। इसीलिए श्रीमच्छंकराचार्य ने 'लोकस्य उन्मार्ग-प्रवृत्ति-निवारणं लोक-संग्रह' ऐसा लोक-संग्रहका निवर्तक स्वरूप दिखलाया है।

जिस प्रकार सच्चा शिक्षक शिक्षा नहीं देता उससे शिक्षण मिलता है इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी लोक-संग्रह करेगा नहीं उसके द्वारा लोक-संग्रह होगा। सूर्य प्रकाश देता नहीं है उससे स्वाभाविक रूपसे प्रकाश मिलता है। इसी अभावात्मक कर्मयोगको गीताने सहज कर्म कहा है और मनुने इसी सहजकर्मको 'निवृत्तकर्म' यह सुन्दर संज्ञा दी है। 'निवृत्त शिक्षण' यह संज्ञा

भी उसी दरपर नहीं गई है। जो ऐसा निवृत्त शिक्षण देते हैं वे आचार्य ही समाजके गुरु हैं। वे ही समाजके पिता हैं। दूसरे 'नामके गुरु' गुरु नहीं और 'जन्म हेतु-पिता' पिता नहीं हैं। ऐसे पुरुषोंके चरणोंके निकट बैठकर जिन्होंने शिक्षा पाई है, वे ही मातृमान पितृमान आचार्यमान कहलानेके गौरवके पात्र हैं। परन्तु अब अनाथ बालक हैं। सब अशिक्षित हैं। ऐसा उद्धार शिक्षण किताबोंके माध्यमसे किया होता है?

१०

आत्माकी भाषा

हम जानते हैं कि दुनियाका पहला ग्रन्थ ऋग्वेद है। इसके पहलेका कोई लिखित ग्रन्थ हमको अबतक नहीं मिला। इसलिए ऋग्वेद ही हमारे लिए एक बहुत प्राचीन ऐतिहासिक वस्तुके रूपमें है। मैं देख रहा हूँ कि हिन्दुस्तानकी एकता का ख्याल ऋग्वेदमें भी मौजूद है। ऋग्वेदका एक मंत्र कहता है कि इस देशमें दो तरफसे—दो बाजुओंसे—दो हवाएं बह रही हैं। एक समुद्रकी तरफसे आती है, दूसरी पर्वतकी तरफसे। जिस समुद्रकी तरफसे हवा आती है, उसको हम हिन्द महासागर कहते हैं। मैं देख रहा हूँ कि हिमालयकी गहन गुफाओंमें एक हवा आती है और दूसरी सिन्धुसे बहती है। इस तरहसे हिन्दुस्तान समुद्रसे लेकर हिमालयतक एक है। इसका आध्यात्मिक अर्थ भी है। हम जो श्वासोच्छ्वास लेते हैं उसकी उपमा दे ऋषि ने कहा है। वे कहते हैं कि प्राणायाम करनेवाले योगी अन्दर एक हवा लेते हैं और बाहर दूसरी हवा छोड़ते हैं। जैसे योगीके अन्दरकी गुफा और बाहरका अन्तरिक्ष दो स्थान हैं वैसे ही भारतका हिमालय और समुद्र है। भारत भूमि भी इसी तरह प्राणायाम कर रही है। हिमालयसे वायु छोड़ती है और समुद्रसे लेती है। अब जो अर्थ निकला उसमें यह साफ है कि हिन्दुस्तानकी एकता अभीकी नहीं है बल्कि हजारों वर्ष पहलेकी है। रामायणमें एक स्थान

पर वाल्मीकिने श्री रामचन्द्रजीको समुद्रके समान गंभीर और पर्वतके समान स्थिर कहा है। उन्होंने रामचन्द्रजीको एक राष्ट्र-पुरुषके रूप में चित्रित किया है। हजारों बरस पहले ही जब पारस्परिक संबंध के कुछ साधन नहीं थे तभी हमारे पूर्वजोंने इस भूमिको एक विशाल राष्ट्र मान लिया था। इतने विशाल देशको एक राष्ट्र मानना इस जमानेके लिए कोई नई बात नहीं है।

हमारी पुरानी एकताका साधन क्या था? हमारी संस्कृत भाषा। उस समय हमारी भाषा संस्कृत थी। जब संस्कृतके अनेक अंग बन गये और अलग अलग भाषाएं बन गईं। अलग अलग सूबोंमें अलग-अलग भाषाका प्रयोग होने लगा। इतना होते हुए भी जो लोग राष्ट्रीयता का खयाल करते थे वे संस्कृतमें बोलते और लिखते थे। आप देखेंगे कि केरलमें पैदा हुए शंकराचार्यजीने दक्षिणसे हिमालयतक अपने अद्वैतका प्रचार संस्कृत द्वारा किया जबकि मलाबारकी भाषा दूसरी थी। कारण वह उस वक्त भी राष्ट्रीयताका खयाल रखते थे। सवाल उठता है कि अपने अद्वैतका प्रचार करनेके लिए उन्हें हिंदुस्तानभरमें घूमनेकी क्या जरूरत थी? अद्वैतकी दृष्टिसे ही देखा जाय तो उनका अद्वैत जहां उनका जन्म हुआ था वहींपर पूर्णतया प्रकट हो सकता था। उनको घूमनेकी क्या जरूरत पड़ी? एक और बात यह है कि वह हिंदुस्तानके बाहर नहीं गये। इस तरह आप समझेंगे कि उन्होंने एक राष्ट्रीयता का खयाल करके अपने अद्वैतका प्रचार सिंधुसे लेकर ब्रह्मपुत्रतक किया। लेकिन उनमें भी एक मर्यादा थी। उन्होंने आम लोगोंकी भाषा छोड़कर सिर्फ संस्कृतमें ग्रंथ लिखे। उनके बादके लोगोंको लाचार होकर आम लोगोंकी भाषामें लिखना पड़ा और संस्कृतको छोड़ना पड़ा। अलग-अलग भाषामें अलग अलग ग्रंथ लिखे जाने लगे। अलग अलग भाषा हो जानेके कारण प्रान्तीयताका भाव पैदा होने लगा। इसका नतीजा यह हुआ कि मद्रास प्रान्तके दो विभाग किये—दक्षिणी हिस्सा और उत्तरी हिस्सा। उन्होंने देखा कि उत्तरवाले दक्षिणी भाषा नहीं समझते और दक्षिणवाले उत्तरकी भाषा नहीं समझते। अगर इसिए ये इसका हुआ तो उसकी सेना यहांपर जन्म लेगी। यह भावना कोई काल्पनिक बात नहीं बता रहा हूं। १९४० के बादसे भी मैं भारतीय स्वातन्त्र्य

नुकसान समझता हूँ। उसको हटानेके लिए भारतसे सेना भेजी गई थी। यद्यपि बरमा हमारी हालतमें एक न रहा फिर भी बरमाकी भाषाका संबंध टूट गया और अंग्रेजोंने इसका फायदा उठाया। गांधीजीने देखा कि अगर हम एक राष्ट्र बनाना चाहते हैं और अपने प्रांतीय राष्ट्रोंको (जो हिमालय से सिंधुतक फैला है) ताकतवर बनाना चाहते हैं तो एक राष्ट्र भाषाकी बहुत जरूरत है। पर अंग्रेजी राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। इसलिए हमें हिंदुस्तानमें जो प्रचलित भाषा है उसका अभ्यास सबको करना होगा। इसलिए गांधीजीने हिंदी भाषा को सबके सामने रखा कि सब उसका अभ्यास करें। पर वस्तु स्थिति यह है कि जब हिंदुस्तानमें कांग्रेसका जन्म हुआ तब शुरू-शुरूमें आपसके व्यवहारके लिए अंग्रेजी काममें लाई गई। इस तरह हमारे पढ़-लिखे आदमी अंग्रेजी भाषाका व्यवहार जानते थे और शुरू-शुरूमें अंग्रेजीसे काम चलाते थे। लेकिन किसीको यह न सूझा कि सबके लिए अंग्रेजी सीखना मुश्किल है। वह हिंदुस्तानकी राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। यह बात सिर्फ गांधीजीको सूझी।

जैसे हिन्दीमें तुलसी-रामायण लिखी गई है, वैसे ही तामिल में या बंगलामें क्या भी सरस ग्रन्थ ऐसा कोई उत्तम ग्रन्थ लिखा गया है, जो आम लोगोंमें फैला हो? प्राचीन जमानेमें ऐसा कोई साधन नहीं था जैसा हमारे यहाँ अब है। जैसे प्रिंटिंग प्रेस। प्रिंटिंग प्रेस जैसे महान् प्रचारकके होते हुए भी ऐसा क्यों नहीं हुआ? मैं तामिल नहीं जानता। लेकिन मेरे भाइयोंने बताया है कि ऐसा कोई ग्रंथ नहीं जिसका प्रचार देहाततक हुआ हो। बहुत-से मराठी भाई मुझसे मिल चुके हैं और मैं उनसे पूछ सकता हूँ कि आप मराठा हैं या महाराष्ट्रीय? पुराने जमानेमें जब कोई पुस्तक लिखता था तो उसको लेकर घूम-घूमकर उसका प्रचार भी करता था। मगर आज हम मान बैठे हैं कि प्रिंटिंग प्रेससे हमारा काम बन गया। तुलसी-रामायणने जनताकी सच्ची सेवा की है। नागपुरमें मुझे जब तुलसी-रामायण पढ़नेका मौका मिला तो एक खास बात पर ध्यान गया। आजकल छोटे बच्चोंको (जो प्रारंभिक शिक्षा पाते हैं) अक्षर सिखानेके लिए ऐसा पाठ लिखा जाता है जिसमें संयुक्ताक्षर नहीं होते। नागरी और बंगलामें संयुक्ताक्षरका प्रचार है। इसलिए यहाँ जो बिना संयुक्ताक्षरके लिखा जाता है, वह शुद्ध

कृत्रिम-सा बन जाता है। लेकिन तुलसी-रामायणमें पचास सैकड़े शब्द ऐसे मिलेंगे जिनमें एक भी संयुक्ताक्षर नहीं है। यही तुलसीदासकी विशेषता है।

हम लोग गुलाम बन गये और गुलामीको प्यार भी करने लगे। अब अभिमान भी करते हैं। आप देखेंगे कि हमारी भाषा और देहाती भाषामें अंतर पड़ रहा है। हमारे ग्रंथ आम जनता तक नहीं पहुंच सकते। उन्होंने देखा कि हमको देहाती भाषामें बोलना और लिखना चाहिए। गांधीजीने देखा कि जबतक अंग्रेजी भाषामें सोचते रहेंगे तबतक हम गुलाम ही रहेंगे। मैं मानता हूं कि अंग्रेजीसे हमारा कुछ फायदा हो सकता है। लेकिन अंग्रेजी भाषा और हमारी भाषामें बड़ा फर्क है। हम लोग कहते हैं 'आत्म-रक्षा'। आत्माके मानी शरीर नहीं है। पर अंग्रेजीमें आत्मरक्षा है 'सेल्फ-डिफेंस'। हरेक भाषामें उसका अपना-अपना स्वतंत्र भाव रहता है। जबतक हम अंग्रेजी द्वारा ही सोचते रहेंगे तबतक हममें स्वतंत्र भाव पैदा नहीं होगा यह गांधीजीने देखा। लोग समझते हैं कि अंग्रेजीसे ही हमें ज्ञान मिलता है। अगर किसी देशके बारे में जानकारी प्राप्त करनी हो तो अंग्रेजी पुस्तक पढ़ना पर्याप्त समझते हैं। अंग्रेजी-लेख द्वारा ही सभी बातोंको देखते हैं और खुद भ्रम रखते हैं। अबतक हमने प्रत्यक्ष परिचय नहीं पाया है। अंग्रेजी किताबों द्वारा ही ज्ञान-संपादन करते आये हैं। अंग्रेजी भाषाके कारण हम पुरुषार्थहीन हो गये हैं। यहां ऐसा मैंने सुना कि दो श्रेणी पढ़नेके बाद बच्चोंको अंग्रेजी पढ़ाई जाती है। वर्धाकी शिक्षा-योजनाके अनुसार हमने सात बरसकी पढ़ाईमें अंग्रेजीको बिल्कुल स्थान नहीं दिया है क्योंकि हम मातृभाषाको पहले स्थान देना चाहते हैं और उसी माध्यम द्वारा सभी विषय पढ़ाना चाहते हैं। अंग्रेजी भाषा द्वारा जब हम कोई बात समझते हैं तो वह अस्पष्ट होती है। मैंने देखा कि एक अनपढ़ किसानका दिमाग साफ रहता है पर एम० ए० का दिमाग साफ नहीं होता। इसका कारण यह है कि एम० ए० जितना विषय सीखता है सब-का-सब पराई भाषाके द्वारा सीखता है। बच्चा पहले मातृभाषामें सीखता है। यह सब गांधीजीने देखा और यह सोचकर कि राष्ट्रभाषा बननेमें कम-से-कम दस करोड़ लोग तो अपनी मातृभाषाकी तरह सीख पायेंगे हिंदीको राष्ट्रभाषाका पद दिया।

तेईस सालोंमें मैंने सुना है कि दक्षिणमें करीब बारह लाख लोग हिन्दी सीख चुके हैं।

आजकल हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दूका झगड़ा है। मुझसे जब कोई पूछता है कि आप हिंदीको चाहते हैं, हिंदुस्तानीको या उर्दूको? तो मैं उनसे पूछता हूं कि आप 'माता' को चाहते हैं या 'मां' को? मुझे हिंदुस्तानी और उर्दूमें फर्क नहीं मालूम होता। बाकी बनानेमें और उसको इस्तेमाल करनेमें जितना फर्क है उतना ही हिंदी और उर्दूमें है—बड़ी बाकी उर्दू है छोटाभट हिंदी क्योंकि हम देखते हैं कि बाकी जगह मिलटन बनती है। अंग्रेजीमें मिल्टन और बर्नार्ड शॉकी भाषामें जितना फर्क है, उतना ही फर्क हिन्दी और उर्दूमें है। दो-चार उर्दू शब्दों या संस्कृत शब्दोंसे भाषा नयी नहीं बनती। मैं मद्रासमें अब जो भाषा बोल रहा हूं उसमें संस्कृत शब्दोंका प्रयोग कर रहा हूं। अगर मैं पंजाब गया तो उर्दू शब्दोंका जो मैं जानता हूं इस्तेमाल करूंगा। आप हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दूमें कुछ भी फर्क न करें। उनमें फर्क नहीं है। हिंदी और उर्दूकी संतुलन (बैलेंस) भाषा बना है वह है हिंदुस्तानी।

हिंदुस्तानमें अनेक भाषाओंवाले और अनेक धर्मोंके लोग रहते हैं। इसलिए अगर यहां ऐसे छोटे-मोटे झगड़े हुए तो हिंदुस्तान जैसा कोई बदनसीब देश नहीं होगा। हम सब एक हैं, एक भाव पैदा करनेके लिए हमारे पास कोई साधन होना चाहिए। वह साधन है राष्ट्रभाषा।

राष्ट्रभाषा प्रांतीय भाषाकी जगह नहीं लेती। मातृभाषाके लिए भी प्रेमकी जरूरत है। पाश्चात्य भाषोंसे हमने 'अभिमान' शब्द लिया है। पर उसमें राष्ट्रप्रेम नहीं है। पेट्रियाटिज्म क्या चीज है? वह देश प्रेमका अपभ्रंश है। राष्ट्रप्रेम का अपभ्रंश है पेट्रियाटिज्म। इसलिए आप लोगोंको मातृभाषाका अभिमान नहीं प्रेम रखना चाहिए। राष्ट्रका अभिमान नहीं राष्ट्र प्रेम रखना चाहिए। हम राष्ट्रभाषाका प्रेम चाहते हैं। राष्ट्रभाषा-का प्रचार पूर्ण-राष्ट्रीय सभ्यताका प्रचार है। अगर हम मानव-समाजमें प्रेम बढ़ाना चाहते हैं और मानव-समाजको प्रेमकी नींवपर स्थापित करना चाहते हैं तो एक-दूसरेका संबंध कायम रखनेके लिए ऐसा काम नहीं देगी गरिमा काम नहीं देगा आपके अन्तरात्माका प्रेम काम देगा।

सर्वत्र आत्मा एक है। आत्माकी भाषा सर्वत्र समान होती है। जैसे दुनिया भरका कौवा एक ही भाषा बोलता है वैसे ही दुनियामें मानव-भाषा एक है। यह हृदयके अंतरतमकी भाषा है। मानव-मानवकी एक भाषा है। जो आत्मभाव उपनिषद्‌में है वह ईसप्स फेबल्समें है। लड़कोंको ईसप्स फेबल्स पढ़नेमें बड़ा आनंद आता है क्योंकि वे आत्माको पहचानते हैं। आत्माकी भाषाके प्रचारमें राष्ट्रभाषाका प्रचार पहला कदम है। आत्माकी भाषा जब समझ लेंगे तब सबकी आत्माको समझेंगे। स्त्री-पुरुषकी आत्मा एक है, हिन्दू-मुसलमानकी आत्मा एक है उत्तर और दक्षिणकी आत्मा एक है, इसको पहचाननेके लिए ही यह राष्ट्रभाषाका प्रचार है।

११

साहित्य उन्नती विचारमें

पिछले दिनों एक बार हमने इस बातकी खोजकी थी कि देहातके साधारण पढ़े-लिखे लोगोंके घरमें कौन-सा मुद्रितवाङ्मय पाया जाता है। खोजके फलस्वरूप देखा गया कि कुल मिलाकर पांच प्रकारका वाङ्मय पढ़ा जाता है

(१) समाचारपत्र (२) स्कूली किताबें (३) उपन्यास नाटक गल्प कहानियां आदि (४) भाषामें लिखे हुए पौराणिक और धार्मिक ग्रंथ (५) वैद्यक-संबंधी पुस्तकें।

उससे यह अर्थ निकलता है कि हम यदि लोगोंके हृदय उन्नत करना चाहते हैं तो उक्त पांच प्रकार के वाङ्मयकी उन्नति करनी चाहिए।

पारसालका जिक्र है। एक मित्रने मुझसे कहा "मराठी भाषा कितनी ऊंची उठ सकती है यह ज्ञानदेवने दिखाया और वह कितनी नीचे गिर सकती है यह हमारे आजके समाचारपत्र बता रहे हैं।" (साहित्य सम्मेलन के) अध्यक्षकी आलोचना और हमारे मित्रके उद्‌गारसे अर्थ 'प्रधानमेंत

ध्यानमें रखकर उनके अनुसार लिखाजाना चाहिए। अर्थात् उनके कथनका यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि इसी न्यायाधारपर अवश्य प्रधान महात्माजीकी तहतक जा पहुंचे हैं। मोटे हिसाबसे परिस्थिति क्या है उतना ही बोध उनके कथनोंसे लेना चाहिए। इस दृष्टिसे पूर्णतः स्वीकार करना पड़ता है कि यह आलोचना यथार्थ है।

लेकिन इसमें दोष किसका है? कोई कहता है कि छपाईवालोंका कोई कहता है पाठकोंका कोई कहता है पूर्वीपश्चिमोंका। मुझे तो तीनों ही ठीक है और 'समाईका शिक्षा' तीनोंको बराबर-बराबर मिलनेवाला है, इसमें किसीको कोई शक नहीं। परन्तु मेरे मनमें अपराधी ये तीनों भले ही हों — अपराध करनेवाला दूसरा ही है और वही इस बातका वास्तविक 'धनी' है। वह कौन है? — साहित्यकी व्याख्या करनेवाला कठोर अथवा शीघ्रभ्रष्ट साहित्यकार।

"विरोधी विचारका खंडन दूसरोंका भी बनाना ऊंची-नीची या सीधी बात कहना अतीव (उपहास) (व्यंग्य) मर्मभेद (मर्मस्पर्श) आड़ी-टेढ़ी सुनाना (वक्रोक्ति) कठोरता पेचीदगी अतिरेकता प्रहारता (कपट) — आलवार ने बातोंके दोष बताये हैं। परन्तु हमारे साहित्यकार तो ठीक उन्हीं अनुभूतियोंको 'वाग्भूषा' या साहित्यकी सजावट मानते हैं। पिछले दिनों एक बार रामदासजी 'थोड़ी तबीयतवालोंको विनोद भाता है' इस उक्ति पर कई साहित्यिक बड़े गरम हो गये थे। रामदासके आशयपर ध्यान देकर, उसमें उचित उत्तम लेनेके बदले इन लोगोंने यह अतिरेकार किया कि विनोदका जीवन और साहित्यमें जो स्थान है रामदास वही नहीं समझ पाये थे। उपहास व्यंग्य मर्मस्पर्श आदि बातोंके अस्वीकार किये, इसे भी हमारे साहित्यकार — अपनी साहित्यकी परिभाषाके अनुसार — रामदासके अज्ञानका ही फल समझते।

ज्ञानेश्वर या रामदासको राष्ट्र-अस्मिताकी लगन थी और हमारे लिखनेवालों को अपनी भाषाकी चिन्ता रहती है चाहे उसमें राष्ट्रघात ही क्यों न होता हो — यह एक ध्यान मुख्य भेद है। हमारी साहित्य-निष्ठा ऐसी है कि चाहे सत्य मर भी जाय साहित्य जीता रहे।

ये सबके पढ़ीलिख मुझे पूर्ण अनुभव नहीं होता है। तो क्या मेरे देव!

मैं केवल कवि ही बनकर रहूं। —इन शब्दोंमें तुकाराम ईश्वरसे अपना दुखड़ा रोते हैं और ये (साहित्यकार) बोल रहे हैं कि तुकारामके इस वचनमें काव्य कहांतक आया है। हमारी पाठशालाओंकी शिक्षाका सारा तरीका ही ऐसा है। मैंने एक निबंध पढ़ा था। उसमें लेखकने तुलसीदासकी शेक्सपीयरसे तुलना की थी और किसका स्वभाव-चित्रण किस दर्जेका है इसकी चर्चा की थी। मतलब यह कि तुलसीदासकी रामायण हिंदुस्तानके करोड़ों लोगोंके लिए—देहातियोंके लिए भी—जीवनकी मार्ग प्रदर्शक पुस्तक है। उसका अध्ययन भी वह भला आदमी स्वभाव-चित्रणकी शैली की दृष्टिसे करेगा। शायद कुछ लोगोंको मेरे कथनमें कुछ अतिशयता प्रतीत हो लेकिन मुझे तो कई बार ऐसा ही भास पड़ता है कि इन शैली भक्तोंने राष्ट्रके जीवनकी हत्याका उद्योग शुरू किया है।

पुराणोंका एक श्लोक है जिसका भावार्थ यह है कि "जिससे जनताका चित्त शुद्ध होता है वही उत्तम साहित्य है। जो साहित्य-शास्त्रकार कहलाते हैं और जिनसे आज हम प्रभावित हैं वे यह व्याख्या स्वीकार नहीं करते। उन्होंने तो शृंगारसे लेकर बीभत्सतक विभिन्न रस माने हैं और यह निश्चित किया है कि साहित्य वही है जिसमें ये रस हों। साहित्यकी यह समूची व्याख्या स्वीकार कर लीजिये उसमें कर्तव्य-शून्यता मिला दीजिये फिर कोई भी बतला दे कि आजके मराठी समाचारपत्रोंमें जो पाया जाता है, उसके सिवा और किस साहित्यका निर्माण हो सकता है।

१२

तुलसीकृत रामायण

तुलसीदासजीकी रामायणका सारे हिंदुस्तानके साहित्यिक इतिहासमें एक विशेष स्थान है। हिंदी राष्ट्रभाषा है और यह उसका सर्वोत्तम ग्रंथ है। अतः राष्ट्रीय दृष्टिसे भी उसका स्थान अद्वितीय है ही। साथ-साथ यह हिंदुस्तानके सात-आठ करोड़ लोगोंके लिए वेद-तुल्य प्रमाण मान्य है

नित्य परिचित और धर्म-जागृतिका एकमात्र आधार है। इस प्रकार धार्मिक दृष्टिसे भी यह बेजोड़ कही जा सकती है। और रामभक्तिका प्रचार करनेमें 'शिष्यात् इच्छेत् पराजयम्' इस न्यायसे यह अपने गुरु-वाल्मीकि-रामायणको भी पराजयका मान देनेवाली है। इसलिए भक्तिमार्गीय दृष्टिसे भी यह ग्रंथ अपनी सानी नहीं रखता। तीनों दृष्टियां एकत्र करके विचार करने पर अनन्वयालंकारका उदाहरण हो जाता है कि राम-रावण-युद्ध जिस तरह राम रावणके युद्ध-जैसा था उसी तरह तुलसीकृत रामायण तुलसीकृत रामायण-जैसी ही है।

एक तो रामायणका ग्रंथ ही है मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचंद्रका चरित्र जिसपर तुलसीदासने उसे विशेष मर्यादासे लिखा है। इसीलिए यह ग्रंथ सुकुमार बालकों के हाथमें देने लायक निर्दोष तथा पवित्र हुआ है। इसमें सब रसोंका वर्णन नैतिक मर्यादाका ध्यान रखकर किया गया है। स्वयं भक्ति पर भी नीति की मर्यादा लगा दी है। इसीलिए सूरदासकी जैसी उद्दाम भक्ति इसमें नहीं मिलेगी। तुलसीकी भक्ति संयमित है। इस संयमित भक्ति और और उद्दाम भक्तिका अंतर मूल राम भक्ति और कृष्ण भक्ति का अंतर है। साथ ही तुलसीदासजीका अपना भी कुछ है ही।

तुलसीकृत रामायणका वाल्मीकि-रामायणकी अपेक्षा अध्यात्म रामायणसे अधिक साम्य है। अधिकांश वर्णनों पर, खासकर भक्तिके उद्गारोंपर भागवतकी छाप पड़ी हुई है गीताकी छाप तो है ही। महाराष्ट्रके भागवत धर्मीय संतोंके ग्रंथोंसे जिनका परिचय है, उन्हें तुलसीकृत रामायण कोई नई चीज नहीं मालूम होगी। वही नीति वही निर्मल भक्ति वही संयम। कृष्ण-सखा सुदामाको जिस तरह अपने गांवमें वापस आनेपर मालूम हुआ कि कहीं मैं फिरसे द्वारकापुरीमें लौटकर तो नहीं आ गया उसी तरह तुलसीदासजीकी रामायण पढ़ते समय महाराष्ट्रीय संत-समाजके ग्रंथोंसे परिचित पाठकोंको 'हम कहीं अपनी पूर्व-परिचित संत-वाणी तो नहीं पढ़ रहे हैं' ऐसी शंका हो सकती है। इसमें भी एकनाथजी महाराजकी याद विशेष रूपसे आती है। एकनाथके भागवत और तुलसीदासजीकी रामायण इन ग्रंथोंमें विशेष विचार-साम्य है। एकनाथने भी रामायण लिखी है पर उनकी आत्मा भागवतमें उतरी है। एकनाथके भागवतमें

ही रामायणको पावन बना दिया। एकनाथ कृष्णभक्त थे तो तुलसीदास रामभक्त। एकनाथने कृष्णभक्तिकी मस्तीको पचा लिया यह उनकी विशेषता है। ज्ञानदेव नामदेव तुकाराम एकनाथ ये सभी कृष्णभक्त हैं और ऐसा होते हुए भी अत्यन्त मर्यादाशील। इस कारण इस विषयमें उन्हें तुलसीदासजीसे दो नम्बर अधिक दें ऐसा अनुचित न होगा।

तुलसीदासजीकी मुख्य करामात तो उनके अयोध्याकांडमें है। उसी कांडमें उन्होंने अधिक परिश्रम भी किया है। अयोध्याकांडमें भरतकी भूमिका अद्भुत चित्रित हुई है। भरत तुलसीदासकी ध्यानमूर्ति थे। इस ध्यानमूर्तिको चुननेमें उनका औचित्य है। लक्ष्मण और भरत दोनों ही रामके अनन्य भक्त थे लेकिन एकको रामकी संगतिका लाभ हुआ और दूसरे को वियोगका। पर, वियोग ही भाग्यरूप हो उठा। इसलिए कि वियोगमें ही भरतने संगतिका अनुभव पाया। हमारे नसीबमें परमात्माके वियोगमें रहकर ही काम करना लिखा है। लक्ष्मणके-जैसा संगतिका भाग्य हमारा कहां! इसलिए वियोगको भाग्यरूपमें किस तरह बदल सकते हैं इसे समझनेमें भरतका आदर्श हमारे लिए उपयोगी है।

शारीरिक संगतिकी अपेक्षा मानसिक संगतिका महत्त्व अधिक है। शरीरसे समीप रहकर भी मनुष्य मनसे दूर रह सकता है। दिन रात नदीका पानी ओढ़े पड़ा हुआ पत्थर गीलेपनसे बिल्कुल अलिप्त रह सकता है। उलटे शारीरिक वियोगमें ही मानसिक संयोग हो सकता है, उसमें संयमकी परीक्षा है। भक्तिकी तीव्रता वियोगमें बढ़ती ही है। आनन्दकी दृष्टिसे देखें तो साक्षात् स्वराज्यकी अपेक्षा स्वराज्य-प्राप्तिके प्रयत्नका आनन्द कुछ और ही है। सिर्फ अनुभव करनेकी रसिकता हममें होनी चाहिए। भक्तोंमें यह रसिकता होती है। इसीलिए भक्त मुक्ति नहीं मांगते वे भक्तिमें ही खुश रहते हैं। भक्तिका अर्थ बाहरका वियोग स्वीकारकर अंदरसे एक हो जाना है। यह कोई ऐसा-वैसा भाग्य नहीं परमभाग्य है—मुक्तिसे भी श्रेष्ठ भाग्य है। भरतका यह भाग्य था। लक्ष्मणका भाग्य भी बड़ा था।

पर एक तो हमारी किस्मतमें वह है नहीं और फिर कुछ भी कहिये वह है भी कुछ अटपटा ही। इसका कारण अधूरी चाह है सिर्फ यही नहीं

है किन्तु स्वयं तत्त्व मीठा है यह भी है । उसीके माध्यम उपासकी मिठास है ।

लोकमान्य तिलकने 'गीतारहस्य'में संन्यासीको लक्ष्यकर यह कथन किया है कि 'संन्यासीको भी मोक्षका लोभ तो होता ही है'। पर इस बातको स्पर्श कर देनेकी युक्ति भी हमारे साधु-सन्तोंमें खूब मिलती है। उन्होंने लोभको ही उखाड़ दे दिया। गुरु नानकदेवकी भक्तिकी मधुर-घोषणामें सुन लें मुक्तिकी अवहेलनाके प्रति उन्होंने उपेक्षा दिखाई है। ज्ञानेश्वरने तो "भोग-मोक्ष निरवाळू। पायाकुनी" भोग और मोक्ष पैर तले-पड़े हुए (उनके जैसे) हैं, 'मोक्षाची मोटीबांधी करी' (मोक्षकी पोटलीको बांधनी ढोलनी है अर्थात् मोक्ष जिसके हाथकी चीज है) "चहूं पुरुषार्था शिरीं। भक्ति जैसी (चारों पुरुषार्थोंमें श्रेष्ठ भक्ति जैसी) आदि वचनोंसे भक्तिको मनकी ऊपुर्द बताया है। और तुकारामने तो "नको ब्रह्मज्ञान आत्मस्थिति भाव" (मुझे न ब्रह्मज्ञान चाहिए और न आत्मसाक्षात्कार) कहकर मुक्तिसे इस्तीफा ही दे दिया है। "मुक्तीपरि भक्ति" (मुक्तिसे भक्ति बढ़कर है) इस भावको एकनाथने अपनी रचनाओंमें दस-पाँच बार प्रकट किया है। इधर गुजरातमें नरसिंह मेहताने भी "हरिना जन तो मुक्ति न मागे" (हरिका जन मुक्ति नहीं माँगता) ही गाया है। इस प्रकार प्रायः सभी भागवत-धर्मी वैष्णवोंकी परम्परा मुक्तिके लोभसे सोलहों आने मुक्त है। इस परम्पराका उद्गम भक्त-शिरोमणि प्रह्लादसे हुआ है। "नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको —इन दीन जनोंको छोड़कर मुझे अकेले मुक्त होनेकी इच्छा नहीं है" यह बड़ा बयान उन्होंने नृसिंह भगवानको दिया। इस कलियुगमें अद्वैतस्थापन-अनन्य-आर्यकी स्थापना करनेवाले शंकराचार्यने भी "ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः" गीताके इस श्लोकका भाष्य करते हुए 'सङ्गं त्यक्त्वा' का अर्थ अपने पक्षमें डालकर 'मोक्षेऽपि फले सङ्गं त्यक्त्वा' "मोक्षकी भी आसक्तिका त्याग कर" ये शब्द लिखा है।

तुलसीदासजीके मनमें इस भक्तिभावकी पूर्ति है। उनकी भावना तो देखिए—

अरथ न धरम न काम-रुचि
गति न चहउँ निरबान।

जनम-जनम रति राम-पद
यह बरदान न आन॥

यों त्रिजटजीके स्वामीको सतीने एकदम निकम्मा कर दिया।

भरतमें वियोग-भक्तिका उत्कर्ष दिखाई देता है। इसीसे तुलसीदासजीके वह आदर्श हुए। भरतने सेवा-धर्मको खूब निबाहा। नैतिक मर्यादाका सम्पूर्ण पालन किया। भगवान्‌का कभी विस्मरण नहीं होने दिया। आज्ञा समझकर प्रजाका पालन किया। पर उसका श्रेय रामके चरणोंमें अर्पण-कर स्वयं निर्लिप्त रहे। नगरमें रहकर वनवासका अनुभव किया। वैराग्य-युक्त चित्तसे यमनियमादि विषम व्रतोंका पालनकर आत्माको देहसे दूर रखनेवाले देहके पर्देको झीना कर दिया। तुलसीदास कहते हैं कि ऐसे भरत न जन्मे होते तो मुझ-जैसे पतितको राम-सम्मुख कौन करता—

सिय-राम-प्रेम-पियूष-पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि-मन-अगम जम-नियम-सम-दम बिषम-ब्रत आचरत को।
दुख-दाह-दारिद-दंभ-दूषन सुजस-मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी-से सठन्हि हठि राम-सनमुख करत को॥

रामायणमें रामसखा भरत, महाभारतमें धनुर्धारी पराक्रमी भरत और भागवतमें जीवन्मुक्त जड भरत ये तीन भरत प्राचीन भारतमें विख्यात हैं। हिंदुस्तानको 'भारतवर्ष' संज्ञा शकुन्तलाके वीर भरतसे मिली ऐसा इतिहासज्ञोंका मत है, पर एकनाथने भी जडभरतसे यह मिली ऐसा माना है। संभव है तुलसीदासजीको लगता हो कि यह राम भक्त भरतसे मिली है। पर चाहे जो हो आजके वियोगी भारतके लिए भरतकी वियोग भक्ति का आदर्श सब प्रकारसे अनुकरणीय है। तुलसीदासजीने यह आदर्श अपने पवित्र अनुभवसे उज्ज्वल बनाकर हमारे सामने रखा है। तदनुसार आचरण करना हमारा काम है।

१६

जीवनकी तीन प्रधान बातें

मैंने जीवनमें तीन बातोंको प्रधान पद देता हूं। उनमें पहली है उद्योग। अपने देशमें आलस्यका भारी वातावरण है। यह आलस्य बेकारी के कारण आता है। शिक्षितोंका तो उद्योगसे कोई ताल्लुक ही नहीं रहता और जहां उद्योग नहीं वहां सुख कहां? मेरे मतसे जिस देशसे उद्योग गया उस देशको भारी धन गया समझना चाहिए। जो खाता है उसे उद्योग तो करना ही चाहिए फिर वह उद्योग चाहे जिस तरहका हो पर बिना उद्योगके बैठना कामकी बात नहीं। घरोंमें उद्योगका वातावरण होना चाहिए। जिस घरमें उद्योगकी तालीम नहीं है, उस घरके लड़के जल्दी ही अपना नाश कर लेंगे। संसार पहलेसे ही दुःखमय है। जिसने संसारमें सुख माना है उसके समान भ्रममें पड़ा और कौन होगा? रामदासजीने कहा है, "मूर्खमाजी परम मूर्ख। जो संसारी मानी सुख।" अर्थात् वह मूर्खोंमें भारी मूर्ख है, जो मानता है कि इस संसारमें सुख है। मुझे तो सिवा दुःखकी कहानी सुनाता ही मिला। मैंने तो अभीसे यह समझ लिया है और बहुत विचार और अनुभवके बाद मुझे इसका निश्चय हो गया है। पर ऐसे इस संसारको जरा-सा सुखमय बनाना हो तो उद्योगके सिवाय दूसरा इलाज नहीं है और आज उसके करने लायक और उपयोगी उद्योग सूत-कताईका है। कपड़ा हरेकके लिए जरूरी है और प्रत्येक बालक स्त्री पुरुष सूत कातकर अपना कपड़ा तैयार कर सकता है। अभी हमारा मिल पर भावना मातिब्याना की भावना—अपनों कि हम उसे लगावें। दुःख होने या मन उदास हो जाने पर चरखा हाथमें लेने तो फौरन मनको आराम मिलता है। इसकी वजह यह है कि मन उद्योगमें लग जाता है और दुःख बिसर जाता है। मन साधन सरिता एक साध्य है। उनमें उनमें एक स्त्रीका चित्र खींचा

बिना मनुष्यको कभी खाली नहीं बैठना चाहिए। आलस्यके समान शत्रु नहीं है। किसीको नींद आती हो तो सो जाय इसपर मैं कुछ नहीं कहूंगा लेकिन जाग उठनेपर समय आलस्यमें नहीं बिताना चाहिए। इस आलस्य की वजहसे हम दरिद्री हो गये हैं परतन्त्र हो गये हैं। इसीलिए हम उद्योग की ओर झुकना चाहिए।

दूसरी बात जिसकी मुझे धुन है, वह भक्तिमार्ग है। बचपनसे ही मेरे मनपर यदि कोई संस्कार पड़ा है तो वह भक्तिमार्गका है। उस समय मुझे मातासे शिक्षा मिली। आगे चलकर आश्रममें दोनों वक्तकी प्रार्थना करने की आदत पड़ गई। इसलिए मेरे ऊपर वह खूब हावी हुई। पर भक्तिका माने आलस्य नहीं है। हम उद्योग छोड़कर झूठी भक्ति नहीं करती हैं। दिनभर उद्योग करके मनमें रामका और सुबह भगवानका स्मरण करना चाहिए। दिनभर पाप करके झूठ बोलकर, मक्कारी-बदमाशी करके प्रार्थना नहीं होगी बरन् सत्कर्म करके दिन सेवामें बिता करके वह सेवा भगवानको अर्पण करनी चाहिए। हमारे हाथों अनजाने हुए पापोंको भगवान् क्षमा करता है। पाप बन जावे तो उसके लिए तीव्र पश्चात्ताप होना चाहिए। ऐसाकर पाप ही भगवान् माफ करता है। रात बगैर बिगड़े ही गया हो। सबको—लड़कोंको लड़कियोंको—इकट्ठे होकर प्रार्थना करनी चाहिए। जिस दिन प्रार्थना न हो वह दिन व्यर्थ गया समझना चाहिए। मुझे तो ऐसा ही लगता है। सौभाग्यसे मुझे बचपन आस-पास भी ऐसी ही संगति मिल गई है। इससे मैं भगवानका आश्वासन मानता हूँ। यहीं मेरे भाईका मन जाता है। बापूजी उनके बारेमें लिख रहे हैं कि आजकल वह गाढ़तर भक्तिमें पड़ गये हैं। उन्हें उस बापूके सिवाय और कुछ नहीं सूझ रहा है। इधर उन्हें शायद पता लगा है पर उस समयकी खबर नहीं है। मुझे भाई भी ऐसा लिखा है। ऐसे ही मित्र और सगे लिखें। मां भी ऐसी ही थीं। ज्ञान ऐसे लिखा है कि भगवान कहते हैं—मैं योगियोंके हृदयमें न मिलूं स्वर्गमें न मिलूं भी वैकुण्ठमें न मिलूं तो जहां कीर्तन-आलाप चल रहा है वहां तो जरूर ही मिलूंगा। लेकिन वह कीर्तन सभी करना उद्योग करनेके बाद ही करना चाहिए नहीं तो वह दाम हो जायगा। मुझे इस प्रकारका भक्तिमार्ग सूझा है।

तीसरी एक और बातकी मुझे धुन है, पर सबसे कबूली वह चीज नहीं हो सकती। वह चीज है खूब सीखना और खूब सिखाना। जिसे जो आता है, वह उसे दूसरोंको सिखाये और जो सीख सके उसे वह सीखे। कोई बुड्ढा मिल जाय तो उसे सिखाये। भजन सिखाये, गीता-पाठ कराये, कुछ-न-कुछ जरूर सिखाये। पाठशालाकी तालीमपर मुझे विश्वास नहीं है। पांच-छ घंटे बच्चोंको बिठा रखनेसे उनकी तालीम कभी नहीं होगी। अनेक प्रकारके उद्योग चलने चाहिए और उसमें एक-आध घंटा सिखाना काफी है। कामसे ही गणित इत्यादि सिखाना चाहिए। उद्योग इस तरहसे होने चाहिए कि एक पैसा मजदूरी मिली तो कम पढ़ना पड़ा और उससे ज्यादा मिली तो दूसरा दर्जा। इसी प्रकारसे उन्हें उद्योग सिखाकर उसीसे शिक्षा देनी चाहिए। मेरी मां 'भक्ति-मार्ग-प्रदीप' पढ़ रही थी। उसे पढ़ना कम आता था पर एक-एक अक्षर टो-टोकर पढ़ रही थी। एक दिन एक भजनके पढ़नेमें उसने पन्द्रह मिनट खर्च किये। मैं ऊपर बैठा था। नीचे आया और उसे वह भजन सिखा दिया। और पढ़ाकर देखा, पन्द्रह-बीस मिनटमें ही वह भजन उसे ठीक आ गया। उसके बाद रोज मैं उसे कुछ देर तक बताता रहता था। उसकी वह पुस्तक पूरी हो गई थी। इस प्रकार जो-जो सिखाने लायक हो वह सिखाते रहना चाहिए और सीखते भी रहना चाहिए। यह सबसे बन आनेकी बात नहीं है। पर उद्योग और भक्ति तो सबसे बन आ सकती है। उन्हें करना चाहिए और इन उद्योगोंके सिवाय मुझे तो दूसरा कोई उपाय नहीं दिखाई देता है।

१४

गांधीजीकी सिखावन

अभी इस समय दिल्लीमें यमुना नदीके किनारेपर एक महान् पुरुष का देह भस्म बन रही है। हम यहां जिस तरह अब प्रार्थना कर रहे हैं उसी तरह हिन्दुस्तानभरमें प्रार्थना चल रही है। कलके ही दिन! शामके

पांच बज गये थे। प्रार्थनाका समय हुआ और गांधीजी प्रार्थनाके लिए निकले। प्रार्थनाके लिए लोग जमा हुए थे। गांधीजी प्रार्थनाकी जगहपर पहुंचे ही थे कि किसी नौजवानने आगे झपटकर गांधीजीकी देहपर गोलियां चलाईं। गांधीजीकी देह गिर पड़ी। खून की धारा बहने लगी। बीस मिनटोंके बाद देहका जीवन समाप्त हुआ। सरदार वल्लभभाईने एक बात बड़े महत्त्वकी कही। वह यह कि गांधीजीके चेहरेपर क्षमा-भाव तथा माफीका भाव यानी अपराधीके प्रति समानुभूति दिखाई देती थी। आगे चलकर वल्लभभाईने कहा कि इस समय कितना ही दुःख क्यों न हुआ हो गुस्सा नहीं आने देना चाहिए और यदि आये भी तो उसे रोकना चाहिए। गांधीजीने जो चीज हमें सिखाई, उसका अमल उनके जीते-जी हम नहीं कर पाये। लेकिन अब उनकी मृत्युके बाद तो करें।

ऐसी ही घटना पांच हजार साल पहले हिन्दुस्तानमें घटी थी। भगवान् श्रीकृष्णकी उमर ढल गई थी। जीवनभर उद्योग करके वह थक गये थे। गांधीजीकी तरह उन्होंने जनताकी निरन्तर सेवा की थी। थके हुए एक बार जंगलमें वह किसी पेड़के सहारे आराम ले रहे थे। इतनेमें एक व्याध यानी शिकारी उस जंगलमें पहुंचा। उसे लगा कि कोई हिरन पेड़ के सहारे बैठा है। शिकारी जो ठहरा! उसने झट तानकर तीर छोड़ा। तीर भगवान के पांवमें लगकर खूनकी धारा बहने लगी। शिकारी अपना शिकार पकड़ने के इरादेसे नजदीक आया। लेकिन सामने प्रत्यक्ष भगवानको जख्मी पाया। उसे बड़ा दुःख हुआ। अपने हाथोंसे बड़ा पाप हुआ ऐसा सोचकर वह दुःखी हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण तो सारे ही समझमें आ गये। लेकिन मरनेके पहले उन्होंने उस व्याधसे कहा "हे व्याध! डरना नहीं। मृत्युके लिए कुछ-न-कुछ निमित्त लगता ही है। तू निमित्त बन गया।" ऐसा कहकर भगवान्ने उसे आशीर्वाद दिया।

इसी तरह की घटना पांच हजार वर्षोंके बाद फिरसे घटी है। यों देखनेमें तो ऐसा दिखाई देता कि उस व्याधने अज्ञानवश तीर मारा था। यहां इन नौजवानने सोच-समझकर, गांधीजीको ठीक पहचानकर, पिस्तौल चलाई। इसी कामके लिए वह दिल्ली आया था। वह दिल्लीका रहनेवाला नहीं था। गांधीजीके प्रार्थनाके लिए जाते हुए वह उनके पास पहुंचा और

बिल्कुल नजदीक आकर उसने गोलियाँ छोड़ीं। ऊपरसे तो दिखाई देता कि गांधीजीको वह जानता था। लेकिन वास्तवमें ऐसा नहीं था। जैसा वह व्याघ्र अज्ञानी था वैसा ही वह दुष्ट भी अज्ञानी था। उसकी यह भावना थी कि गांधीजी हिन्दूधर्मको हानि पहुँचा रहे हैं और इसलिए उसने उनपर गोलियाँ छोड़ीं। लेकिन दुनियामें आज हिन्दूधर्मका नाम यदि किसीने उज्ज्वल रखा तो वह गांधीजीने ही रखा है। वर्षों पहले उन्होंने खुद ही कहा था कि "हिन्दूधर्मकी रक्षा करनेके लिए किसी मनुष्यको नियुक्त करनेकी जरूरत यदि भगवानको महसूस हुई तो इस कामके लिए वह मुझे ही नियुक्त करेगा।" इतना आत्मविश्वास उनमें था। उन्हें जो सत्य मालूम होता था वह वह साफ-सीधे कह देते थे। बड़े लोग अपनी रक्षाके लिए 'बॉडी गार्ड' यानी देह-रक्षक रखते हैं। गांधीजीने ऐसे देह-रक्षक कभी नहीं रखे। देहको वह तुच्छ समझते थे। मृत्युके पहले ही वह मरकर रहे थे। निर्भयता उनका धन था। जहाँ किसी फौजको भी जानेकी हिम्मत न हो वहाँ अकेले जानेकी उनकी तैयारी थी।

जो सत्य है, लोगोंके हितका है, वही कहना चाहिए, भले ही किसीको अच्छा लगे या बुरा लगे या उसका परिणाम कुछ भी निकले, ऐसी उनकी वृत्ति थी। वह कहते थे "मृत्युसे डरनेका कोई कारण ही नहीं है, क्योंकि हम सब ईश्वरके ही हाथमें हैं। इसलिए भगवान यह देह लेना चाहता है तबतक लेगा और जिस क्षण वह उसे लेना चाहेगा उस क्षण उसे लेगा। इसलिए जो सत्य लगता है वही कहना हमारा धर्म है। ऐसे समय यदि मैं मानव अकेला भी पड़ जाऊँ और सारी दुनिया मेरे खिलाफ हो जाय तो भी मुझे जो सत्य दिखाई देता है वही मुझे कहना चाहिए।" उनकी इस तरहकी निर्भयतापूर्ण वृत्ति थी। और उनकी मृत्यु भी किस अवस्थामें हुई! वह प्रार्थनाकी तैयारीमें थे। शायद उस समय उनके चित्तमें भगवानके सिवा दूसरा विचार नहीं था। उनका सारा जीवन ही भगवानमें सेवामय तथा परोपकारमय रहा है। परन्तु फिर भी प्रार्थनाकी भावना और प्रार्थनाका समय विशेष पवित्र कहना चाहिए। राजनैतिक आदि अनेक महत्त्वके कामोंमें वह रहते थे लेकिन उनका प्रार्थनाका समय कभी नहीं टला। ऐसे प्रार्थनाके समय ही देहमेंसे मुक्त होनेके लिए मानो भगवानने मौका दिया। अपना

काम करते हुए मृत्यु हुई, इस विषयका उनके दिलका आनंद और निमित्त मात्र बने हुए गुनहगारके प्रति दयाभाव इस तरहका दोहरा भाव उनके चेहरे पर मृत्युके समय था ऐसा सरदारजीको दिखाई दिया।

गांधीजीने उपवास छोड़ा उस समय देशमें शांति रखनेका जिन्होंने वचन दिया उनमें कांग्रेस मुसलमान सिख हिन्दूमहासभा राष्ट्रीय स्वयं सेवक-संघ आदि सब थे। हम प्रेमके साथ रहेंगे ऐसा उन्होंने वचन दिया और साथ उस तरह रहने भी लगे थे कि एक दिन प्रार्थना-सभामें गांधीजीको लक्ष्य करके किसीने बम फेंका। वह उन्हें लगा नहीं। उस दिन प्रार्थनामें गांधीजीने कहा "मैं देशकी और धर्मकी सेवा भगवानकी प्रेरणासे करता हूं। जिस दिन मैं चला जाऊं, ऐसी उसकी मर्जी होगी उस दिन वह मुझे ले जायगा। इसलिए मृत्युके विषयमें मुझे कुछ भी विशेष नहीं मालूम होता है।" दूसरा प्रयोग सफल हुआ। नथुरामने गांधीजीको खून किया।

हम सब देह छोड़कर जानेवाले हैं। इसलिए मृत्युके विषयमें तनिक भी दुःख मानने का कारण नहीं है। माताकी अपने दो-चार बच्चोंके विषय में जो वृत्ति रहती है वह दुनियाके सब लोगोंके विषयमें गांधीजीकी थी। हिन्दू हरिजन मुसलमान ईसाई और जिन राज्यकर्ताओंसे लड़े थे उन सबके प्रति उनके दिलमें प्रेम था। सज्जनोंपर जिस तरह प्रेम करते हैं वैसे दुर्जनोंपर भी करो शत्रुको प्रेमसे जीतो ऐसा मंत्र उन्होंने दिया। उन्होंने ही हमें सत्याग्रह सिखाया। खुद आपत्तियां सहकर सामनेवालोंको जरा भी तकलीफ न पहुंचे यह शिक्षा उन्होंने [illegible] दी। जब पुरुष देह छोड़कर जाता है तब वह हमेशा प्रसन्न नहीं होता। जो हम छोड़कर जाते हैं उस समय जैसा लगता है वैसा गांधीजीके मरनेसे लगेगा जरूर लेकिन उससे हमें उदासी नहीं आनी चाहिए।

एकनाथ महाराजने भागवतमें कहा है "जन्मसमय दुनिया और रोने वाला बच्चा—लोगोंका आनंद हुआ। तब दुनिया हंसनेवाला कुछ मरनेके समय रोने लगा "अब मैं मरता हूं। तब उनके लिए भी रोने लगे। इस तरह कुछ हंसनेवाला और बच्चा रोनेवाला दोनोंने ही जो काल (काम) प्राप्त किया था वह दिखला दिया ऐसा एकनाथ महाराजने कहा है।

गांधीजी मृत्युसे डरनेवाले पुरुष नहीं थे। जिस सेवामें निष्काम भावनासे देह लगाई जाय, वह सेवा ही भगवानकी सेवा है। वह करते हुए जिस दिन वह बुलायेगा उस दिन जानेके लिए तैयार रहो, ऐसी शिक्षा उन्होंने हमें दी। तदनुसार ही उनकी मृत्यु हुई। इसलिए यह उत्तम अंत हुआ, ऐसा हम पहचानें और काम करने लग जायं।

कुछ दिन पहले ही आश्रमके कुछ भाई गांधीजीसे मिलने गये थे। उस समय उनका उपवास जारी था। उपवासमें वह जिंदा रहेंगे या मर जायेंगे इसका किसको पता था? आश्रमके भाइयोंने उनसे पूछा, "आप यदि इस उपवासमें चल बसे तो हम कौन-सा काम करें?" गांधीजीने जवाब दिया, "इस तरहका सवाल ही आपके सामने कैसे खड़ा हुआ? मैंने तो आपके लिए काफी काम रखा है। हिन्दुस्तानमें खादी करनी है। तालीम बनाना है। इतना बड़ा काम आपके लिए होते हुए भी 'क्या करें?' ऐसी चिंता क्यों होती है?"

इसलिए हमारे लिए उन्होंने जो काम रख छोड़ा, वह हमें पूरा करना चाहिए। समस्त जातियां और जमातें मिलकर हम यहां एक साथ रहते हैं। नानाविध धर्मोंका अपना देश है, यह हमारा बड़ा भाग्य है। लेकिन एक-दूसरेसे प्रेम करते हुए रहेंगे तभी वह होगा। इतना बड़ा देश हमें भाग्य शायद ही मिलता है। हमारे देशमें अनेक धर्म हैं, अनेक पंथ हैं। मैं तो यह हमारा वैभव है, यह समझता हूं। लेकिन हम सब प्रेमके साथ रहेंगे तभी यह वैभव सिद्ध होगा। हम प्रेमसे रहें, यही गांधीजीने अपने अंतिम उपवाससे हमें सिखलाया है। सब एक-दूसरेके साथ प्रेमसे रहें इसलिए जिस तरह माता भोजन छोड़ देती है, वैसा ही उनका यह उपवास था। सारे मनुष्य एक हैं यह उन्होंने हमें सिखाया। हरिजन-सेवा, खादी सेवा, ग्राम-सेवा, बनियाकी सेवा आदि अनेक सेवा-कार्य हमारे लिए वह छोड़ गये हैं।

अब इस संबंध में अधिक कहना नहीं चाहता हूं। सबके दिल एक विशेष भावनासे भरे हुए हैं। लेकिन मुझे कहना यह है कि केवल शोक करते न बैठें। हमारे सामने जो काम पड़ा है उसमें लग जायं। यह जो मैं आपको कह रहा हूं वैसा ही आप मुझे भी कहें। इस तरह एक-दूसरेको बोध

चेते हुए हम सब गांधीजीके बताये काम करने लग जायं। गीतामें और कुरानमें कहा है कि भक्त और सज्जन एक-दूसरेको बोध देते हैं और एक-दूसरेपर प्रेम करते हैं। वैसा हम करें। आज तक बच्चोंकी तरह हम कभी कभी झगड़ते भी थे। हमें वे सम्भाल लेते थे। वैसा सबको सम्भालनेवाला अब नहीं रहा है। इसलिए एक-दूसरेको बोध देते हुए और एक दूसरेपर प्रेम करते हुए हम सब मिलकर गांधीजीकी सिखावन पर चलें।

१५

सर्वोदयकी विचार-सरणी

एक साल पहले इसी दिन और ठीक इसी समय वह घटना घटी कि जिसके कारण हम सबको हमेशाके लिए शरमिंदा होना पड़ेगा। लेकिन वह घटना ऐसी भी है कि जिससे हमें चिरन्तन प्रकाश मिल सकता है। उस घटनाने हमें देह और आत्माका पृथक्करण अच्छी तरह सिखा दिया है। मुझसे बहुत लोगोंने पूछा कि गांधीजी ईश्वरके निस्सीम उपासक थे तो ईश्वरने उनकी रक्षा क्यों नहीं की? ईश्वरने उनकी जो रक्षा की उससे अधिक रक्षा और हो भी क्या सकती थी? देहासक्तिके कारण हम उसे न पहचानें यह दूसरी बात है। मुझे यहां कुरानका एक वचन याद आता है, जिसमें कहा गया है कि जो ईश्वरकी राहपर चलते हुए कतल किये जाते हैं मत समझो कि वे मरे हैं। वे तो जिन्दा हैं यद्यपि तुम देखते नहीं।

"ला तक़ूलु लि मंय् युक्तलु
फी सबीलिल्लाहि अम्वात् बल् अह्याउं
वलाकिन् ला तश्‌उरून।"

ईश्वरकी राहपर चलते हुए मरना भी जिन्दगी है और शैतानकी राह पर जिन्दा रहना भी मौत है। गांधीजीने ईश्वरकी राहपर, सचाई और भलाईकी राहपर, चलनेकी निरन्तर कोशिश की उसीकी हिदायत यह

लोगोंको देते रहे, इसीके लिए वह बलिदान किए गए। धन्य है उनका जीवन और धन्य है उनकी मृत्यु!

भलाईकी ताकतपर चलनेकी शिक्षा अनेक सत्पुरुषोंने दी है। लेकिन मानवको अभी पूरा यकीन नहीं हुआ है कि भलाईसे भला होता ही है। वह अभीतक प्रयोग कर रहा है। देखता है कि क्या बुराई बोनेसे भी भला नहीं उग सकता? बबूल बोनेसे आम और आम बोनेसे बबूल हमेशा? ऐसी शंका तो उसके मन में नहीं आती है। शायद पहलेके जमानेमें वह शंका भी उसको रही होगी लेकिन अब तो भौतिक सृष्टिमें 'जैसा बीज तैसा फल' वाला न्याय उसका जम गया है फिर भी नैतिक सृष्टिमें उस न्यायके विषयमें उसे शंका है। साधारण तौरपर भलाईसे भला होता है यह उसने माना है। लेकिन कामिल भलाई लाभदायी हो सकती है, ऐसा निर्णय अभी उसके पास नहीं है।

दूसरे कुछ लोगोंको कामिल भलाई मंजूर है लेकिन निजी जीवनमें। व्यक्तिगत जीवनमें शुद्ध नीति बरतनी चाहिए उसमें मोक्ष तक पा सकते हैं। लेकिन सामाजिक जीवनमें भलाईके साथ बुराईका [illegible] मिश्रण किये बिना नहीं चलेगा ऐसा उनका ख़याल है। सत्य और असत्यके मिश्रणपर दुनिया टिकती है ऐसा यह विचार है। गांधीजीने इसको कभी नहीं माना और सत्य अहिंसा आदि मूलभूत सिद्धान्तोंका अमल सामाजिक तौरपर हमसे करवाया जिसके फलस्वरूप एक विलक्षण स्वराज्य भी हमने पाया है। जिस साधनाका हमारा अमल था उस योग्यताका हमारा यह स्वराज्य है। उसके लिए वे सिद्धान्त जिम्मेदार नहीं हैं हमारा अमल जिम्मेदार है। एक निरामयका जो सिद्धान्त साबित होता है वह सब जिस्मोंको लागू होता है। व्यक्तिके लिए अगर शुद्धनीति कल्याणकारी है तो समाजके लिए भी वह वैसी ही कल्याणकारी होनी चाहिए।

वह तो साधन-शुद्धिका महत्त्व करना चाहते थे। स्वराज्यके लिए वह जिंदगी भर लड़े। लेकिन वह कहते थे कि स्वराज्य तो शुद्धतम साधनोंसे ही मिल सकता है। शुद्ध साधनोंसे प्राप्त किया हुआ स्वराज्य ही सच्चा स्वराज्य होगा। साधककी साध्यकी अपेक्षा साधनके बारेमें ही अधिक सोचना चाहिए। साधनकी जहां पराकाष्ठा होती है, वहीं साध्यका दर्शन होता है। इसलिए साध्य और साधनका भेद भी काल्पनिक है। साधनोंसे साध्य हासिल होता है इतना ही नहीं बल्कि उसका रूप भी साधनोंपर निर्भर रहता है। वैसे हरेकको अपना उद्देश्य या मकसद अच्छा ही लगता है। इसलिए अच्छे मकसदका दावा कोई खास कीमत नहीं रखता। साध्य साधनोंमें विसंगति नहीं होनी चाहिए, यह विचार वैसे नया नहीं है लेकिन उसका प्रयोग जिस बड़े पैमानेपर गांधीजीने हिंदुस्तानमें किया वह बेमिसाल है।

दूसरे कुछ लोग कहते हैं कि सचाई और भलाईका आग्रह तो अच्छा है, लेकिन हर हालतमें क्रियाशील रहनेका महत्त्व अधिक है। अगर भलाई रखनेके प्रयत्नमें क्रियाशीलतामें बाधा आती है तो भलाईका आग्रह कुछ ढीला करके या उस आदर्शसे कुछ नीचे उतरकर, क्रियाशील रहना चाहिए, निष्क्रिय हरगिज नहीं बनाना चाहिए। मैं मानता हूं कि यह भी एक मोह है। जेलमें जब लोगोंको अधिक दिन तक रहना पड़ता था तो उसको 'जेलमें सड़ना' नाम दिया जाता था। तब गांधीजी समझाते थे कि शुद्ध पुरुषकी निष्क्रियतामें भी महान् शक्ति होती है। गीताने अपने अनुपम ढंगसे इसीको अकर्ममें कर्म कहा है। क्रियाशीलता निःसंदेह महान् है। लेकिन सचाई और भलाई उससे भी बढ़कर है। विशेष परिस्थितिमें निष्क्रिय भी रह सकते हैं लेकिन सचाईको कभी छोड़ नहीं सकते।

कुछ लोग जो अपनेको व्यवहारवादी कहते हैं सचाई पसंद करते हैं लेकिन एकपक्षी सचाईमें खतरा देखते हैं। कहते हैं कि सामनेवाला अगर असत्यका उपयोग करता है हिंसा करता है, तो हम ही सत्य और अहिंसा पर डटे रहेंगे तो हमारा नुकसान होगा। ये लोग वास्तवमें सचाई का मूल्य ही नहीं जानते। अगर जानते होते तो ऐसी दलील नहीं करते। हमारे प्रतिपक्षी झूठे रहते हैं तो हम ही क्यों बाज आयें ऐसी दलील वे नहीं करते

है। मानते हैं कि जो आयगा वह खाकर जायगा। इसका प्रतिकार कोई सबब नहीं है। एकपक्षी आशा तो मंजूर है, लेकिन एकपक्षी सचाई प्रीति मंजूर नहीं है। इसका क्या अर्थ है? सामनेवाला जैसा होगा वैसे हम बनेंगे इसका मतलब यही हुआ कि वह जैसा हमें नचायेगा वैसे हम नाचेंगे। यह पुरुषार्थहीन विचार है और उसमें एक दुर्बलता दिखाई देती है। दुर्जनताका एक सिलसिला जारी है। उसको तोड़ना है तो हिम्मत करनी चाहिए और निष्ठापूर्वक परिणामका हिसाब लगाये बगैर, प्रेम करना चाहिए, उदारता रखनी चाहिए। आखिर सत्य प्रेम और उदारता ही शाश्वत चीजें हैं। असत्यादि अभावरूप हैं। प्रकाश और अंधकारका यह झगड़ा है, उसमें प्रकाशको डर कैसा?

यह है सत्याग्रहकी विचार-सरणी जैसा कि मैं समझता हूँ। इसीमें उसका मर्म है इसलिए इसको सर्वोदयकी विचार-सरणी भी कहते हैं। गांधीजीकी हत्या हमारे लिए एक चुनौती है। अगर सत्यमें हमारी परम निष्ठा है उसका अमल हमारे निजी और सामाजिक जीवनमें करनेकी वृत्ति हम रखते हैं तभी हम चुनौतीको हम स्वीकार कर सकते हैं, नहीं तो हम उस चुनौती को स्वीकार कर नहीं सकते। इतना ही नहीं, बल्कि इच्छा न रखते हुए हम उस हत्याकारीके पक्षमें ही दाखिल हो जाते हैं।

मैं आशा करता हूँ कि गांधीजीकी देहमुक्ति हमसे चित्त-सुधार करेगी और हम सत्यनिष्ठ जीवन जीकर सर्वोदयकी तैयारीके अधिकारी बनेंगे।

१८

सेवा व्यक्तिकी भक्ति समाजकी

तीस बरससे मैंने कुछ किया है जो सार्वजनिक काम भी किया है। जब विद्यार्थी-अवस्थामें था तब भी मेरी प्रवृत्ति सार्वजनिक सेवाकी ही थी। जो

कह सकते हैं कि जीवनमें मैंने सिवा सार्वजनिक सेवाके न कुछ किया है न करनेकी इच्छा की है। पर मेरा आशय है कि जिस प्रकार सार्वजनिक सेवा और कार्यकर्ता करते हैं वैसी मैंने नहीं की। सबेरे एक भाईने मुझसे पूछा "आप कांग्रेसमें नहीं आयेंगे क्या?" मैंने कहा "मैं तो कांग्रेसमें कभी नहीं गया। सेवाकी मेरी पद्धति और प्रवृत्ति कांग्रेसमें जाना और वहां काम करना नहीं रही है। इसका महत्त्व मैं जानता हूं सही, पर वह मेरे लिए नहीं है। मैं कांग्रेसकी प्रवृत्तियोंमें समाविष्ट नहीं हूं। विचार करनेवाले भाई तो बहुत हैं। मैं तो उन लोगोंमें हूं जो मूकसेवा करना चाहते हैं। फिर भी मेरी सेवा उतनी मूक नहीं हो सकी जितनी कि मैं चाहता हूं। सेवाका मेरा उद्देश्य भक्ति मात्र है। भक्ति-भावसे ही मैं सेवा करता हूं और बीस सालसे प्रत्यक्ष सेवा कर रहा हूं। प्रचार अभी तक न किया है और न आगे करनेकी संभावना ही है।

मैंने एक सूत्र-सा बना लिया है "सेवा व्यक्तिकी, भक्ति समाजकी।" व्यक्तिकी भक्ति आसक्ति बढ़ाती है, इसलिए भक्ति समाजकी करनी चाहिए। सेवा समाजकी करना चाहें तो कुछ भी नहीं कर सकते। समाज तो एक कल्पनामात्र है। कल्पनाकी हम सेवा नहीं कर सकते। मानवकी सेवा करनेवाला अक्सर दुनियाभरकी सेवा करता है, यह मेरी धारणा है। सेवा प्रत्यक्ष वस्तुकी ही हो सकती है, अप्रत्यक्ष वस्तुकी नहीं। समाज अप्रत्यक्ष, अव्यक्त या निर्गुण वस्तु है। सेवा तो वह है, जो परमात्मातक पहुंचे। आजकल सेवाकी कुछ संस्थाओं-सी पद्धति देखनेमें आती है। सेवाके लिए हम दिखावा ढोंग करते हैं। पर अक्सर अपनी सत्ता बढ़ती है, सेवामय बन जाता है। जनसेवा सेवाके नाते देता है तो किसी देहातमें चले जाइये। मुझसे एक भाईने कहा "बुद्धिवाले लोगोंको आप कहते हैं कि देहातमें चले जाओ। विशाल बुद्धिके विकासके लिए उनको क्षेत्र कहां है, वहां कहां है?" मैंने कहा "ऊंचाई तो है, पर गहराई तो है? वह सदा मालूम नहीं कर सकता। पर ऊंचा सकर भी कर सकता है, गहरा तो जा सकता है।" हमने ऐसे कहे थे कि उसका कोई हिसाब नहीं किया। कोई कर-से-कर विशाल हो भी पानवालकी ऊंचाई मालूम नहीं कर सकता। देहातमें हम लंबा-चौड़ा नहीं पर ऊंचा काम कर सकते हैं। वहां ऊंचे-से

ऊंचे चढ़नेका अवसर है। ऊंची या गहरी सेवा यहां खूब हो सकती है। हमारी यह प्रकार सेवा प्रजाकी अपनी सेवा हो जायगी और फलदायक भी होगी।

राष्ट्रके सारे प्रश्न देहातके व्यवहारमें आ जाते हैं। जितना समाज शास्त्र राष्ट्रमें है उतना एक कुटुम्बमें भी आ सकता है देहातमें तो है ही। समाजशास्त्रके अध्ययनके लिए गांवमें काफी गुंजाइश है। मैं तो इस विषयको गुजरात प्रवास ही समझा कि प्रौढ़ विवाह प्रचलित होनेसे भारतवर्ष सुधर गया और बाल-विवाहसे बिगड़ गया था। प्रौढ़-विवाहमें भी अक्सर वैवाहिक आनन्द देखनेमें नहीं आता और बाल-विवाहके भी ऐसे उदाहरण देखे गये हैं जिनमें पति-पत्नी सुख-शान्तिसे रहते हैं। विवाह-संस्थामें सबसे पवित्र भावना कैसे आवे यह अगला हमने हल कर लिया तो सबकुछ कर लिया। विवाहका उद्देश ही यह है। इसी प्रकार हिन्दुस्तानकी राजनीतिका नमूना भी देहातमें पूरा-पूरा मिल जाता है। एक देहातकी भी जनताको हमने आत्म-निर्भर कर दिया तो बहुत बड़ा काम कर लिया। वहांके अर्थ शास्त्रको कुछ व्यवस्थित कर लिया तो बहुत-कुछ हो गया। मुझे आशा है कि देहाती भाई-बहनोंके बीचमें रहकर आप उनके साथ एकरस हो जायंगे। हां वहां जाकर हम उनके साथ दरिद्रनारायण बनना है, पर 'बेवकूफ-नारायण' नहीं। अपनी बुद्धिका उनके लिए उपयोग करना है निरहंकार बनना है। हम यह न समझें कि वे सब निरे बेवकूफ ही होते हैं। गांवके लोगोंका अनुभव और वेदोंकी तरह वह अविच्छेद्य नहीं कम-से-कम बीस हजार बरसका है। उनका जो अनुभव है, उससे हमें लाभ उठाना है। जाल मकड़ीकी तरह इस प्रकार की बारीक पैदा करता है और पूरी तरहसे निरहंकार बनकर उसमें प्रवेश करता है।

एक प्रश्न यह है कि सवर्ण हिंदू समझते हैं कि वे सुधारक तो बालको बिगाड़ रहे हैं अछूतोंके साथ हमारा उतना संबंध नहीं जितना कि हरि जनोंके साथ है। अछूतोंको अपनी प्रवृत्तिकी ओर खींचने और उनकी शंका दूर करनेके विषयमें क्या किया गया है?

अस्पृश्यता निवारणका काम हमें दो प्रकारसे करना है। एक तो हरि जनोंकी आर्थिक अवस्था और उनकी मनोवृत्तिमें सुधार करके और दूसरे

हिन्दू धर्मकी शुद्धि करके अर्थात् उसको उसके असली रूपमें लाकर। अस्पृश्यता माननेवाले सब दुर्जन हैं यह हम न मानें। वे अज्ञानमें हैं ऐसा मान सकते हैं। वे दुर्जन या दुष्ट बुद्धि नहीं हैं यह तो उनके विचारकोंकी संकीर्णता है। प्लेटोने कहा था सिवा ग्रीक लोग के मेरे ग्रन्थोंका अध्ययन और कोई न करे। इसका यह अर्थ हुआ कि ग्रीक ही सर्वश्रेष्ठ हैं। मनुष्यकी आत्मा व्यापक है पर व्यापकता उसमें रह ही जाती है। आखिर मनुष्यकी आत्मा एक देहके अन्दर बसी हुई है। इसलिए सनातनियोंके प्रति खूब प्रेमभाव होना चाहिए। हमें उनका विरोध नहीं करना चाहिए। हम तो वहां बैठकर चुपचाप सेवा करें। हरिजनोंके साथ-साथ वहां जब अवसर मिले सवर्णोंकी भी सेवा करें। एक भाई हरिजनोंका स्पर्श नहीं करता पर वह दयालु है। हम उसके पास जायें उसकी दयालुताका लाभ उठायें। उसकी मर्यादाको समझकर उससे बात करें। कोई दिनमें उसका हृदय शुद्ध हो जायगा उसके अंतरका अन्धकार दूर हो जायगा। सूर्यकी तरह हमारी सेवाका प्रकाश स्वतः पहुंच जायगा। हमारे प्रकाशमें हमारा विश्वास होना चाहिए। प्रकाश और अन्धकारकी लड़ाई तो एक क्षणमें ही खत्म हो जाती है। लेकिन तरीका हमारा अहिंसाका हो प्रेमका हो। मेरी मर्यादा यह है कि मैं दरवाजा तोड़कर अन्दर नहीं चला जाऊंगा। मैं तो सूर्यकी किरणोंका अनुकरण करूंगा। दीवारमें पत्थरमें या किवाड़में कहीं जरा-सा भी छिद्र होता है तो किरणें चुपचाप अन्दर चली जाती हैं। यही दृष्टि हम रखनी चाहिए। हममें जो विचार है वह प्रकाश है यह मानना चाहिए। किसी गुफाका एक लाख वर्षका भी अन्धकार एक क्षणमें ही प्रकाशसे दूर हो जायगा। लेकिन वह होगा अहिंसाके ही तरीकेसे। सनातनियोंको गालियां देना तो अहिंसाका तरीका नहीं है। हमें मुंहसे खूब तौल-तौलकर शब्द निकालने चाहिए। हमारी वाणीकी कटुता यदि चली गई तो उनका हृदय पसर जायगा। ऐसी लड़ाई आजकी नहीं बहुत पुरानी है। संतोंका जीवन अपने विरोधियोंके साथ झगड़नेमें ही बीता। पर उनके झगड़नेका तरीका प्रेमका था। जिस भगवान्ने हमें बुद्धि दी है उसीने हमारे प्रति-पक्षियोंको भी दी है। आजसे पन्द्रह-बीस वर्ष पहले हम भी तो उन्हींकी तरह अस्पृश्यता मानते थे। हमारे संतोंने तो आत्मविश्वासके

साथ काम किया है। वाद-विवादमें पड़ना हमारा काम नहीं। हम तो सेवा
करते-करते ही खतम हो जायँ। हमारे प्रचार-कार्यका सेवा ही विशेष
साधन है। दूसरोंके दोष बताने और अपने विचार सामने रखनेका मोह
हमें छोड़ देना चाहिए। मां अपने बच्चेके दोष थोड़े ही बताती है, वह तो
उसके ऊपर प्रेमकी वर्षा करती है उसके बाद फिर वही दोष बतलाती
है। असर ऐसी ही प्रेममयी सेवाका होता है।

जब हम सेवा करनेका उद्देश्य लेकर देहातमें जाते हैं तब हमें यह नहीं
सूझता कि कार्यका आरम्भ किस प्रकार करना चाहिए। हम शहरोंमें रहनेके
आदी हो गये हैं। देहातकी सेवा करनेकी इच्छा ही हमारा मूलधन—हमारी
पूंजी—होती है। अब सवाल यह खड़ा हो जाता है कि इतनी थोड़ी पूंजीसे
व्यापार किस तरह शुरू करें। मेरी सलाह तो यह है कि हमें देहातमें जाकर
व्यक्तियोंकी सेवा करनेकी तरफ अपना ध्यान रखना चाहिए, न कि सारे
समाजकी तरफ। सारे समाजके समीप पहुंचना संभव भी नहीं है। रणभूमिमें
लड़नेवाले सिपाहीसे अगर हम पूछें कि किसके साथ लड़ना है तो वह कहेगा
"शत्रुके साथ।" लेकिन लड़ते समय वह अपना निशाना किसी एक ही
व्यक्तिपर लगाता है। ठीक इसी प्रकार हमें भी सेवा-कार्य करना होगा।
समाज अव्यक्त है परन्तु व्यक्ति व्यक्त और स्पष्ट है। उसकी सेवा हम कर
सकते हैं। डाक्टरके पास जितने रोगी आते हैं उन सबको वह दवा देता है
मगर हरेक रोगीका वह ध्यान नहीं रखता। प्रोफेसर सारे क्लासको पढ़ाता
है पर हरेक विद्यार्थीका वह ध्यान नहीं रखता। ऐसी सेवासे बहुत लाभ
नहीं हो सकता। यह डाक्टर अब कुछ रोगियोंकी व्यक्तिगत सम्हालपर ध्यान दे
या प्रोफेसर अब कुछ चुने हुए विद्यार्थियोंपर ही विशेष ध्यान देगा तभी
वास्तविक लाभ हो सकेगा। हां इतना खयाल हमें जरूर रखना होगा कि
व्यक्तियोंकी सेवा करनेमें अन्य व्यक्तियोंकी हिंसा, नाश या हानि न हो।
देहातमें जाकर इस तरह अगर कोई कार्यकर्ता सिर्फ पच्चीस व्यक्तियोंकी
ही सेवा कर सका तो समझना चाहिए कि उसने काफी काम कर लिया।
ग्राम-जीवनका प्रबंध करनेका यही सुगम तथा सफल मार्ग है। मैं यह अनुभव
कर रहा हूं कि जितनी मेरी व्यक्तिगत सेवायें हैं उन्होंने मेरे जीवन

पर अधिक प्रभाव डाला है। बापूजीके लेख मुझे कम ही याद आते हैं लेकिन उनके हाथका परोसा हुआ भोजन मुझे सदा याद आता है। और मैं मानता हूं कि उससे मेरे जीवनमें बहुत परिवर्तन हुआ है। यह है व्यक्तिगत सेवाका प्रभाव। व्यक्तियोंकी सेवामें समाज-सेवाका निषेध नहीं है। समाज गीताकी भाषामें अनिर्देश्य है निर्गुण है और व्यक्ति सगुण और साकार अतः व्यक्तिकी सेवा करना आसान है।

१७

ग्राम-सेवा और ग्राम-धर्म

हमें देहातियोंके सामने ग्रामसेवाकी कल्पना रखनी चाहिए, न कि राष्ट्र धर्मकी। उनके सामने राष्ट्र-धर्मकी बातें करनेसे लाभ न होगा। ग्राम धर्म उनके लिए जितना स्वाभाविक और सहज है उतना राष्ट्र-धर्म नहीं। इसलिए हमें उनके सामने ग्राम-धर्म ही रखना चाहिए, राष्ट्र-धर्म नहीं। ग्राम-धर्म सगुण साकार और प्रत्यक्ष होता है राष्ट्र-धर्म निर्गुण निराकार और परोक्ष होता है। बच्चेके लिए त्याग करना मानो सिखाना नहीं पड़ता। आपसके झगड़े मिटाना गांवकी सफाई तथा स्वास्थ्यका ध्यान रखना आहार-निर्भरताकी वस्तुओं और ग्रामके पुराने उद्योगोंकी जांच करना नये उद्योग खोज निकालना इत्यादि गांवके जीवन-व्यवहारसे संबंध रखनेवाली हरेक बात ग्राम-धर्ममें आ जाती है। पुरानी पंचायत-पद्धति नष्ट हो जानेसे देहातकी बड़ी हानि हुई है। झगड़े निपटानेमें पंचायतका बहुत उपयोग होता था। असेम्बलीके चुनावसे हमें यह अनुभव हुआ है कि देहातियोंको राष्ट्र-धर्म समझाना कितना कठिन है। सरदार वल्लभभाई और पंडित मालवीयजीके बीच मतभेद हो गया अब इसमें बेचारा देहाती समझे तो क्या समझे। उसके मनमें दोनों ही नेता समानरूपसे पूज्य हैं। वह किसे माने और किसे छोड़े? इसलिए ग्राम-सेवामें हमें । ग्राम-धर्म ही अपने सामने रखना चाहिए। वैदिक ऋषियोंकी भांति हमारी भी प्रार्थना यही

होनी चाहिए कि "ग्रामे अस्मिन् अनातुरम्" —हमारे गाँवमें बीमारी न हो।

दूसरी बात जो मैं कहना चाहता हूँ वह है सेवकके रहन-सहनके सम्बन्धमें। सेवककी आवश्यकताएं देहातियोंसे कुछ अधिक होनेपर भी वह काम-काज कर सकता है। लेकिन उसकी वे आवश्यकताएं विजातीय नहीं सजातीय होनी चाहिए। किसी सेवकको दूधकी आवश्यकता है, दूधके बिना उसका काम नहीं चल सकता और देहातियोंको तो घी-दूध आसानीसे नसीब नहीं होता तो भी देहातमें रहकर वह दूध ले सकता है, क्योंकि दूध सजातीय अर्थात् देहातमें पैदा होनेवाली चीज है। किन्तु मुलायम साबुन देहातमें पैदा होनेवाली चीज नहीं है। इसलिए साबुनको विजातीय आवश्यकता समझना चाहिए और सेवकको उसका उपयोग नहीं करना चाहिए। कपड़े साफ रखने की बात लीजिये। देहाती लोग गन्दे कपड़े पहने रहते हैं, लेकिन सेवकको [illegible] उन्हें कपड़े साफ रखनेके लिए समझाना चाहिए। इसके लिए बाहरसे साबुन मंगाना और उसका प्रचार करना मैं ठीक नहीं समझता। देहातमें कपड़े साफ रखनेके लिए जो साधन उपलब्ध हैं या हो सकते हैं, उन्हींका उपयोग करके कपड़े साफ रखना और लोगोंको उसके विषयमें समझाना सेवकका धर्म हो जाता है। देहातमें उपलब्ध होनेवाले साधनोंसे ही जीवन की आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेकी ओर उसकी हमेशा दृष्टि रहनी चाहिए। सजातीय वस्तुका उपयोग करनेमें भी सेवकका विवेक और संयमकी आवश्यकता तो रहती ही है। असंयमका और देहातमें पूरा न हो सकेगा।

खादी प्रचारके कामके सम्बन्धमें सेवकोंका ही उपयोग हुआ है। एक गांवके रहनेवाले कातनेकी अभी खोज हो रही है। मैं उसे एक भावना समझता हूं। लेकिन मेरे काम तो एक नया आश्रम चलता है और वह है मगनवाड़ी। मैं सचमुच ही उसे नया आश्रम करना मानता हूँ। उन्नतिके लिए [illegible] लेकिन ग्रामोद्योग संघ-सम्बन्धके लिए वह भी ही उपयुक्त है। मगनवाड़ी बाद आप कितना ही बड़ा क्यों न हो वह सर्वोपरि काम नहीं है सकता। ग्रामोद्योग उत्थान तो गांवोंके अन्दर रहनेवाले ही कर सकते हैं पर सभी सबके लिए है। इसकी सार्थकता है। यहां

कहीं यह चलेगी वहां वस्त्र-स्वावलंबनका कार्य अच्छी तरह चलेगा। मुझसे बिहारके एक भाई कहते थे कि वहां मजदूरीके लिए भी तकलीका उपयोग हो रहा है। तकलीपर कातनेवालों को वहां हफ्तेमें तीन-चार पैसे मिल जाते हैं लेकिन उनके कातनेकी जो गति है, वह तीन या चार गुनी तक बढ़ सकती है। गति बढ़ानेसे मजदूरी भी तीन या चार-पांच गुना तक मिल सकेगी। यह कोई मामूली बात नहीं है। हमारे देशमें एक व्यक्तिको चौदह पन्द्रह गज कपड़ा चाहिए। इसके लिए प्रतिदिन सिर्फ एकसौ तार कातनेकी जरूरत है। यह काम तकलीपर आध घंटेमें हो सकता है। चरखा बिगड़ता भी रहता है पर तकली तो हमेशा आपकी सेवामें हाजिर रहती है। इसी लिए मैं उसे सदा आपका चरखा मानता हूं।

देहातमें सफाईका काम करनेवाले सेवक कहते हैं कि कई दिनतक यह काम करते रहनेपर भी देहाती लोग हमारा साथ नहीं देते। यह शिकायत ठीक नहीं। स्व-धर्म समझकर ही अगर हम यह काम करेंगे तो अकेले रह जानेपर भी हमें उसका दुःख न होगा। सूर्य अकेला ही होता है न? यह मेरा काम है। दूसरे करें या न करें, मुझे तो अपना काम करना ही चाहिए—यह समझकर जो सेवक कार्यारंभ करेगा उसको सिंहावलोकन करनेकी यानी यह देखनेकी कि मेरे पीछे मददके लिए कोई और है या नहीं आवश्यकता ही न रहेगी। सफाई-संबंधी सेवा है ही ऐसी चीज कि वह व्यक्तिकी अपेक्षा समाजकी ही अधिकतया होगी और होनी चाहिए। परन्तु सेवककी दृष्टि यह होनी चाहिए कि अन्य लोग अपनी जिम्मेदारी नहीं समझते इसलिए उसे पूरा करना उसका कर्तव्य हो जाता है। उसमें सेवकका स्वार्थ भी है क्योंकि मार्गकी गन्दगीका असर उसके स्वास्थ्यपर भी अवश्य पड़ता है।

औषधि-वितरणमें एक बातका हमेशा खयाल रखना चाहिए कि हम अपने कार्यसे देहातियोंको पशु तो नहीं बना रहे हैं। उनको तो स्वावलंबी बनाना है। उनको स्वाभाविक तथा संयमशील जीवन और नैसर्गिक उपचार सिखाने चाहिए। रोगको दवाइयां देनेकी अपेक्षा हमें ऐसा बर्ताव करना चाहिए कि रोग होने ही न पावे। यह काम देहातियोंको अच्छी और स्वच्छ आदतें सिखानेसे ही हो सकता है।

१८

ग्राम-लक्ष्मीकी उपासना

हमारा यह देश बहुत बड़ा है। इसमें सात लाख देहात हैं। हमारे देशमें शहर बहुत थोड़े हैं। अगर औसत निकाला जाय तो दसमें एक आदमी शहरमें रहता है और नौ देहातमें रहते हैं। पैंतीस करोड़ लोगोंमेंसे ज्यादा-से-ज्यादा चार करोड़ शहरमें रहते हैं। इकतीस करोड़ देहातमें रहते हैं। लेकिन इन इकतीस करोड़का ध्यान शहरोंकी तरफ लगा रहता है। पहले ऐसा नहीं था। देहात मुहताज होकर शहरोंका मुंह नहीं ताकते थे। लेकिन आज सारी स्थिति बदल गई है।

आज किसानके दो ईश्वर होगये हैं। आजतक एक ही ईश्वर था। किसान आकाशकी तरफ देखता था—पानी बरसानेवाले ईश्वरकी तरफ देखता था। लेकिन आज चीजोंके दाम ठहरानेवाले देवताकी तरफ देखना पड़ता है। इसीको आस्मानी-सुलतानी कहते हैं। आसमान भी रक्षा करे और सुलतान भी हिफाजत करे। परमात्मा खूब बरसे और बहुत भरपूर माल दे। इस तरह इन देवताओंका—एक आसमानका और दूसरा धन पैसाका—किसानको पूजना पड़ता है। लेकिन ऐसे दो-दो भगवान काम नहीं आयेंगे। आपको कहते हैं ऊपरवाले ईश्वरको बनाये रखो और इस दूसरे देवताको छोड़ो। एक ईश्वर बस है।

अब इस दूसरे देवताकी याने शहरोंके बन्धनकी शक्तिसे छुटकारा पानेका उपाय मैं तुम लोगोंको बतलाता हूं। हमारे गांवकी सारी लक्ष्मी यहांसे उठकर शहरोंमें चली जाती है। अपने पीछेसे धन बहती है। इस ग्राम-लक्ष्मीके पैर गांवमें नहीं ठहरते। यह शहरकी तरफ दौड़ती है। पहाड़ पर पानी भरपूर बरसता है लेकिन वह वहां कम ठहरता है। वह चारों तरफ भाग निकलता है। पहाड़ बेचारा कोरा-का-कोरा नंग-धड़ंग बना हुआ खड़ा-का-खड़ा रह जाता है। देहातकी लक्ष्मी इसी तरह चारों दिशाओंमें भाग खड़ी होती है। शहरोंकी तरफ बेतहाशा दौड़ती है। अगर हम उसे रोक सकें तो हमारे गांव सुखी होंगे।

यह देहाती लक्ष्मी कौन-कौनसे रास्तोंसे भागती है सो देखो। उन रास्तोंको बन्द कर दो। तब यह रुकी रहेगी। उसके भागनेका पहला रास्ता बाजार है, दूसरा शादी-ब्याह, तीसरा साहूकार, चौथा सरकार और पांचवां व्यसन। इन पांचों रास्तोंको बन्द करना शुरू करें।

सबसे पहले ब्याह-शादीकी बात लीजिये। तुम लोग ब्याह-शादीमें कोई कम पैसा खर्च नहीं करते। उसके लिए कर्ज भी करते हो। लड़की बड़ी हो जाती है, अपने ससुरालमें जाकर गिरस्ती करने लगती है। लेकिन शादीके कर्जसे उसके मा-बाप मुक्त नहीं होते। यह रास्ता कैसे मूंदा जाय सो बताता हूं। तुम कहोगे 'खर्चमें कतर-ब्योंत करो। भोज न दो, समारोहकी क्या जरूरत है? —वगैरा-वगैरा। यह ठीक नहीं। समारोह खूब करो। ठाठ-बाटमें कमी नहीं होनी चाहिए। लेकिन मैं अपनी पद्धतिसे कम खर्चमें पहलेसे भी ज्यादा ठाठ-बाट तुम्हें देता हूं।

लड़के-लड़कियोंकी शादी मा-बाप ठीक करें। लेकिन वहां उनका काम खतम हो जाना चाहिए। शादी करना, समारोह करना यह सारा काम गांवका होगा। मा-बाप शादीमें एक पाई भी खर्च नहीं करेंगे। जो करेंगे उनको जुर्माना होगा, ऐसा कायदा गांववालोंको बना लेना चाहिए।

लड़के जितने अपने मा-बापके हैं उतने ही समाजके भी हैं। मा-बापके मर जानेपर क्या वे घूरेपर फेंक दिये जाते हैं? गांव उन्हें सम्हालता है, मदद करता है। शादी भी करेगा। आप इस रास्तेपर जाकर देखिये। प्रयोग कीजिये। साहूकारका ऋण कम होता है या नहीं देखिये। गांवका कर्ज घटेगा। झगड़े कम होंगे। सहयोग और आत्मीयता बढ़ेगी।

दूसरा रास्ता बाजारका है। तुम देहाती लोग कपास बोते हो। लेकिन सारा-का-सारा बेच देते हो। फिर बुआईके वक्त बिनौले शहरसे मोल लाते हो। कपास यहां पैदा करते हो। उसे बाहर बेचकर बाहरसे कपड़ा खरीद लाते हो। गन्ना यहां पैदा करते हो। उसे बेचकर शक्कर बाहरसे लाते हो। गांवमें मूंगफली, तिल्ली और अलसी होती है। लेकिन तेल शहरकी तेल-मिलसे लाते हो। अब इतना ही बाकी रह गया है कि यहांसे अनाज बेचकर रोटियां बम्बईसे मंगाओ। तुम्हें तो बैल भी बाहरसे

जाने पड़ते हैं। इस तरह सारी चीज बाहरसे मंगाओगे तो कैसे पार पाओगे।

बाजारमें क्यों जाना पड़ता है? जिन चीजोंकी जरूरत होती है उन्हें भरसक गांवमें ही बनानेका निश्चय करो। स्वराज्य माने स्वदेशका राज्य अपने गांवका राज्य। घर जानेपर तुम लोग सोचो कि अपने गांवमें क्या-क्या बना सकते हो। देखो तुम्हें कौन-कौन-सी चीज चाहिए। तुम्हारी खेतीके लिए बढ़िया बैल चाहिए। उन्हें मोल कहांतक लोगे? तुम्हें बढ़िया बैल यहीं गांवमें पैदा करने चाहिए। गायोंका अच्छी तरह पालन करो। एक-दो बढ़िया सांड उनमें रखो। पानीके सबको अच्छा करो। इससे गायोंकी नस्ल सुधरेगी। अच्छे बैल मिलेंगे। बैलोंके लिए खापरखेत, गाड़ी वगैरा चाहिए। गांवके इन चमड़ा वगैरासे यहीं बना लो। तुम्हें कपड़ेकी जरूरत है उसे भी यहीं बनाना चाहिए। गांवमें बुनकर न हो तो लड़कोंको सिखा जाय। सूतको अपने घरमें कातना चाहिए। इतना समय जरूर मिल जायगा। मूंगफली गांवमें ही होती है। यहीं घानी शुरू करो तो यहीं ताजा तेल मिलेगा। गन्ना गांवमें होता है। उसका गुड़ बनाओ। शक्करकी बिलकुल जरूरत नहीं है। गुड़ गरम होता है लेकिन पानीमें मिलानेसे ठंडा हो जाता है। गुड़ स्वास्थ्यके लिए पोषक द्रव्य है। गुड़ बनाओ। कोई चमारका काम मामूली। गांवके चमारसे ही जूते बनवाओ। इस तरह गांवमें ही सारी चीज बननी चाहिए। पुराने जमानेमें हमारे गांव ऐसे स्वावलंबी थे। उन्हें सच्चा स्वराज्य प्राप्त था।

गांवका ही अनाज खाना है, गांवका ही तेल खाना है, गांवका ही गुड़ खाना है। जूता गांवका ही और गांवके ही बैल पालना है, घरका सिला धागा। इस रीतिसे अपनाओगे। फिर देखो तुम्हारे गांव कैसे लहलहाते हैं? तुम कहोगे—यह जरूरत पड़ेगा। यह केवल कल्पना है। मैं एक उदाहरणसे समझाता हूं। मान लो तुम्हारे गांवमें एक बनिया है, एक बुनकर है, एक तेली है, एक चमार है। यह चमार क्या करता है? वह कहता है, मैं तेलीसे तेल नहीं लूंगा। वह बम्बईका लेता है। तेली क्या कहता है? 'गांवके चमारका बनाया हुआ जूता महंगा है। मैं बम्बईका जूता खरीदूंगा।' बुनकर कहता है 'मैं गांवका गुड़ नहीं लूंगा। मुजफ्फरनगरका अच्छा होता है।' किसान

कहता है "मैं बुनकरका कपड़ा नहीं लूंगा। मिलका लूंगा। वह सस्ता होता है।" इस तरह आज हमने एक-दूसरेको मारनेका धंधा शुरू किया है। एक-दूसरेको निबाह लेना धर्म है। उसे छोड़कर हम एक दूसरेको मटियामेट कर रहे हैं।

लेकिन जरा मजा देखिये। तेली चार आने ज्यादा देकर चमारसे महंगा जूता खरीदता है। उसके जेबसे आज चार आने गये। आगे चलकर वह चमार तेलीसे चार आने ज्यादा देकर महंगा तेल खरीदता है। आने उसके चार आने लौट आते हैं। अर्थात् वह महंगा नहीं पड़ता। जहां परस्परिक व्यवहार होता है, वहां महंगा जैसा कोई शब्द ही नहीं है। गये हुए पैसे दूसरे रास्तेसे लौट आते हैं। मैं उसकी महंगी चीज खरीदता हूं, वह मेरी महंगी चीज खरीदता है। हिसाब बराबर। इसमें क्या बिगड़ता है? जुलाहेने खादी बनाई और तेलीने वह खरीद ली। तेलीके लिए खादी महंगी है, जुलाहेके लिए तेल महंगा है। बात एक ही है। तेलमें जो पैसे गये वे खादीमें वापस मिले और खादीमें गये सो तेलमें मिल गये। 'इस हाथ देना उस हाथ लेना' इस तरहका भाईचारेका सहयोगका व्यवहार पहले होता था लेकिन वह आज लोप हो गया है।

देहातमें प्रेम होता है, भाईचारा होता है। देहातके लोग अगर एक-दूसरेकी जरूरतोंका खयाल नहीं करेंगे तो वह देहात ही नहीं है। वह तो शहरके जैसा हो जायगा। शहरमें कोई किसीको नहीं पूछता। सभी अपने अपने मतलबके लिए वहां इकट्ठे होते हैं जैसे गोबरका ढेर देखकर सैकड़ों कीड़े जमा होते हैं। उस सड़नेवाले गोबरमें कीड़ा और घुसघुसाते हैं। वे कीड़े वहां क्यों इकट्ठे हुए? किसी कीड़ेसे पूछा "यहां क्यों आया? तेरे कोई भाई बहन यहां है?" वह कीड़ा कहेगा "मैं गोबर खानेके लिए यहां आया हूं और गोबर खानेमें चूर हूं। मुझे ज्यादा बातचीतकी फुरसत नहीं है।" समाजका यह आखिरकी अवस्था बैठती है तो क्या प्रेमके कारण। उसी तरह शहरोंमें अमीरोंके मकान जो आपसमें मिलजुलकर रहते हैं कीड़ियोंकी भांति जिसका तांता लगा रहता है वह क्या प्रेमके लिए? शहरमें स्वार्थ और लोभ है। गांव प्रेमसे बनता है। गांवमें आग लग जाय तो सब लोग अपना अपना काम छोड़कर दौड़ आयेंगे। अगर कोई बैठा रहे

ही रहेगा ? लेकिन गांवमें क्या दशा होगी ? सब कोई कहेंगे "गांवोंका क्या जायगा मुझे अपना काम है।" इसीलिए एक कविने कहा है, "गांवों-को ईश्वर बनाता है और शहरोंको मनुष्य।"

हमारे बाप-दादा गांवोंमें रहते थे। आज तो हरकोई शहरमें जाता है। वहां क्या धरा है ? चीज पत्थर है और चूना है। असल लक्ष्मी देहातमें है। देहातमें धन लगते हैं। खेतोंमें गेहूं होता है कपास होता है। यही सच्ची लक्ष्मी है। यह सच्ची लक्ष्मी छोड़कर सफेद या पीले पत्थर मत लो। तुम शहर जाकर वहांसे सस्ती चीज लाते हो। लेकिन कभी ऐसा करते समय तो देहात वीरान दिखाई देंगे। अगर देहातोंकी खुशी देखना है तो शहरके बाजारको छोड़ो। गांवकी चीजें खरीदो। जो चीज गांवमें बन ही न सकती हो वह अलबत्ता शहरसे लाओ। शहरसे लानेमें भी अगर वह दूसरे गांवमें होती हो तो वहांसे लाओ। आज तो वहां सुविधा नहीं होती तो सोलापुरसे लाओ। वहां अच्छे जूते नहीं बनते तो सोलापुरसे लो। वहां रवरेत न हो तो नागपुरसे मंगाकर बचाओ। नागपुरका रुपया तुम्हारे यहांसे मुड़ लेकर जायगा तुम उसके बदले अपने रखवाओ। तुम्हारे गांवमें जो चीजें न बनती हों उनके लिए दूसरे गांव खोजो। शहरसे कोई चीज खरीदने जाओ तो पहले यह सवाल पूछो कि क्या यह चीज देहातमें बनी है ?—हाथकी बनी हुई है ? पहले उन चीजोंको पसंद करो। यथाशक्य हो सके अपने बना हुआ शहरका माल लिखित जानो।

तुम्हारी ग्राम-पंचायतोंको यह काम अपने जिम्मे लेना चाहिए, गांवके झगड़े-टंटे दूर करनेका काम तो पंचायतोंका है ही लेकिन गांवमें कौन-कौन सी चीज बाहर जाती है कौन-कौनसी बाहरसे आती है इसका ध्यान भी पंचायतको रखना चाहिए। नक्शा बनाकर फेहरिस्त बनानी चाहिए। बाहरसे वे चीज बाहरसे क्यों आती हैं इसकी जांच-पड़ताल करके उन्हें गांवमें ही बनवानेकी कोशिश करनी चाहिए। सुनकर नहीं है ? दूसरे गांवको तो लड़के सीखनेके लिए भेज दो। हरेकको यह नरन्य कर लेना चाहिए कि गांवकी ही चीज खरीदूंगा। जो चीज मेरे गांवमें बनती न हो उसे वहीं बनवानेकी कोशिश करूंगा। गांवके नेताओंको इसकी तरफ ध्यान देना चाहिए। कैसे होगा ? क्या होगा ? —न कहो। उठो काम शुरू कर दो।

झट-से सब हो जायगा। फिर तुम ही चीजोंके दाम ठहराओगे। तेली तेल किस भाव देवे, चमार जूता कितनेमें बना दे, बुनकरकी बुनाई क्या हो?—सब-कुछ तुम तय करोगे। जब सभी एक-दूसरेकी चीजें खरीदने लगेंगे तो सब सस्ता-ही-सस्ता होगा। 'सस्ता' और 'महँगा' ये शब्द ही नहीं रहेंगे।

बतलाओ तुम्हारे यहां क्या-क्या नहीं हो सकता? एक नमक नहीं हो सकता। ठीक, नमक लाओ बाजारसे। दो मिट्टीका तेल। दरअसल तो मिट्टीके तेल की जरूरत नहीं होनी चाहिए। परंतु उसके बिना काम ही नहीं चलता हो तो खरीदो। तीसरी चीज मसाले। मिर्च तो यहां होती ही है। दरअसल तो मिर्च भी कम कर देनी चाहिए। मिर्चकी शरीरको जरूरत नहीं है। दियासलाई खरीदनी पड़ेगी। कुछ औजार खरीदने पड़ेंगे। दूसरा कोई चारा नहीं है। ये चीजें खरीदो। मिट्टीका तेल धीरे-धीरे कम करो। उसके बदले घानी का तेल काममें लाओ।

परंतु इनके सिवा बाकी सारी चीजें गांवमें ही बनाओ। खादी गांवमें बननी चाहिए। खादीके कपड़ेके लिए सूतके बटन भी यहीं बन सकते हैं। इन दूसरे बटनोंकी क्या जरूरत? अगर छातीपर ये बटन न हो तो क्या प्राण छटपटायेंगे? ऐसी बात तो नहीं है। तो फिर इन्हें फेंक दो। इस कंठीकी क्या जरूरत है? उसके बिना चल नहीं सकता? ऐसी अनावश्यक चीजें काममें लाओगे तो कड़िया पैरोंको जंजीरकी तरह जकड़ेगी या फांसीकी रस्सीकी तरह गला घोंट देगी। बाहरसे ऐसी कड़िया लाकर अपने शरीरको मत सजाओ। भगवान् श्रीकृष्ण कैसे सजता था? वह क्या बाहरसे कड़िया लाता था? वृन्दावनमें मोरोंके जो पंख गिर जाते थे उन्हींसे वह अपना शरीर सजाता था। पंख उखाड़कर नहीं लाता था। वह मोरके पंखसे सजता था। तो क्या सिड़ी हो गया था? क्या पागल हो गया था? "मेरे गांवके मोर हैं। उनके पंखोंसे मैं अपने शरीरको सजाऊं तो कोई हर्ज नहीं है। इससे उन मोरोंकी पूजा भी है"—ऐसी भावनासे वह मोरमुकुट लगाता था। और गलेमें क्या पहनता था? वनमाला। देखो यमुनाके तीरके फल—ये हजारों मिलते हैं। गरीबोंको मिलते हैं, अमीरोंको मिलते हैं। वह ग्वालेकी वनमाला, देहातकी वनमाला गलेमें पहनता था। और

बजाता क्या था ? मुरली। देहातके बांसकी बांसुरी—वह अनमोल था। यही उसका वाद्य था।

हमारे एक मित्र जर्मनी गये थे। वह वहांका एक प्रसंग सुनाते थे। "हम सब विद्यार्थी इकट्ठे हुए थे। फ्रांसीसी जर्मन अंग्रेज जापानी सभी एक साथ बैठे थे। सबने अपने-अपने देशके राष्ट्रीय वाद्य बजाकर दिखाये। फ्रांसीसियोंने वायोलिन बजाया। अंग्रेजोंने अपना वाद्य बजाया। मुझसे कहा गया 'तुम हिंदुस्तानी वाद्य सुनाओ।' मैं चुपचाप बैठा रहा। वे मुझसे पूछने लगे 'तुम्हारा भारतीय वाद्य कौन-सा है ?' मैं उन्हें बता नहीं सका।

मैंने तुरन्त अपने उस मित्रसे कहा "अजी हमारा राष्ट्रीय वाद्य बांसुरी है। गांवोंमें वह पाई जाती है। सीधी-सादी और मीठी। कृष्ण भगवान्ने उसे पुनीत किया है। एक बांसकी नली ले ली उसमें छेद बना लिये। बस वाद्य तैयार हो गया।

ऐसा वाद्य श्रीकृष्ण बजाता था। वह श्रीकृष्णका स्वदेशी देहाती वाद्य था। अच्छा श्रीकृष्ण खाता क्या था ? बाहरकी चीजें लाकर खाता था ? वह अपने गोकुलकी मक्खन-मलाई खाता था। दूसरोंको खाना सिखाता था। ग्वालिनें गोकुलकी यह लक्ष्मी मथुरा ले जाती थीं। परन्तु गांवकी इस अन्नपूर्णाको कन्हैया बाहर नहीं जाने देता था। वह उसे लूटकर सबको बांट देता था। सारे गोकुलके बालक उसने हृष्ट-पुष्ट किये। जिन्होंने गोकुलपर चढ़ाई की उनके दांत उसने अपने मित्रोंकी मददसे खट्टे किये। गोकुलमें रहकर भी वह क्या करता था ? गायें चराता था। उसने दावानल निगल लिया। आगे क्या किया ? देहातोंको सतानेवाले लड़ाई-झगड़ोंका खातमा किया। सब लड़कोंको इकट्ठा किया। प्रेम बढ़ाया। इस तरह यह श्रीकृष्ण गोपालकृष्ण है। वह तुम्हारे गांवका आदर्श है। गोपालकृष्णने गांवका वैभव बढ़ाया। गायोंकी सेवा की। ग्वालोंपर प्रेम किया। गांवके पशु-पक्षी गांवकी नदी गांवका गोवर्धन पर्वत—इन सबपर उसने प्रेम किया। गांव ही उसका देवता रहा। आगे चलकर वह द्वारिकाधीश बने। लेकिन फिर भी गोकुल आते थे फिर गाय चराते थे गोबरमें हाथ डालते थे गोशाला बुहारते थे वनमाला पहनते थे वंशी बजाते थे क्योंकि साथ

ग्वालबालोंके साथ खेलते थे। 'व्रजकिशोर' उनका प्यारा नाम था। 'गोपाल' उनका प्यारा नाम था। उन्होंने गोकुलमें असीम आनन्द और सुख पैदा किया।

गोकुलका सुख अमाप था। ऐसे गोकुलके अन्नके चार कणोंके लिए देवता तरसते थे। प्रभातमें ग्वालबाल जब भोजन करके दही और 'गोपाल कलेवा' खाकर यमुनाके जलमें हाथ धोने जाते थे तब देवता मछली बनकर वे जूठे अन्नकण खाते थे। उनके स्वर्गमें वह प्रेम था क्या? उन देवताओंके वैभवकी कमी नहीं थी। लेकिन उनके पास प्रेम नहीं था। हमारे शहर मानो स्वर्ग हैं न? वहाँ भाई चारा प्रेम नहीं है। वहाँ भोग है पैसे हैं परन्तु आनन्द नहीं है। अपने गाँवोंको गोकुलके समान बनाओ। तब वे शहर के अमरगण तुम्हारे गाँवकी अमर रोटीके लिए लालायित होकर दौड़ते आयेंगे। हम देहातोंको हरा भरा गोकुल बनाना है—स्वाश्रयी स्वावलम्बी आरोग्यसम्पन्न उद्योगशील प्रसन्न। तेलका कोल्हू चल रहा है, चरखा चल रहा है, पहिया घूम रहा है, कोल्हू चूँ-चर बोल रहा है, कुएँपर मोट चल रही है, चमार जूता बना रहा है, [illegible] बना रहा है और बंशी बजा रहा है—ऐसा गाँव बनने दो। अपनी करनीसे हमने गाँवोंको मरघट बनाया। आइये अब फिर उनको गोकुल बनायें।

गाँवके उद्योगोंका [illegible]। सम्पूर्ण गाँवका बनाओ। [illegible] बनाया। विदेशी चाकरकी मण्डियाँ और कल-कारखाने हमें नहीं चाहिए। अपने गाँवके देहोंके कल्याण—ग्राम-कल्याण—का। उनमें नाटक और दस्तकार बनाओ। गाँवके [illegible] लगाम करो [illegible]? बाहरसे चीज लाकर दस्तकार बनानेवालेको [illegible] गाँवके [illegible]। वे अमरोंके हाथ बढ़ाना चाहते हैं। उनके कौशल लाओ। हमारे धार्मिक उत्सव-त्यौहारोंके लिए क्या बाहरके माल चाहिए? गाँवके शुभ उत्सव चाहिए और घरू चाहिए। [illegible] चाहिए। यह क्या सिनेमा होगा? यह पवित्र नाटक खिलौना ही चाहिए। तुम्हारे गाँवके कुम्हारका बनाया हुआ चाहिए। ऐसा हमारे पुरुषार्थ गाँवको चीजोंकी कैसी कीमत बढ़ेगी। इस दृष्टिसे जागो। [illegible] आप। इधर उधर दुःखकी ही दुनिया दिखाई देने लगेगी। [illegible] और आनन्द दिखाई देने लगेंगे।

कोई दिनभर धू-धू बीड़ी फूंकते रहते हैं। कहते हैं बीड़ियां तो घर की ही हैं। वे बाहरसे नहीं आतीं। अरे भाई, जहर अगर घरका ही हो तो क्या खा लोगे? घरका जहर खाकर पूरी सोलह आने स्वदेशी मृत्युको स्वीकार करोगे? जहर चाहे घरका हो या बाहरका, त्याज्य ही है। उसी तरह सभी व्यसन बुरे हैं। उन सबको छोड़ना चाहिए। वे प्राणघातक हैं। शराबके बारेमें कहोगे तो पहले महाराष्ट्रमें शराब नहीं थी। महाराष्ट्रका पहला गवर्नर एलफिन्स्टन साहब था। उसने महाराष्ट्रका इतिहास लिखा है। उसमें वह कहता है "पेशवोंके राज्यमें शराबसे आमदनी नहीं थी। लेकिन आज तो गांव-गांवमें पियक्कड़ हैं। सरकार उनके उन्हें सुभीता कर देती है। लेकिन सरकार सुविधा कर देती है इसलिए क्या हम शराब पीयें? हिन्दुस्तानमें दो मुख्य धर्म हैं—हिन्दू-धर्म और इस्लाम। इन दोनों धर्मोंमें शराब पीना महान् पाप माना गया है। इस्लाममें शराब हराम है। हिन्दू-धर्ममें शराबकी गिनती पांच महापातकोंमें होती है। शराब पीकर आखिर हम क्या पाते हैं? प्राणोंका, कुटुम्बका, धनका और इन सबसे प्रिय धर्मका—सभी चीजोंका नाश होता है।

बीड़ी और शराबके बाद तीसरा व्यसन है बात बातमें तकरार करना। इन्होंने वकीलोंके राजमहल निर्माण किये। तकरार मत करो और अगर झगड़ा हो ही जाय तो गांवके चार पंच आदमी बैठकर उसका फैसला करो। जिस प्रकार और चीजें गांवकी ही हों उसी प्रकार न्याय भी गांवका ही हो। अदालतकी शरण न लो। अदालतें तुम्हारे गांवमें ही चाहिए। तुम्हारे खेतोंमें सबकुछ पैदा होता है। लेकिन न्याय तुम्हारे गांवमें न पैदा होता हो तो कैसे काम चलेगा? धान्य, ग्राम्य आचार, वस्त्र और गांवका ही न्याय हो। बाहरकी कचहरी अदालतें किस कामकी? चीजोंके लिए जिस तरह हम पराधीन न होंगे उसी तरह न्यायके लिए भी नहीं होंगे। प्रेमसे रहो। दूसरेको थोड़ा-बहुत अधिक मिल जाय तो भी वह गांवमें ही रहेगा। लेकिन दूर चला जानेपर, न हमें मिलेगा न तुम्हें मिलेगा। सारा भाग न जायगा। गांवके ही पंचोंमें परमेश्वर है। उसकी शरण लो।

मोहन वगैरा अन्य बातोंकी ऊहापोह यहां नहीं करता। जीवन निर्मल और विचारमय बनाओ। हरेक काम विवेक-विचारसे करो।

चौथी बात साहूकारकी है। तुम ही अपने घर कपास लोढ़कर बीजको मामूली मिलोंसे बचाकर रख लोगे, घरमें ही कपड़ा बना लोगे, मूंगफली सरसों घरमें रखकर गांवके कोल्हूसे तेल निकलवा लोगे, अदालत-कचहरियोंमें जाना बंद कर दोगे, गांवमें ही सारे झगड़े तय कर लोगे और मेरे बतलाये ढंगसे ब्याह-शादियां करोगे तो साहूकारकी जरूरत बहुत कम पड़ेगी। लेकिन इसपर भी सभी लोग साहूकारके पाशसे छुटकारा नहीं पायेंगे। कर्जदार फिर भी रहेंगे। लेकिन कर्जकी तादाद कम हो जायगी।

तुम्हारी कर्जदारीका सवाल स्वराज्यके बिना पूरी तरह हल नहीं होगा। स्वराज्यमें सबके हिसाब जांचे जायेंगे। जिस साहूकारको मूलधनके बराबर ब्याज मिल चुका होगा, उसका कर्ज अदा हो चुका, ऐसा घोषित किया जायगा। जिस साहूकारको मूलधन भी न मिला होगा, सूदके रूपमें भी न मिला होगा, उससे समझौता करेंगे। इसी तरहके उपायसे यह सवाल हल करना होगा। तटस्थ पंच मुकर्रर करके तहकीकातके बाद जो उचित होगा किया जायगा। तबतक मेरे बतलाये उपायोंसे काम लेना चाहिए और धीरे-धीरे साहूकारसे दूर रहनेकी कोशिश करनी चाहिए। परन्तु कर्ज चुकानेके फेरमें बाल-बच्चोंकी उपेक्षा न करो। बच्चोंको दूध-घी दो। भरपूर भोजन दो। लड़के सारे समाजके हैं। मैं अपने साहूकारसे कहूंगा "मैं अपने बच्चोंको थोड़ा दूध दूं? उन्हें दूधकी जरूरत है। बच्चे जितने मेरे हैं उतने ही साहूकारके भी हैं। ये सारे देशके हैं। लड़कोंको देनेमें तुम साहूकारको ही देते हो। इसलिए पहले भरपेट खाओ, बालबच्चोंको खिलाओ। घरकी जरूरतें पूरी होनेपर कुछ बकाया रहे तो लाकर दे दो। कर्ज तो देना ही है। खा-पीकर देना है। भोग-विलासके बाद नहीं। 'कुछ बचा तो ला दूंगा'—साहूकारसे कह दो।

इस तरह चार बातें बतलाईं। गांवकी लक्ष्मीके बाहर जानेके चार दरवाजे बताये और उन्हें बंद करनेके उपायोंकी दिशा भी बताई। अब पांचवीं बात सरकार है। यह सरकार कैसे बस की जाय? तुम अपनी चीजें बनाने लगो, अपने गांवमें खपाने लगो, तो सरकार अपने-आप सीधी हो जायगी। सरकार यहां क्यों रहती है? विलायतका माल आसानीसे तुम बेवकूफ हाथ बिक सकता है, इसलिए। हम बुद्धिमान बनकर अगर अपने

अब स्वावलम्बी बनानेमें तो सरकार अपने-आप खतम हो जायगी। जिस चीजकी जरूरत हो उसे गांवमें ही बनाओ। जो इस गांवमें न बन सके उसे दूसरे गांवसे लाओ। शहरके कारखानोंका बहिष्कार करो। विदेशी चीजोंकी तो बात ही कौन पूछता है? विदेशी और स्वदेशी कारखानोंको तुम अपने हाथसे जो लाभ पहुंचाते हो, उसे बन्द करो। आपसमें एकता करो। झगड़ा-झगड़ा छोड़ दो। अगर लड़ो भी तो आपसमें ही फैसला कर लो। कचहरी अदालतका मुंह न देखनेका प्रबन्ध करो। गांवकी ही चीज गांवका ही न्याय। अगर ऐसा करोगे तो 'एक पंथ दो काज' होंगे। दरिद्रनारायणका कष्ट दूर होगा और सरकार खतम हो जायगी। तुम इस तरह स्वावलम्बी निर्भय उद्यमी और हिम्मतवर रहनेवाले बनो। तब सरकार तुम्हारा हक दिये बिना रह ही नहीं सकती। तुम्हारी इतनी ताकत बढ़नेपर भी अगर सरकार तुम्हारा हक न देगी तो फिर सत्याग्रह तो है ही। उस हालत में जो सत्याग्रह होगा वह ऐसा पचास-साठ हजारका टूटपूंजिया सत्याग्रह न होगा। उसमें तो पचास-साठ लाख लोग शरीक होंगे।

तुम लगानके रूपमें दस हजार रुपये देते हो। लेकिन कपड़ेके लिए पच्चीस हजार देते हो। अब समझो कि यह सरकार यहांसे जल्दी नहीं जानेवाली। उसका लगान कम नहीं होता। स्वराज्य मिलनेपर कम करेंगे। लेकिन वह स्वराज्य जब होगा तब होगा। फिर भी अगर कपड़ा गांवमें ही बनानेका प्रबन्ध कर लें तो क्या होगा। हरेकको तीन सेर रुईकी जरूरत होगी। हर कुटुम्बमें अगर पांच आदमी हों तो साढ़े सेर रुई हुई। लोगोंके लिए जितने बिनौलोंकी जरूरत हो उतनी बढ़िया कपास खेतमें बोकर घर घर ही कातो और बढ़िया बिनौले निकाल। जो रुई होगी उसमेंसे अपने परिवारके कपड़ेके लिए आवश्यकतानुसार रख लो और बाकी को बेच दो। की आमदनी उसकी नाम भर रुईके दाम सवा रुपया होंगे। बत्तीससौ आदमियोंके चार-पांच हजारकी ही रुपयेकी होगी। कपड़ा पच्चीस हजारका होगा। लगभग पांच हजार बचा लीजिये तो बीस हजार गांवमें रहेंगे। लगानमें दस हजार न जायंगे लेकिन तुम बीस हजार बचाओगे। इसीलिए तो मैं कहता हूं कि खादी ही स्वराज्य है। अपना खादीसे बचा हुआ बीस हजार रुपया गांवमें रहता। तब स्वराज्य मिल जाय तो क्या होगा?

लगान आधा यानी दस हजारका पांच हजार, हो जायगा। यानी तुम्हारे पांच हजार रुपये बचेंगे। लेकिन खादी बरतनेसे बीस हजार बचेंगे। इसलिए वास्तविक स्वराज्य किस वस्तुमें है यह जानो।

पहले दूसरे कई राज्य हुए तो भी देहातका यह वास्तविक स्वराज्य कभी नष्ट नहीं हुआ था। इसीलिए हमें रोटियोंके लाले नहीं पड़े। परंतु इस राज्यमें यह खादीका स्वराज्य देहाती उद्योग-धंधों का स्वराज्य नष्ट हो गया है। इसीलिए देहात वीरान और उजाड़ दिखाई देने लगे। इंग्लैंडका मुख्य आधार कर या किसान नहीं है बल्कि करोड़ों रुपयेका व्यापार है। लगानके रूपमें उसे दस हजार ही मिलेंगे। लेकिन तुम्हें कपड़ा बेचकर वह बीस हजार ले जायगा। शक्कर, घासलेट वगैरा सैकड़ों ऐसी ही चीजें हैं। इसलिए वास्तविक स्वराज्यको पहचानो। हम सरकारको अपने पराक्रमसे कब निकाल सकेंगे सो देखा जायगा। परंतु तबतक मेरे बतलाये उपायोंसे अपने गांव स्वावलंबी उद्यमी प्रेममय बनाओ। इसीमें सबकुछ है।

१९

स्वाध्यायकी आवश्यकता

देहातमें जानेवाले हमारे कार्यकर्ताओंमेंसे अधिकांश उत्साही नवयुवक हैं। वे काम शुरू करते हैं उमंग और मजासे लेकिन उनका वह उत्साह अंततक नहीं टिकता। देहातमें काम करनेवाले एक भाईका खत मुझे मिला था। लिखा था — 'मैं सफाईका काम करता तो हूं लेकिन पहले उसका जो असर आसपासवालोंपर होता था अब नहीं होता। इतना ही नहीं बल्कि वह तो मानने लगे हैं कि इसको कहींसे तनख्वाह मिलती है इसीलिए यह सफाईका काम करता है। अन्तमें उस भाईने पूछा है कि क्या अब इस कामको छोड़ कर दूसरा काम हाथमें ले लिया जाय ?

जो कार्यकर्ताओंको अपने काममें थकान उत्पन्न होने लगती है और यह हाल सिर्फ कार्यकर्ताओंका नहीं बल्कि उन्हें शिक्षकों और नेताओंकी भी यही हालत है। इसका मुख्य कारण मुझे एक ही मालूम होता है। वह है स्वाध्याय का अभाव। यहांपर 'स्वाध्याय' शब्दका जिस अर्थमें मैं उपयोग करता हूं उसे बता देना आवश्यक है। स्वाध्यायका अर्थ मैं यह नहीं करता कि एक किताब पढ़कर फेंक दी फिर दूसरी ली। दूसरी लेनेके बाद पहली भूल भी गये। इसको मैं स्वाध्याय नहीं कहता। 'स्वाध्याय' के मानी हैं एक ऐसे विषयका अभ्यास जो सब विषयों और कार्योंका मूल है, जिसके ऊपर बाकीके सब विषयोंका आधार है लेकिन जो खुद किसी दूसरेपर आश्रित नहीं। उस विषयमें दिमागसे थोड़े समयके लिए एकाग्र होनेकी आवश्यकता है। अपने-आपको और जानने आदि अपने सब कामोंको उतने समयके लिए बिल्कुल भूल जाना चाहिए। अपने स्वार्थके संसारमें जितनी बाधाएं और कठिनाइयां पैदा होती हैं वे सभी इस परमार्थी कार्यमें भी खड़ी हो सकती हैं और यह भी संसारका एक व्यवसाय बन जाता है। अगर कोई समझता हो कि परमार्थी काम होनेकी वजहसे स्वार्थी संसारकी झंझटसे मुक्त है तो यह समझ खतरनाक है। इसलिए जैसे कुछ समयके लिए संसारसे अलग होनेकी आवश्यकता होती है वैसे ही इस कार्यसे भी अलग होनेकी आवश्यकता है क्योंकि वास्तवमें यह काम केवल भावनाका नहीं है, उसमें बुद्धिकी भी आवश्यकता है। भावना तो पशुपक्षियोंमें भी होती है लेकिन उनमें बुद्धि भी सूनता है। उसे प्राप्त करना चाहिए। बुद्धि और भावना एकदम अलग-अलग चीजें हों सो नहीं है। इस विषयमें मैं एक उदाहरण दिया करता हूं।

सूर्यकी किरणोंमें प्रकाश है और उष्णता भी है। उष्णता और प्रकाशको तार्किक पृथक्करणसे अलग-अलग कर सकते हैं। फिर भी जहां प्रकाश होता है वहां उसके साथ उष्णता भी होती ही है। इसी तरह जहां सच्ची बुद्धि है वहां सच्ची भावना है और जहां सच्ची भावना है वहां सच्ची बुद्धि है ही। उनका तार्किक पृथक्करण हम कर सकते हैं लेकिन दरअसल वे एकरूप ही हैं। कोई सोचता हो कि हमें बुद्धिसे कोई मतलब नहीं है, भावनाकी जरूरत है और इसके लिए भावनाका

होना काफी है तो वह गलत सोचता है। इस बुद्धिकी प्राप्तिके लिए स्वाध्यायकी आवश्यकता है। विद्वानोंको भी ऐसे स्वाध्यायकी जरूरत है। फिर कार्यकर्ता तो भला है न? उसको तो स्वाध्यायकी विशेष रूपसे जरूरत है। इस विषयमें बहुत-से कार्यकर्ता सोचते हैं कि बीच-बीचमें शहरमें जाकर पुस्तकालयमें जाना, मित्रोंसे मिलना आदि बातें ग्राम सेवाके लिए उपयोगी हैं, इनसे उत्साह बढ़ता है और उस उत्साहको लेकर फिर देहातमें काम करनेमें अनुकूलता होती है। लेकिन वे नहीं जानते कि ज्ञान और उत्साहका स्थान शहर नहीं है। शहर ज्ञानियोंका अड्डा नहीं है।

उपनिषद्में एक कहानी है। एक राजासे किसीने कहा कि एक विद्वान् ब्राह्मण आपके राज्यमें है। उसको खोजनेके लिए राजाने नौकर भेजे। सारा नगर छान डालनेके बाद भी उनको वह विद्वान् नहीं मिला। तब राजाने कहा "अरे, ब्राह्मणको जहां खोजना चाहिए वहां जाकर ढूंढो। तब वे लोग जंगलमें गये और वहां उनको वह ब्राह्मण मिला। यह बात नहीं कि शहरमें कोई तपस्वी मिल ही नहीं सकता। संभव है कभी-कभी शहरमें भी ऐसा मनुष्य मिल जाय लेकिन वहांका वातावरण उसके अनुकूल नहीं। आत्माका पोषण-रक्षण आजकल शहरोंमें नहीं होता। देहातमें निसर्गके साथ जो प्रत्यक्ष संबंध रहता है वह उत्साहके लिए अत्यन्त आवश्यक है। शहरमें निसर्गसे भेंट कहां? जंगलमें तो नदी पहाड़ जमीन सब चीजें वहीं सामने दिखाई देती हैं और जंगलके पास तो देहात ही होते हैं शहर नहीं। सिर्फ उत्साह लेनेके लिए ग्रामसेवकोंको शहरमें आना पड़े इसके बजाय शहरवाले ही कुछ दिनोंके लिए देहातमें जाकर कार्यकर्ताओंसे मिलते रहें तो अधिक अच्छा हो। असलमें उत्साह तो दूसरी ही जगह है। वह जगह है अपनी आत्मा। उसके चिंतनके लिए कम-से कम रोज एकाध घंटा अलग निकालना चाहिए। तस्वीर खींचनेवाला तस्वीरको देखनेके लिए दूर जाता है, और वहांसे उसको तस्वीरमें जो दोष दिखाई देते हैं उनको पास आकर सुधार लेता है। तस्वीर तो पास रहकर ही बनानी पड़ती है लेकिन उसके दोष देखनेके लिए अलग हट जाना पड़ता है। इसी प्रकार सेवा करनेके लिए पास तो आना ही

पड़ेगा। लेकिन कार्यको देखनेके लिए खुदको अलग कर लेनेकी जरूरत भी है।

यही स्वाध्यायका उपयोग है। अपनेको और अपने कार्यको बिलकुल भूल जाना और तटस्थ होकर देखना चाहिए। फिर उसीमेंसे उत्साह मिलता है, मार्ग-दर्शन होता है, बुद्धिकी शुद्धि होती है।

२

दरिद्रोंसे तन्मयता

दो प्रश्न हैं :

१ हममेंसे जो आजतक तो मध्यमवर्गका जीवन बिताते आये हैं परन्तु अब दरिद्रवर्गसे एकरूप होना चाहते हैं वे किस क्रमसे अपने जीवनमें परिवर्तन करें जिससे तीन चार वर्षमें निश्चित रूपसे उन दरिद्रोंसे एकरूप हो जायं ?

२ मध्यम अथवा उच्चवर्गके लोग दरिद्रोंसे अपनी सद्भावना किस तरह प्रकट कर सकते हैं ? क्या इस प्रकारका कोई नियम बनाना ठीक होगा कि अपने उत्पन्न कोई ऐसा उपाय करें जिससे उनके खर्चमेंसे हर पन्द्रह रुपये मेंसे चार रुपये दरिद्रोंके घर सीधे पहुंच जायं ?

पहले तो हमें यह समझना है कि हम मध्यमवर्ग और उच्च वर्गके माने जानेवाले प्राणी हैं अर्थात् हम भाग्यवान बनाना चाहते हैं। जिनकी सेवा करना चाहते हैं उनके-से बनना चाहते हैं। पानी कहींका भी क्यों न हो समुद्रकी ओर ही जाना चाहता है। यद्यपि सब पानी समुद्रतक नहीं पहुंच सकता लेकिन चाहे वह मेरा बहाया हुआ हो या पहाड़ोंका दोनोंकी गति समुद्रकी ओर है। दोनों निम्नगामिनी—नम्र हैं। एक जगह थोड़ा पानी है उसकी ताकत कम होनेके कारण भले ही बीचमें सूख जाय और किसी छोटे वृक्षको जीवन प्रदान करनेमें उसका उपयोग हो—यह तो हुआ उसका भाग्य परन्तु उसकी गति तो समुद्र ही है। समुद्र तक पहुंचनेका भाग्य तो

गंगाके समान महानदियोंको ही प्राप्त होता है। इसी तरह उच्च और मध्यम श्रेणियां पहाड़ और टीलेके समान हैं। यहां जिनकी हमें सेवा करनी है वह महासमुद्र है। इस महासमुद्रतक हम न भी पहुंच सकें तो भी कामना तो हम यही करते हैं कि वहांतक पहुंचें। अर्थात् जहांतक पहुंच पायें उतने ही से संतोष न मान लें। हमें जिसकी सेवा करनी है उसका प्रश्न सामने रखकर अपने जीवनकी दिशा बदलते रहना चाहिए और खुद निम्नगामी —नम्र—बनना चाहिए।

पर इसके कोई स्थूल नियम नहीं बनाये जा सकते। अगर बनाना शक्य हो तो भी वे मेरे पास नहीं हैं और न मैं चाहता ही हूं कि ऐसे नियम बनाने का कोई प्रयत्न किया जाय। चार या पांच वर्षोंमें उच्च और मध्यम श्रेणीके लोगोंको गरीब बना देनेकी कोई विधि नहीं है। हमें गरीबोंकी सेवा करनी है यह समझकर जाग्रत रहकर शक्तिभर काम करना चाहिए। कोई नियम नहीं है इसीलिए बुद्धि और पुरुषार्थकी गुंजाइश है। पिछले सोलह वर्षोंसे मेरा यह प्रयत्न जारी है कि मैं गरीबोंसे एकरूप हो जाऊं, लेकिन मैं नहीं समझता कि गरीबोंका जीवन व्यतीत करनेमें सफल हुआ हूं। पर इसका उपाय क्या है। मुझे इसका कोई दुःख भी नहीं है। मेरे लिए तो प्राप्तिके आनंदकी अपेक्षा प्रयत्नका आनंद बढ़कर है।

शिवकी उपासना करना हो तो शिव बनो ऐसा एक शास्त्रीय सूत्र है। इसी तरह गरीबोंकी सेवा करनेके लिए गरीब बनना चाहिए। पर इसमें विवेककी जरूरत है। इसके मानी यह नहीं कि हम उनके जीवनकी बुराइयोंको भी अपना लें। वे जैसे दरिद्रनारायण हैं वैसे मूर्खनारायण भी तो हैं। क्या हम भी उनकी सेवाके लिए मूर्ख बनें? शिव बननेका मतलब यह नहीं है। जिनका मन गया उनकी बुद्धि तो उससे भी पहले चली गई। उनके-जैसे बनकर हमें अपनी बुद्धि नहीं खोनी चाहिए।

देहातमें किसान धूपमें काम करते हैं। लोग कहते हैं बेचारे किसानोंको दिनभर धूपमें काम करना पड़ता है। अरे, धूपमें और खुले आकाशके नीचे काम करना नहीं तो उनका वैभव क्या रह गया है। क्या उसे भी आप छीन लेना चाहते हैं? धूपमें तो विटामिन काफी है। अगर हो सके तो हम भी उन्हींकी भांति करना शुरू कर दें। पर वे जो रातमें मकानोंको

मजूर बनाकर उनसे अपने-आपको बड़ा मानते होते हैं उनकी नकल हमें नहीं करनी चाहिए। हम काफी सम्पन्न रहें। उनसे भी हम कहें कि राजमें सुने धनवानोंके पीछे दौड़ो और महलोंका वैभव भूलो। हम उनके धनवानोंका अनुकरण न करें, उनके धनका नहीं। उनके पास अगर पूरे कपड़े नहीं हैं तो हम उन्हें इतना समर्थ क्यों न बना दें कि वे भी अपने लिए कपड़े बना लें? रास्तेमें भिखारी नहीं मिलते सुख नहीं मिलता। क्या हम भी साथ बांधो और सब छोड़ दें? यह विचार ठीक नहीं है। एक आदमी अगर डूब रहा है और उसे देखकर हमें दुःख होता है तो क्या हम भी उसके पीछे कूद जायें? इसमें दया है, सहानुभूति भी है। लेकिन यह दया और सहानुभूति किस कामकी जिससे दुःखियोंका समाधान हो? सच्ची भावनायें सार्थक सक्रिय होनी चाहिए। तुलसीदासजीने उसे 'कृपानु समाधान' कहा है।

हम अपने जीवनकी कठिनाइयोंको मिटाकर उसे पूर्ण बनाना चाहिए। उसी प्रकार दूसरोंकी कठिनाइयोंको दूर कर उनका जीवन भी पूर्ण बनानेमें उनकी सहायता करनी चाहिए। पूर्ण जीवन वह है जिसमें रस या उत्साह है। शोक या खिन्नताको उसमें स्थान नहीं। हम दरिद्री-जैसे बनें या पूर्ण जीवनकी आशा करें? लोग कहते हैं ऐसा करनेसे हमारा जीवन त्यागमय नहीं दिखाई देगा। पर हम इस बातका विचार नहीं करते हैं कि वह कैसा दिखाई देगा। हम यह भी न जानें कि इसका परिणाम क्या होगा। परिणाम परमात्माको सौंप देना चाहिए। हमारी जीवन-पद्धति उससे भिन्न है। हम दुःख मिटाना चाहते हैं उसे नहीं मिटाना। इस बातसे हम दुःखी हों तो यह उचित ही है। वह दुःखबीज तो हमारी हृदय-भूमिमें रहना ही चाहिए। वह हमारी उन्नति करेगा। भले तो इसका कोई उपाय मिल भी जाय तो दुःख न जाय। हमारे पुरुषार्थ और रचनात्मक शक्तिसे दूसरे दुःखियोंका उद्धार करके सारा जगत् अपना एक कण भी पाने वह सके तो हम स्वर्गराज्यके नजदीक पहुंचेंगे। जैसे नदियां समुद्रकी ओर बहती हैं, उसी प्रकार हमारी वृत्ति और शक्ति गरीबोंकी ओर बहती रहे, इसीमें कल्याण है।

२१

त्याग और दान

एक आदमीने मेहनतसे पैसा कमाया है। उससे वह अपनी गृहस्थी सुख-चैनसे चलाता है। बाल-बच्चोंका उसे मोह है, देहकी ममता है। स्वभावतः ही पैसेपर उसका प्यार है। दिवाली नजदीक आते ही वह अपना तलपट सावधानीसे बनाता है। यह देखकर कि सब मिलाकर खर्च चलाके बचत है और उसमें 'पूंजी' कुछ बढ़ी ही है, उसे खुशी होती है। बड़े ठाठसे और उतने ही भक्तिभावसे वह लक्ष्मीजीकी पूजा करता है। उसे द्रव्यका लोभ है, फिर भी मानवता कहिये या परोपकारता कहिये उसका भी ख्याल है। उसे ऐसा विश्वास है कि दान-धर्मके लिए—इसीमें देशको भी ले लीजिये—खर्च किया हुआ धन ब्याजसमेत वापस मिल जाता है। इस लिए इस काममें वह खुले हाथों खर्च करता है। अपने आस-पासके गरीबों-को इसका इस तरह बड़ा सहारा रहता है जिस तरह छोटे बच्चोंको अपनी मांका।

दूसरे एक आदमीने इसी तरह मेहनतसे पैसा कमाया था। लेकिन इसमें उसे सन्तोष न होता था। उसने एक बार बागके लिए कुआं खुदवाया। कुआं बहुत गहरा था। उसमेंसे थोड़ी मिट्टी, कुछ बालू और बहुत पत्थर निकले। कुआं जितना गहरा गया इन चीजोंका ढेर भी उतना ही ऊंचा लग गया। मन-ही-मन वह सोचने लगा, "मेरी तिजोरीमें पैसेका ऐसा ही टीला लगा हुआ है। उसी अनुपातमें किसी और जगह कोई गड्ढा तो नहीं पड़ गया होगा?" विचारका असर बिजली जैसा होता है। इसी विचारसे ही वह हड़बड़ाकर बेचैन हो गया। वह कुआं तो उसका गुरु बन गया। कुएंसे उसे जो कसौटी मिली उसपर उसने अपनी कमाईको घिसकर देखा। वह खरी नहीं उतरी, ऐसा ही उसे दिखाई दिया। इस विचारने उसपर अपना प्रभुत्व जमा लिया कि 'व्यापारिक सचाई' की रक्षा मैंने भले ही की हो फिर भी इस बालूकी बुनियादपर मेरा मकान कबतक टिक सकेगा? अगर पत्थर, मिट्टी और माणिक-मोतियोंमें उसे कोई फर्क नहीं दिखा"

दिया। यह सोचकर कि त्रिभुवनका कच्चा-बच्चा करके रन्तिदेव क्या दान वह एक दिन सबेरे उठा और अपनी सारी संपत्ति सब घर लादकर गंगा किनारे ले गया। 'गो मेरा पाप भी दान।' इतना कहकर उसने सब कमाई गंगा जलाके आचमन जल भी और बेचारा स्नान करके मुक्त हुआ। उसमें कोई-न-कोई पूछते हैं : दान ही क्या न कर दिया? यह जवाब देता है, "दान करते समय 'पात्र' भी देखना पड़ता है। अनाथ को दान देनेके समय मनमें अपनेमें होनेका डर जो रहता है। मुझे अनायास गंगाका 'पात्र' मिल गया उसमें मैंने दान कर दिया। इसका भी उदाहरण यह इतना ही कहना है कि कूड़े-कचरेका भी कहीं दान किया जाता है? उसका उचित उत्तर है 'मौन'। इस तरह उसने संपत्ति-त्यागका उसने सब 'सर्व' में उसका परित्याग कर दिया।

पहली मिसाल दानकी है, दूसरी त्यागकी। पहलेके उदाहरणमें पहली मिसाल जिस तरह दिल पर जमती है, उस तरह दूसरी नहीं। लेकिन यह हमारी कमजोरी है। इसीलिए शास्त्रकारोंने भी दानकी महिमा गर्भितरूपके लिए गाई है। 'गर्भित' माने क्या? गर्भितका माने दिलकी कमजोरी। दुर्बल हृदय इससे ज्यादा पूरी तरह नहीं खोल सकता। इसलिए उसके मनकी उड़ान अधिक से अधिक दानतक ही हो सकती है। त्यागतक तो उसकी पहुँच नहीं हो सकती। थोड़ी अवस्थामें तो त्यागका नाम सुनने ही जाने कैसा लगता है। इसलिए उनके सामने शास्त्रकारोंने दानके ही गुण गाये हैं।

त्याग तो बिल्कुल जड़पर आघात करनेवाला है। दान ऊपर-ही ऊपर से सींचने जैसा है। त्याग जड़की दवा है, दान सिरपर लगानेकी सोंठ है। त्यागमें अन्यायके प्रति चिढ़ है, दानमें नामका लिहाज है। त्यागसे पापका मूलधन चुकता है और दानसे पापका ब्याज। त्यागका स्वभाव दयालु है, दानका सज्जनताका। धर्म दानसे ही पूर्ण है। त्यागका निवास शिखरपर है, दानका उसकी तलहटीमें।

पुराने जमानेमें आदमी और घोड़ा अलग-अलग रहते थे। कोई किसीके अधीन न था। एक बार आदमीसे एक जंगलीका काम आ पड़ा। उसने थोड़ी देरके लिए घोड़ेसे उसकी पीठ किराएपर मांगी। घोड़ेने भी पड़ोसीके धर्मको सोचकर आदमीका कहना स्वीकार कर लिया। आदमीने कहा

लेकिन तेरी पीठपर मैं यों नहीं बैठ सकूंगा। तू लगाम लगाने देगा तभी मैं बैठ सकूंगा। लगाम लगाकर मनुष्य उसपर सवार हो गया और घोड़ने भी थोड़े समयमें काम बना लिया। अब करारके मुताबिक घोड़ेकी पीठ खाली करनी चाहिए थी पर आदमीसे लोभ न छूटता था। वह कहता है "देख भाई, तेरी यह पीठ मुझसे छोड़ी नहीं जाती इसलिए इतनी बात तू माफ कर। हां तूने मेरी खिदमत की है (और आगे भी करेगा) इसे मैं कभी न भूलूंगा। इसके बदले में मैं तेरी खिदमत करूंगा तेरे लिए घुड़साल बनाऊंगा तुझे दाना घास दूंगा पानी पिलाऊंगा खरहरा करूंगा जो कहेगा वह करूंगा पर छोड़नेकी बात मुझसे न कहना। घोड़ा बेचारा कर ही क्या सकता था? जोरसे हिनहिनाकर उसने फरियाद भगवान्के दरबारमें पेश की। घोड़ा न्याय चाहता था आदमी बातकी बातें कर रहा था। भले आदमी कम-से-कम अपना यह करार तो पूरा होने दे।

२२

कृष्ण मक्षिका रोग

'दुनिया पैदा करें' ब्रह्माजीकी यह इच्छा हुई। इसके अनुसार कार बार शुरू होनेवाला ही था कि कौन जाने कैसे उनके मनमें आया कि "अपने काममें भला-बुरा बतानेवाला कोई रहे तो बड़ा मजा रहेगा।" इसलिए आरम्भमें उन्होंने एक तेज-शरीर टीकाकार बनाया और उसे यह अख्तियार दिया कि आगेसे मैं जो बनाऊंगा उसकी जांचका काम तुम्हारे जिम्मे रहा। इतनी तैयारीके बाद ब्रह्माजीने अपना कारखाना चालू किया। ब्रह्माजी एक-एक चीज बनाते जाते और टीकाकार उसकी चूक दिखाकर अपनी उपयोगिता सिद्ध करता जाता। टीकाकारकी आंखके सामने कोई चीज दो-एक ठहर ही न पाती। "हाथी ऊपर नहीं देख पाता ऊंट ऊपर ही देखता है। मगरमें चपलता नहीं है, बन्दर अत्यन्त चपल है।" यों टीकाकारने अपनी टीकाके तीर छोड़ना शुरू किये। ब्रह्माजीकी अकल गुम हो गई। फिर

भी उन्होंने एक कारीगरी कोशिश कर देखनेकी ठानी और अपनी सारी कारीगरी खर्च करके 'मनुष्य' गढ़ा। टीकाकार उसे बारीकीसे निरखने लगा। उसमें एक भूल निकल ही आई। "इसकी छातीमें एक खिड़की होनी चाहिए थी जिससे इसके विचार सब समझ पाते।" ब्रह्माजी बोले "मुझसे रचना सही नहीं एक भूल हुई, अब मैं तुम्हें मगरजीके हवाले करता हूं।"

यह एक पुरानी कहानी कहीं पढ़ी थी। इसके बारेमें चर्चा करनेकी सिर्फ एक ही कारण है। वह यह कि कहानीके कथनके अनुसार टीकाकार मगरजीके हवाले हुआ नहीं दीखता। शायद ब्रह्माजीको उसपर दया आयी हो या मगरजीने उसपर अपनी शक्ति न आजमाई हो। जो हो इतना सच है कि आज उसकी जाति बहुत फैली हुई पाई जाती है। पुराणोंके प्रमाणोंसे अर्जुनके बाणी न रह जानेपर वनवासको मौका मिलता है। नाककी बात जब हुई कि बातचीत ही काम रहता है और बोलना ही है तो निन्दा स्तुति बिना कहांसे खोज जाय? इसलिए एक मनोरंजक विषय चुन लिया गया "निन्दा स्तुति सबकी बातें बहु-बचनी।" पर निन्दा-स्तुतिमें भी तो कुछ बांट-बखरा होना चाहिए। निन्दा अर्थात् पर-निन्दा और स्तुति अर्थात् आत्म-स्तुति। ब्रह्माजीने टीकाकारको भला-बुरा देखनेको तैनात किया था। उसने अपना अच्छा देखा, ब्रह्माजीका बुरा देखा। मनुष्यके मनकी रचना ही कुछ ऐसी विचित्र है कि दूसरेके दोष उसको सीधे उभरे हुए साफ दिखाई देते हैं, पर अपने नहीं दिखाई देते। संस्कृतमें 'विसमुसावर्ष संघु' नामका एक शब्द है। मकरंदवाडी नामके एक पाश्चात्य पण्डितने लिखा है। उसमें यह कल्पना है कि दयालु और छिद्रान्वेषु नामके दो व्यक्ति विमानमें बैठकर फिर रहे हैं और जो कुछ उनकी नजरोंके सामने आता है उसकी चर्चा किया करते हैं। दयालु दोष-अन्ध है, छिद्रान्वेषु गुण-अन्ध है। दोनों अपनी-अपनी दृष्टिसे वर्णन करते हैं। गुणावरण अर्थात् 'गुणदोष दर्शन' इस शास्त्रका नाम रखकर लेखकने अपना निर्णय मात्र छिद्रान्वेषुके पक्षमें दिया है। फिर भी कुल मिलाकर वर्णनका रंग कुछ ऐसा है कि अन्तमें पाठकके मन पर दयालुके पक्षकी छाप पड़ती है। कुछ दिनोंके इशारोंसे लिखी हुई चीज भी ना यह कमा है। फिर दोष देखनेकी वृत्ति होती तो क्या हाल होता?

चांदकी भांति प्रत्येक वस्तुके शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष होते हैं। इसलिए दोष ढूंढ़नेवाले मनके यथेच्छ विचरनेमें कोई बाधा पड़नेवाली नहीं है। 'सूर्य दिनभर दिवाली करता है फिर भी रातको तो अंधेरा ही देता है,' इतना ही यह देखनेसे उस सारी दिवालीकी होली हो जायगी। उसमें भी अवगुण ही लेनेका नियम बना लिया जाय तो दो दिनोंमें एक रात न दिखकर एक दिनकी अगल-बगल दो रात दिखाई देंगी। फिर अग्निकी ज्योतिकी ओर ध्यान न जाकर धुएंसे अग्निका अनुमान करनेवाले न्याय-शास्त्रका निर्माण होगा। भगवान्‌ने ये सब मजेकी बातें गीतामें बतलाई हैं। अग्निका धुआं सूर्यकी रात अथवा चांदका कृष्णपक्ष देखनेवाले 'कृष्ण-भक्तों' का उन्होंने एक स्वतन्त्र वर्ग रखा है। दिनभर आंख बंद की तो अंधेरा और रातको आंखें खोलीं तो अंधेरा—स्थितप्रज्ञकी इस स्थितिके अनुसार इन लोगोंका कार्यक्रम है। पर भगवान्‌ने स्थितप्रज्ञके लिए मोक्ष बतलाया है तो इनके लिए पाताल-लोक। पर इतना होनेपर भी यह कृष्णपक्ष छूतके रोगकी तरह बढ़ रहा है। बुराईके नामी होने या नाम इसमें आकर्षण अधिक होनेकी वजहसे काला पक्ष जैसा हमारा आकर्षण करता है वैसा उज्ज्वल पक्ष नहीं करता। इसी स्थितिमें यह सांसर्गिक रोग किस औषधिसे अच्छा होगा यह जान रखना जरूरी है।

पहली दवा है जितनी मिली हुई इस 'कृष्ण-भक्ति' का बाहरी कृष्ण न दिखाय भीतरके कृष्णके दर्शन कराय। आंखोंकी रोशनी बढ़ानेकी भारी निगाहको मनके भीतर ले। बाहरका दिखाव। जिसका पुष्प-बागसे जाकर देखनेवाला मनुष्य बहुधा पतन-मार्गका विशेष भाग बैठता है। उसका यह भ्रम दूर होनेपर उसके परीक्षणका ढंग बदले-बिना रह जाता है। बाइबिलके नये करार में इस बारेमें एक सुन्दर उपमाका उल्लेख है—एक बहनसे कोई बुरा काम शायद हो गया। उसको आज काटके न्याय देनेके लिए पत्थर थे। वहां सकल भक्त भी थे। नारायणमें जुट गए होंगे यह बहनकी आवश्यकता ही नहीं। किन्तु विशेषता यह थी कि उस बहनका अनुमान्य अपराध ईसाका बहा भीष मारा था। क्योंकि ईसाने सुनाया— इस बहनने चार अपराध किया है। सब लोग पत्थरोंसे मारकर उस पापिन मुक्त कर। ईसाका सुनते ही लोगोंके हाथ कांपने लगे और आसपास देख

पर पर फासने लगे। भगवान् ईसाको उन लोगोंपर दया आई। उन्होंने खड़े होकर सबसे एक ही बात कही: "जिसका मन बिलकुल साफ हो गया है, पहला ढेला मारे।" बस, पत्थर फेंकनेके लिए ठिठक गई। फिर धीरे-धीरे वहाँसे एक-एक आदमी खिसकने लगा। अन्तमें वह अभागी बहन और भगवान् ईसा ये दो ही रह गए। भगवान्ने उसे थोड़ा उपदेश देकर प्रेमसे विदा किया। यह कहानी हमें सदा ध्यानमें रखनी चाहिए।

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मीला कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझसा बुरा न कोय॥

दूसरी दवा है मौन। पहली दवा दूसरेके दोष दीखे ही नहीं इसलिए है। दृष्टि-दोषसे दोष दीखनेपर यह दूसरी दवा अचूक काम करती है। इससे मन भीतर-ही-भीतर छटपटायेगा। दो-चार दिन भीतर भी कराह आयगी पर आखिरमें थककर मन शान्त हो जायगा। आँखोंके रोग होनेपर मामूल पीला दिखा वैसे ऐसे रंग दिखाई पड़ने लगे। तब जिस रस्सीकी मददसे वे ऊपर चढ़ न और जिसकी मददसे अब वे उतरनेका प्रयत्न करनेवाले थे वह रस्सी ही मूर्खतासे काट डाली। वह "रस्सी तो मैंने कभी की काट दी है।" मूर्खताके इस एक वाक्यने लोगोंमें निराशाकी भीरुता पैदा कर दी और वह मर होगया। रस्सीका काटनेका तत्त्वज्ञान बहुत ही महत्त्वका है। मौन रस्सी काट देने जैसा है। या तो दूसरेके दोष देखना भूल जा नहीं तो मौन पकड़ना है। अमलपर यह औषध आ जाती है और यह हमा नहीं कि सारा रास्ता सीधा हो जाता है। कारण जिसकी सीमा है उसपर जिन बहुत समयतक मौन रखनेसे बैठना सुविधाजनक नहीं होता।

तीसरी दवा है कर्मयोगमें मग्न हो जाना। जैसे काम धुन लगाना ... ऐसा उपाय है कि ... अपनी मनकी शान्ती हो सकता है, वैसे ही कर्मयोग एक ही ऐसा उपाय है जिससे मनमानापनके लिए देखने-भालके लिए-

भी व्यर्थ न जाये' आश्रमका यह नियम क्या कहता है, यह सूत कातते हुए, अक्षरशः समझमें आता है। कर्मयोगका सामर्थ्य अद्भुत है। उसपर जितना जोर दिया जाय कम है। यह भाषा ऐसे अनेक रोगोंपर लागू है, पर जिस रोगकी उपाय-योजना इस समय की जा रही है उसपर उसका अद्भुत गुण अनुभूत है।

तीन दवाएं बताई गईं। तीनों दवाएं रोगियोंकी जीभको कड़वी तो लगेंगी पर परिणाममें वे अतिशय मधुर हैं। आत्म-परीक्षणसे मनका मौन से वाणीका और कर्मयोगसे शरीरका दोष गये बिना आत्माको आरोग्य नहीं मिलेगा। इसलिए कड़वी कहकर दवा छोड़ी नहीं जा सकती। इसके सिवा यह दवा शहदके साथ लेनेकी है, जिससे इसका कड़वापन मारा जायगा। सब प्राणियोंमें समभाव होना मधु है। उसमें घोलकर ये तीन मात्राएं लेनेसे सब मीठा हो जायगा।

२३

कविके गुण

एक सज्जनका सवाल है कि आजकल हममें पहलेकी तरह कवि क्यों नहीं हैं? इसके उत्तरमें नीचेके चार वाक्य लिखता हूं—

आजकल कवि क्यों नहीं हैं? कविके लिए आवश्यक गुण नहीं हैं इसलिए। कवि होनेके लिए किन गुणोंकी आवश्यकता होती है? अब हम इसीपर विचार करें।

कवि माने मनका मालिक। जिसने मन नहीं जीता वह ईश्वरकी सृष्टिका रहस्य नहीं समझ सकता। सृष्टिका ही नाम काव्य है। जबतक मन नहीं जीता जाता राग-द्वेष शान्त नहीं होते तबतक मनुष्य इन्द्रियोंका गुलाम ही बना रहता है। इन्द्रियोंके गुलाम को ईश्वरकी सृष्टि कैसे दिखाई दे? वह बेचारा तो तुच्छ विषय-सुखमें ही उलझा रहेगा। ईश्वरीय सृष्टि विषय-सुखसे परे है। इस परेकी सृष्टिके दर्शन हुए बिना कवि बनना असंभव

है। सूरदासकी आंखें उनकी इच्छाके विरुद्ध विषयोंकी ओर दौड़ा करती थीं। इन आंखोंको फोड़कर जब वह अंध हुए तब उन्हें कान्हके दर्शन हुए। बालक ध्रुवने घोर तपश्चर्या द्वारा जब इंद्रियोंको वशमें कर लिया तब भगवान्ने अपने वाङ्मय शंखसे उसके कपोलको छू दिया और इस स्पर्शके साथ ही उस अज्ञान बालकके मुखसे साक्षात् वेदवाणीका रहस्य प्रकट करनेवाला अद्भुत काव्य प्रकट हुआ। तुकारामने जब शरीर, इंद्रिय और मनको पूर्ण रूपसे वश किया तभी तो महाराष्ट्रको अभंग-वाणीका लाभ हुआ। मनोनिग्रहके प्रभावसे जब शरीरपर चींटियोंके वल्मीक बन गए तब उसमेंसे आदि-काव्यका उदय हुआ। आज तो हम इंद्रियोंकी सत्ताके हाथ बिक गए हैं। इसलिए हममें काव्य शक्ति नहीं है।

समुद्र जैसे सब नदियोंको अपने उदरमें स्थान देता है, उसी प्रकार समस्त ब्रह्माण्डको अपने प्रेमके पेटमें समानेवाली व्यापक बुद्धि कविमें होनी चाहिए। अन्तरमें ईश्वरके दर्शन करना काव्यका प्राण है। इसके लिए व्यापक प्रेमकी आवश्यकता है। ज्ञानेश्वर महाराज जैसेकी भावनामें भी वेद समाप्त हो गये, इसीलिए वह कवि हैं। वर्षा शुरू होते ही मेंढकोंको टर्राता देख वसिष्ठको भान हुआ कि परमात्माका हाथ इनकी वाणीमें प्रकट हुआ है। सम्पूर्ण ही मन मेंढकोंके कण्ठसे आनन्दोद्गार प्रकट कर रहे हैं, और इसपर उन्होंने अत्यन्त आदरसे उन मेंढकोंकी स्तुति की। यह स्तुति ऋग्वेदमें 'मण्डूक-स्तुति' के नामसे प्रसिद्ध है। कविकी प्रसन्न दृष्टिका रंग चढ़ाकर कवि सृष्टिकी ओर देखता है। इसीसे उसका हृदय सृष्टि-दर्शनसे नाचता है। बालक हृदयसे अपनी माताके प्रति प्रेम होता है, इसलिए उसे देखकर उसके स्तनोंका दूध रोके नहीं रुकता। वैसे ही समस्त चराचर सृष्टिके प्रति कविका मन प्रेमसे भरा होता है। इससे उसके दर्शन हुए कि वह पागल हो जाता है। उसकी प्राचीन काव्यकी धारा बह निकलती है। वह उसे रोक ही नहीं पाता। हममें उतना व्यापक प्रेम नहीं। सृष्टिके प्रति उदार बुद्धि नहीं। पुत्र-कलत्र-मुक्ताविल परे हमारा प्रेम नहीं गया है। फिर पूर्व कवियोंकी आत्मा अपने साथसे —'पक्षी लता और वनचर हमारे कुटुम्बी हैं'—यह राज्य हम कहाँ पूछें

कविको चाहिए कि वह अपने मस्तिष्कपर आत्मिक संयमकी चादर डाल दे।

वैसे ही उसको सृष्टिके वैभवसे अपनी आत्माको सजाना चाहिए। फूल लता और जलचरोंमें उसे आत्मदर्शन होना चाहिए। साथ ही आत्मामें फूल पत्ती जलचरोंका अनुभव करते आना चाहिए। विश्व आत्मरूप है इतना ही नहीं बल्कि आत्मा विश्वरूप है यह कविको दिखाई देना चाहिए। पूर्णिमाके चन्द्रको देखकर उसके हृदय-समुद्रमें ज्वार आना ही चाहिए, किन्तु पूर्णिमाके अभावमें उसके हृदयमें भाटा न होना चाहिए। अमावस्याके गाढ़ अंधकारमें आकाश बादलोंसे भरा होनेपर भी चन्द्रदर्शनका आनंद उसे मिलना चाहिए। जिसका आनंद बाहरी जगत्में मर्यादित है, वह कवि नहीं है। कवि आत्मनिष्ठ है कवि स्वयंभू है। पामर दुनिया विषय-सुखमें मूर्छती है कवि आत्मानन्द भोगता है। लोगोंको भोजनका आनंद मिलता है, कविको आनन्दका भोजन मिलता है। कवि अयमना सत्य है और इसलिए स्वप्नचारी स्वप्नद्रष्टा है। टेनिसनने बहुत करनेपर आत्माका अमरत्व देखा कायम अमरत्वका बहता झरना उसे अपनी आत्मामें दिखाई दिया था। कवि विश्व-सम्राट् है कारण वह हृदय-सम्राट् होता है। कविको जाग्रत अवस्थामें महाविष्णुकी नाभिकमलके स्वप्नोंका ज्ञान होता है और स्वप्नमें जाग्रत नारायणकी जगत्-रचना देखनेको मिलती है। कविके हृदयमें सृष्टि का सारा वैभव संचित रहता है। हमारे उदरमें भूखका ज्ञान भरा हुआ है और मुखमें भीगरी आशा। वहाँ इतना ज्ञान भी अभी स्पष्ट नहीं हुआ कि मैं स्वतन्त्र हूँ अथवा मनुष्य हूँ वहाँ आत्मनिष्ठ काव्य-प्रतिभाकी आशा नहीं की जा सकती।

कविमें 'लोक-हृदय। यथावत् प्रकाशित' करनेका सामर्थ्य होना चाहिए यह सभी मानते हैं। पर लोगोंको इस बातका ज्ञान नहीं होता कि सत्य-निष्ठा इस सामर्थ्यका मूलाधार [illegible] सत्ययुक्त वाणीसे अमोघ वीर्य (वीरता) उत्पन्न होता है। जो "सत्य हृदय बनी बोलूंगा" इस तरहके दैविक आग्रहसे कन्यादान देना अद्भुत सामर्थ्य प्रकट होता है कि "जो बोला जायगा वही सत्य होगा। भवभूतिने ऋषियोंके वाक्य-बीज [illegible] का वर्णन किया है कि "ऋषि पहले बोल जाते और बादमें उसमें अर्थ प्रविष्ट होता। इसका कारण है ऋषियोंकी सत्यनिष्ठा। 'भवभूति था एव परिस्फुरन्ति। वागर्थमनुवर्तते। तत्सामान्यार्थमनुगतम्। जो अनुभव

बोलता है वह मधुर मुग्ध हो जाता है अतः मुझे असत्य नहीं बोलना चाहिए। प्रश्नोपनिषद्‌में ऋषिने ऐसी चिंता प्रदर्शित की है। आत्मस्थ आत्मनिष्ठामसे काव्यका जन्म होता है। वाल्मीकिने पहले रामायण लिखी बादको रामने आचरण किया। वाल्मीकि सत्यमूर्ति थे अतः रामको उनका काव्य सत्य करना ही पड़ा। और वाल्मीकिके राम थे भी कैसे—"रामो द्विर्नाभिसन्धत्ते रामो द्विर्नाभिभाषते।" राम न दोबारा बाण छोड़ते हैं और न दो बार बोलते हैं। आदिकविकी काव्य-प्रतिभाको सत्यका आधार था। इसीसे उनके मस्तकपर अमरत्वका तेज खिला था। सृष्टिके गूढ़ रहस्य अथवा समाज हृदयकी सूक्ष्म भावनाएं व्यक्त कर दिखानेका सामर्थ्य चाहते हो तो सत्यपूत बोलना चाहिए। ऋतु वर्णन करनेकी शक्ति एक प्रकारकी सिद्धि है। कवि वाचासिद्ध होता है कारण वह सत्यपूत होता है। हमारी वाचा शुद्ध नहीं है। असत्यका हम व्यापार करते हैं इतना ही नहीं सत्य हम जानते हैं ऐसी हमारी लीक बनी है। इसलिए कविता उदय नहीं होता।

कविकी दृष्टि पारमार्थिक सत्यकी ओर रहनी चाहिए। अमृत तत्त्वकी ओर नजर हुए बिना प्रतिभाका पंखा नहीं खुलता। [illegible]

हताश होकर आस-पास देखना छोड़ देता है और मन बैठ जाता है, वैसे ही हमारी विषय-ग्रस्त बुद्धिसे आगे कालकी ओर देख सकना नहीं होता। "कौन जाने कलकी? आज जो मिले वह भोग लो" इस वृत्तिसे कार्यकी आशा नहीं हो सकती।

ईशावास्योपनिषद्के निम्नलिखित ब्रह्मपरमंत्रमें यह अर्थ सुझाया गया है:

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः ।
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।

अर्थ—कवि (१) मनका स्वामी (२) विश्व-प्रेमसे भरा हुआ (३) आत्मनिष्ठ (४) यथार्थभाषी और (५) शाश्वत कालपर दृष्टि रखने वाला होता है।

मननके लिए निम्नलिखित अर्थ सुझाता हूँ—

(१) मनका स्वामित्व=ब्रह्मचर्य (२) विश्वप्रेम=अहिंसा (३) आत्मनिष्ठा=अस्तेय (४) यथार्थभाषित्व=सत्य (५) शाश्वत कालपर दृष्टि=अपरिग्रह।

२४

फायदा क्या है ?

कहते हैं रेखागणितकी रचना पहले-पहल युक्लिडने की। वह ग्रीस (यूनान) का रहनेवाला था। उसके समयमें ग्रीसके सब शिक्षितोंके दिमाग राजनीतिसे भर गये थे—या यों कहिये कि उनके दिमागोंमें राजनीतिके पत्थर भरे थे। इस वजहसे रेखागणितके भक्त दुर्लभ हो गये थे और युक्लिड तो रेखागणितपर मुग्ध था। फिर भी जैसे आज चरखेपर मुग्ध एक मानवने बहुतसे राजनीति विशारदोंको चरखेमें डाल दिया वैसे ही युक्लिडने भी बहुतेरे राजनीतिज्ञोंको रेखाएँ खींचनेमें लगा दिया था। रोज युक्लिडके घरपर रेखागणितके विद्यार्थियोंका जमघट जमता और वह उन्हें अपना आविष्कार कुशलतापूर्वक समझाता।

बहुतेरे राजनीतिज्ञोंको युक्लिडकी ओर आकर्षित होते देख एक राजाके मनमें आया "हम भी क्यों न देखें कुछ फायदा होगा।" उसने प्रोफेसर युक्लिडके पास रेखागणित सीखा। अंतमें उसने युक्लिडसे पूछा "मुझे आज रेखागणित सीखते साठ दिन हो गये, पर यह न समझ पाया कि इससे फायदा क्या है?" युक्लिडने गंभीरतापूर्वक अपने एक शिष्यसे कहा "सुनो जी, इन्हें चार आने रोजके हिसाबसे साठ दिनके पौने दो रुपये दे दो।" फिर राजाकी ओर मुखातिब होकर कहा "तुम्हारा यह सवाल काम पूरा हो गया। अबसे तुम कहीं और काम ढूंढो।" क्या यह राजनीति-कुशल राजा सीखनेके बजाय पौने दो रुपये पानेसे खुश हुआ होगा? हम लोगोंकी मनोवृत्ति उस ठीक राजाकी-सी बन गई है।

हर बातमें फायदा देखनेकी बहुतोंकी आदत पड़ गई है। गुण कायदेमें बड़ा फायदा है, इसको लेकर स्वराज्य हासिल होनेतकके फायदेके बारेमें सदियों सवाल होते हैं। ये फायदावादी लोग अपनी फायदावाली मनको खरा और आगे लाए तो तत्त्वज्ञानकी ठठ चोटीपर पहुँच जायेंगे। तत्त्वज्ञानके सिलसिले ये लोग केवल इस प्रश्नके ही पीछे हैं और वह प्रश्न है — 'जीनेमें भी क्या फायदा है?' एक महत्तर अपने बापसे पूछता है, "बापूजी, गाय-भैंसका फायदा तो समझमें आता है कि उनसे हमें रोज दूध पीनेको मिलता है। लेकिन कहिये तो इन बाघ-भेड़िये और सांपोंके होनेमें क्या फायदा है?" बाप जवाब देता है, "प्रभुकी सृष्टि मनुष्यके फायदेके लिए ही है। हम बेचारोंकी गफलतमें हम न रहें, यही इनका फायदा है।"

कालिदासने एक जगह मनुष्यको 'उत्सव-प्रिय' कहा है। कालिदासका मनुष्य स्वभावका ज्ञान गहरा था ही, इसीसे वह कवि कहलानेके अधिकारी हुए। सबीका अनुभव है कि मनुष्यको उत्सव प्रिय है, लेकिन क्या प्रिय है? पाठशालाके लड़कोंको रविवारकी छुट्टी क्यों प्यारी लगती है? छह दिन दीवारोंमें बंद किए रहनेके बाद रविवारको जरा स्वच्छन्दताके साथ वे पाते हैं इस कारण। मनुष्यको उत्सव प्यारा क्यों है इसका भी उत्तर ऐसा ही है। रोज बंधा हुआ जीवन उत्सवके कारण ढीला हो जाता है। हमारे घर प्रतिवर्ष किसी दारिद्र्य रहता है, इसीसे लड़कोंका ब्याह रचानेपर हम

या देशकी रक्षाके लिए मरनेकी तैयारीका नाम है क्षात्रवृत्ति। पर क्या मरे तो बस क्या? यह क्षत्रियोंका गुण लगाकर देखिये तो इस सिपाही पागलपनका मतलब समझमें आ जायगा। राष्ट्रकी रक्षा क्यों करना स्वराज्य क्यों? मेरे स्वार्थके लिए। और जब मैं ही चल बसा तो फिर स्वराज्य लेकर क्या होगा? यह भावना पाई कि क्षात्रवृत्तिका खात्मा किया हुआ।

भारी रही वैश्यवृत्ति। पर वैश्यवृत्तिमें भी कुछ कम साहस नहीं चाहिए। अंग्रेजोंने दुनियाभरमें अपना रोजगार फैलाया तो बिना हिम्मतके नहीं फैलाया है। इसीकारण गयासकी एक शीशी भी नहीं देकर दोनों ओर आपने पवित्र हिन्दुस्तानको अपना देनेकी करामात कर दिखाई! कैसे? इनकेके इतिहासमें समुद्री यात्राओंके प्रकरण साहससे भरे पड़े हैं। कभी अमरीकाकी यात्रा तो कभी हिन्दुस्तानका सफर, कभी स्थली परिक्रमा तो कभी दु-भाषा महाद्वीपका दर्शन, कभी नील नदीके उद्गमकी खोज तो कभी उत्तरी ध्रुवके किनारे पहुंचे हैं। जो अनेक संकटोंसे बादमें ही अंग्रेजोंका व्यापार सिद्ध हुआ है। यह सच है कि यह व्यापार अनेक राष्ट्रोंकी गुलामीका कारण हुआ। इसीसे आज वह उन्हींको खा रहा है। पर जो हो साहसी स्वभावको तो सराहना ही होगा। हममें ... वृत्तिका साहस भी बहुत-कुछ नहीं दिखाई देता। कारण दीखता।

अजगर तकलीफ सहनेकी तैयारी ... अबतक था ही नहीं। पासमेंकी इमारत गुफ्तानरी ... है।

किया है 'अनंतवैभव'। अथवा विश्ववेत्ता —मनकी अनंत वृत्तियां होनेके कारण विश्वमें भी अनंत शक्तियां उत्पन्न होती हैं, इन अनंत मानसिक वृत्तियों और सामाजिक शक्तियोंका सम्पूर्ण साक्षात्कार करके ऋषियोंने धर्मकी रचना की है। स्वयं ऋषि ही कहते हैं 'ऋषिः पश्यन् पर्णोपत।' योगशास्त्रमें योगीकी 'अर्धोन्मीलित' दृष्टिका वर्णन किया गया है। इसका रहस्य है—विश्वमें व्याप्त शक्तियोंके अवलोकन तथा निरीक्षणके लिए आधी दृष्टि खुली रहे और अपने हृदयमें सन्निहित वृत्तियोंके परीक्षणके लिए आधी दृष्टि भीतरकी तरफ मुड़ी रहे। कामके कारण जगत्में विचरने वाले जीवजगत्के प्रति करुणासे आधी दृष्टि खुली हुई और अन्तर्यामी परमेश्वरके प्रेम-रसके पानमें मतवाली होनेके कारण आधी दृष्टि मुंदी हुई। आधी ऋषियोंकी इस अर्धोन्मीलित दृष्टिने अन्तर्बाह्य सारी सृष्टिके दर्शन कर लिये थे। इसीसे हिन्दूधर्म अनेक आश्चर्यकारक कल्पनाओंका भण्डार बन गया है। अर्जुनके अक्षय तरकसमें बाणोंकी कमी होती ही न थी। उसी तरह हिन्दू-धर्म-रूपी महासागरमें छिपे हुए रत्न कभी खतम हो नहीं सकते। ऋषियोंकी इन मनोहर कल्पनाओंमें चतुर्विध पुरुषार्थकी कल्पना भी एक ऐसा ही रमणीक रत्न है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ बतलाये गए हैं। इनमेंसे मोक्ष और काम दो परस्पर-विरोधी छोरोंपर स्थित हैं। प्रकृति और पुरुष या शरीर और आत्मामें अनादि कालसे संघर्ष चलता आ रहा है। वेदोंमें जो वृत्र और इन्द्रके युद्धका वर्णन है, वह इसी सनातन युद्धका वर्णन है। 'वृत्र'का अर्थ है ज्ञानको ढक देनेवाली शक्ति। 'इन्द्र' नाम परोक्ष संकेतका द्योतक है और उस अर्थको सूचित करनेके लिए खासकर रखी गई है। 'इदम्'—'द्र' या 'विश्वद्रष्टा' 'इन्द्र' शब्दका प्रत्यक्ष अर्थ है। यह है उसका स्पष्टीकरण। ज्ञानको ढकनेकी कोशिश करनेवाली और ज्ञानका दर्शन करनेकी चेष्टा करनेवाली इन दो शक्तियोंका अब क्रमशः जड़ शरीरात्मक भौतिक शक्ति और चेतना ज्ञानमय आत्मिक शक्ति है। इन दोनोंमें सदा संघर्ष होता रहता है और मनुष्यका जीवन इस संघर्षमें फंसा हुआ है। ये दोनों परस्पर-विरोधी तत्त्व एक ही व्यक्तिमें वास करते हैं इसलिए मनुष्यका हृदय इनके युद्धका 'धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र' हो गया है। आत्माको मोक्ष-पुरुषार्थकी

या देशकी रक्षाके लिए मरनेकी तैयारीका नाम है क्षात्रवृत्ति। पर 'आप मरे तो जग डूबा' यह फलसफा शुरू लगाकर देखिये तो इस मिलावटी आत्मबलिदानका स्वरूप समझमें आ जायगा। राष्ट्रकी रक्षा क्यों करना? स्वराज्य क्या? मेरे अपनेके लिए। और जब मैं ही चल बसा तो फिर स्वराज्य लेकर क्या होगा? यह भावना आई कि क्षात्रवृत्तिका साहस विदा हुआ।

आगे रही वैश्यवृत्ति। पर वैश्यवृत्तिमें भी कुछ कम साहस नहीं चाहिए। अंग्रेजोंने दुनियाभरमें अपना रोजगार फैलाया सो बिना हिम्मतके नहीं फैलाया है। इंग्लैण्डमें कपासकी एक बोंडी भी नहीं पैदा होती और आपने सारे हिन्दुस्तानको कपड़ा देनेकी करामात कर दिखाई। कैसे? इंग्लैण्डके निवासियोंमें समुद्री यात्राओंके प्रकरण साहसोंसे भरे पड़े हैं। कभी अमरीका। कभी हिन्दुस्तानका पता, कभी दुनियाकी परिक्रमा तो कभी मुन्धाराका अमरीकाका दर्शन, कभी नील नदीके उद्गमकी तलाश है तो कभी उत्तरी ध्रुवके किनारे पहुंचे हैं। यों अनेक पराक्रमसे साहसोंसे इन लोगोंका व्यापार सिद्ध हुआ है। यह सच है कि यह व्यापार अनेक राष्ट्रोंकी गुलामीका कारण हुआ। इसलिए आज वह उन्हींको खा काट रहा है। पर इसमें साहसकी प्रशंसा तो करनी ही होगी। हममें इस वैश्यवृत्तिका साहस भी बहुत कुछ नहीं दिखाई देता। कारण अपनत्व नहीं दीखता।

मतलब जब तक साहसकी तैयारी नहीं होती तबतक आपका टिकनेका ... सब ... तब तक नहीं पूरा बनी है।

किया है 'अनन्तमैनस'। अनन्ता विश्वदेवा —मनकी अनंत वृत्तियां होनेके कारण विश्वमें भी अनंत शक्तियां उत्पन्न होती हैं। इन अनंत मानसिक वृत्तियों और सामाजिक शक्तियोंका सम्पूर्ण साक्षात्कार करके ऋषियोंने धर्मकी रचना की है। स्वयं ऋषि ही कहते हैं 'ऋषिः पश्यन् अबोधत्'। योगशास्त्रमें योगीकी 'अर्धोन्मीलित' दृष्टिका वर्णन किया गया है। इसका रहस्य है—विश्वमें ओतप्रोत शक्तियोंके अवलोकन तथा निरीक्षणके लिए आधी दृष्टि खुली रहे और अपने हृदयमें सन्निहित वृत्तियोंके परीक्षणके लिए आधी दृष्टि भीतरकी तरफ मुड़ी रहे। कामके कराल जगतमें मिलने वाले दीनजनोंके प्रति करुणासे आधी दृष्टि खुली हुई और अन्तर्यामी परमेश्वरके प्रेम-रसके पानसे मतवाली होनेके कारण आधी दृष्टि मुड़ी हुई। योगी ऋषियोंकी इस अर्धोन्मीलित दृष्टिने अन्तर्बाह्य सारी सृष्टिके दर्शन कर लिये थे। इसीसे हिन्दूधर्म अनेक आश्चर्यकारक कल्पनाओंका भण्डार बन गया है। अर्जुनके अक्षय तरकसमें बाणोंकी कमी होती ही न थी। उसी तरह हिन्दू-धर्म-रूपी महासागरमें छिपे हुए रत्न कभी खतम ही नहीं हो सकते। ऋषियोंकी इन मनोहर कल्पनाओंमें चतुर्विध पुरुषार्थकी कल्पना भी एक ऐसा ही रमणीय रत्न है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ बतलाये गए हैं। इनमेंसे मोक्ष और काम दो परस्पर-विरोधी सिरोंपर स्थित हैं। प्रकृति और पुरुष या शरीर और आत्मामें अनादि कालसे संघर्ष चला आ रहा है। वेदोंमें जो वृत्र और इन्द्रके युद्धका वर्णन है वह इसी सनातन युद्धका वर्णन है। 'वृत्र'का अर्थ है ज्ञानको ढक देनेवाली शक्ति। 'इन्द्र' सत्ता पराक्रम ऐश्वर्यकी द्योतक है और उस अर्थको सूचित करनेके लिए खासकर गढ़ी गई है। 'इदम्'—'द्र' या 'विश्वद्रष्टा' 'इन्द्र' शब्दका प्रत्यक्ष अर्थ है। यह है उसका स्पष्टीकरण। ज्ञानको ढाकनेकी कोशिश करनेवाली और ज्ञानका दर्शन करनेकी चेष्टा करनेवाली इन दो शक्तियोंका नाम क्रमशः जड़ शरीरात्मक भौतिक शक्ति और चेतना ज्ञानमय आत्मिक शक्ति है। इन दोनोंमें सदा संघर्ष होता रहता है और मनुष्यका जीवन इस संघर्षमें फंसा हुआ है। ये दोनों परस्पर-विरोधी तत्त्व एक ही व्यक्तिमें वास करते हैं, इसलिए मनुष्यका हृदय इनके युद्धका 'धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र' हो गया है। आत्माको मोक्ष-पुरुषार्थकी

अभिलाषा होती है। शरीरको काम-पुरुषार्थ प्रिय है। दोनों एक-दूसरेका नाश करनेकी ताकमें हैं।

गांध कहता है "काम आत्माकी जान लेनेपर तुला हुआ उसका कट्टर वैरी है। उसे मार डालो—निष्काम बनो। यह बड़ा मायावी और स्नेही मालूम होता है। लेकिन इसके प्रेमके स्वांगपर मोहित होकर धोखा न खाना। यह जितना कोमल दीखता है उतना ही क्रूर है। इसके दिखानेके दांत प्रसन्न हैं पर खानेके दांत जहरसे भरे हुए। ऊपर ऊपरसे यह चैतन्य रससे परिपूर्ण बालकोंको जन्म देता हुआ दिखाई देता है, लेकिन यह वास्तविक नहीं है। यह बूढ़ी माताकी जबतक मरती क्यों नहीं इसीकी इसे हमेशा फिक्र रहती है। याद रहे कि लड़केको जन्म देनेका अर्थ है पिताकी मृत्युकी तैयारी करना। अगर आपकी यह इच्छा होती कि आपके बाप-दादा आपके पुरखा जीवित रहें तो क्या आप लड़के और नाती-पोते पैदा करते? क्या आपको पता नहीं कि इतने आदमियोंका अथवा 'जीव-जन्तु' या मनुष्योंका डर पृथ्वी समा नहीं सकती? आप इतना भी नहीं जानते? या तो मरने ही वाली है यह हमारे मनकी बात नहीं पर यह देनेसे काम नहीं चलेगा। यह हम नहीं भुला सकते कि माताकी मृत्युकी अवश्यम्भाविता स्वीकार करके ही पुत्रका उत्पादन किया जाता है। इसीलिए तो जन्मका भी 'सूतक' (अशौच) रखना पड़ता है। चैतन्यरससे भरे बालकको उत्पन्न करनेका श्रेय अगर आपको देना हो तो उसी रससे श्रेष्ठ-श्रेष्ठ माताओंको मार डालनेका पातक भी उसीके मत्थे होगा। उत्पत्ति और संहार, काम और क्रोध एक ही डंडीके दो सिरे हैं। 'काम' कहते ही उसमें 'क्रोध' का भाव आ जाता है। इसीलिए अहिंसक मुनिगण संहार-क्रियाकी तरह उत्पत्तिकी क्रियामें भी हाथ नहीं बटाते। सच तो यह है कि बालकका चैतन्यरस कामका पैदा किया हुआ होता ही नहीं। चित्त अपने पापरूपसे मलिन होनेसे मां-बाप अपने-आपको जनक मानते हैं, वह रजोरस उसका पैदा किया होता है। कारण उसका अपना जन्म ही रजोगुणकी धूल (रज) से हुआ है। आप अगर इसके मनोरथ पूरे करनेके फेरमें पड़ेंगे तो यह कभी अघायेगा भी नहीं। इतना बड़ा पेटू है। जिस-जिसने इसे तृप्त करनेका प्रयोग किया वे सभी असफल हुए। उन सबको यही अनुभव हुआ

कि कामकी तृप्ति कामोपभोग द्वारा करनेका यत्न स्वयं अग्नि बनकर पृथ्वीको निःशेष करनेके प्रयासकी तरह व्याघातात्मक या असंगत है। इसे चाहे जितना भोग लगाइये सब आगमें घी डालने-जैसा ही होता है। इसकी भूख बढ़ती ही जाती है। मन्मथास्त्र ही इसका सबसे प्यारा शस्त्र है और उसे चलानेमें इसे निःसंशय भस्मासुरसे भी बढ़कर सफलता मिलती है। इस लिए इस कामासुरको वरदान देने की गलती न कीजिये।

इसकी ठीक उलटी बात काम कहता है। वह भी उतनी ही गंभीरतासे कहता—"मोक्षके चक्करमें आओगे तो नाहक अपना काम-मोक्ष (कपाल-क्रिया) करा लोगे। याद रखो वेदान्तकी ही बदौलत हिन्दुस्तान चौपट हुआ है। यह तुम्हें स्वर्गसुख और आत्म-साक्षात्कारकी मीठी-मीठी बातें सुनाकर भुलावेमें डालेगा। लेकिन यह इसकी खालिस दगाबाजी है। ऐसे काल्पनिक कल्याणके पीछे पड़कर ऐहिक सुखको जलांजलि देना बुद्धिमानीकी बात नहीं है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंकी चर्चा यदि कोई भरपेट मनोविनोदके लिए भोजनके अनन्तर नींद आनेसे पहले या नींद आनेके लिए करे तो उसकी यह क्रीड़ा क्षम्य मानी जा सकती है; परन्तु यदि कोई खाली पेट यह चर्चा करनेका हौसला करेगा तो वह याद रखे कि उसे व्यावहारिक तत्त्वमसि (पढ़े) की ही शरण लेनी होगी। खड़ी बिलकुल आटे-जैसी सफेद भले ही हो परन्तु उसकी रोटियां नहीं बनतीं। और तो कुछ नहीं मोक्षकी चिंताकी बदौलत जीवनका आनंद खो बैठोगे। इस विश्वके विविध विषयों-का स्वाद लेनेके लिए तुम्हें इंद्रियां दी गई हैं। लेकिन यदि तुम 'जगन्मिथ्या' मानकर इंद्रियोंको मारनेका उद्योग करते होगे तो आत्मवंचना करोगे और आखिर तुम्हें पछताना पड़ेगा। पहले तो जो आंखोंको साफ-साफ नजर आता है उस संसारको मिथ्या मानो और फिर जिसके अस्तित्वके विषयमें बड़े-बड़े दार्शनिक भी सशंक हैं वैसी 'आत्मा' नामक किसी वस्तु की कल्पना करो इसका क्या अर्थ है? वेदोंने भी कहा है, 'कामस्तदग्रे सम वर्तत'—सृष्टिकी उत्पत्ति कामसे हुई। और इसका अनुभव तो सभीको है। यदि दरअसल ईश्वर-जैसी कोई वस्तु हो तो भी कल यदि सभी लोग निष्काम होकर ब्रह्मचर्य पालन करने लगें तो जिस सृष्टिको नष्ट होनेसे बचानेके लिए वही परमेश्वर समय-समयपर अवतार धारण करता

है उसका पूरा-पूरा विकास हुए बिना न रहेगा। 'साध्य' के माने अगर पारलौकिक सुख हो या केवल भावनामय स्वर्ग उसका परिणाम कामोपभोग ही हो सकता है।

यह है कायरकी दलील।

सम्पूर्ण त्याग और सम्पूर्ण भोग ये परस्पर विरोधी दो ध्रुव हैं। एक कहता है शरीर मिथ्या है, दूसरा कहता है आत्मा झूठी है। दोनोंको एक-दूसरेकी परवा नहीं, दोनों पूरे स्वार्थी हैं। लेकिन आत्मा और शरीर दोनों-का मिलन मनुष्यमें हुआ है। इसलिए इस तरह दोनों पक्ष अपने ही सम-मर्थी देखकर अर्जुनके लिए आत्मनिर्णय करना असम्भव हो गया उसी तरह कुरुक्षेत्रके धर्मक्षेत्रमें अपने स्नेही-संबंधियोंको दोनों शिविरोंमें उपस्थित देख-कर मनुष्यके लिए किसी भी एक पक्षके अनुकूल स्थायी और निश्चित निर्णय देना कठिन हो जाता है। उसकी द्विधा स्थिति हो जाती है और एक मन शरीरका पक्ष लेता है, दूसरा आत्माकी हिमायत करता है। मनुष्यका जीवन न अशरीर आत्मा और आत्महीन शरीरको बिलकुल मान्य है; इसलिए उसे शुद्ध आत्मवाद या भोग-पूजा जँचती नहीं और शुद्ध जड़वाद या भोगो-पासना रुचती नहीं। इन दोनों मार्गोंमें सही समन्वय करना या उनका सामंजस्य करना यह जीवनका काम है। यह कर्म करनेकी चतुराई या कौशल ही जीवनका रहस्य है।

यदि देहासक्त या भोगेच्छावाले मनको 'मन' और आत्म प्रवण या ऊपर ध्यान लगनेवाली बुद्धि नाम दिया जाय तो 'मन' और 'बुद्धि' में एकता करके व्यवहार करना चाहिए। 'स्वभावधर्म—स्वभावकर्म' यह गणितकी समता यहाँ किसी कामकी नहीं। अगर बाप मर गया है और दो लड़के हैं तो हरएकको कितनी रोटियाँ दी जाय? ऐसी त्रैराशिककी समता अगर माताके जीवनमें आ जाय तो बड़ा अनर्थ हो जाय। एक लड़का दो सालका है और दूसरा पच्चीस वर्षका। पहला माँ-बापकी ममतामें मस्त था, दूसरा युवक। ऐसे हिसाबी व्यवस्था अख्तियार करके माता शरीरका सन्तोष, अथवा आत्माका सन्तोष करनेकी कोशिश यह समता हल नहीं होगा। समताका अर्थ है योजनाके अनुसार जीवन चलाना। लेकिन आत्मज्ञानके आगे चाहे कितनी बड़ी धन सम्पत्ति भी आय तो भी उसकी कीमत आत्माके मुकाबलेमें

मूल्य समझी जाती है, उसी तरहकी मान्यता जितनी ही बढ़ाई जाय तो भी आत्मा अनंत महिमाके मुकाबलेमें वह शून्यवत् हो जाती है। इसलिए निष्काम समताको आत्माके ही पक्षका समर्थन करना चाहिए।

यह हुआ एक पक्ष। इस पक्षकी दृष्टिमें मुख्य आत्मार्थ या आत्मकार्य इष्ट है परन्तु जबतक देहका बन्धन है तबतक यह पक्ष नहीं प्रतीत होता। पर उदार छोड़कर परमार्थ करनेसे खानेका अन्न भी नहीं मिलता यही कथन बहुतेरे लोगोंके दिमागमें—या यों कह लीजिये कि पेटमें—घुस जाता है। 'उदरनिमित्तम्' द्वारा इकोइच्छा होनेसे सभी चाहते हैं कि गुड़-कोलहूके नैवेद्यसे ही भगवान् सन्तुष्ट हो जाय। नामदेवका दिया हुआ नैवेद्य भगवान् खाते नहीं थे इसलिए वह वहीं धरना देकर बैठ गये। लेकिन इनका दिया हुआ गुड़-खारक यदि भगवान् सचमुच खाने लगे तो भगवान् को एकादशी व्रत रखनेके लिए यह नई आफ़त बरदाश्त किये बिना न रहेगी! वे माँ-बापको थोड़ेमें सन्तुष्ट करना चाहते हैं। कारण कि अगर आत्माको बिल्कुल ही सन्तोष न दिया जाय और केवल देहसुखका पक्ष ही अनुसरण किया जाय तो उस देहसुखके स्थायित्वके लिए नास्तिक तत्त्वज्ञानका आश्रय करनेपर भी अन्तरात्माका दंश बन्द नहीं होता। इसलिए दोनों पक्षोंकी दृष्टिसे समझौता वांछनीय है। यह समझौता करानेका भार धर्म और अर्थने लिया है।

जब दो आदमी मार पीट करके एक-दूसरेका सिर फोड़नेपर आमादा हो जाते हैं तब उनका झगड़ा मिटानेके लिए दोनों पक्षके लोग बीच-बचाव करने लगते हैं। उसी प्रकार आत्मवादी मोक्ष और देहवादी कामका झगड़ा मिटानेके लिए मोक्षकी तरफसे धर्म और कामकी तरफसे अर्थ ये दो पुरुषार्थ उपस्थित हुए हैं। धर्म और अर्थ—कम-से-कम दिखानेको तो—समझौता करानेके लिए बीच-बचाव करते हैं इसलिए निष्पक्ष वृत्ति या मध्यस्थताके समझौतेका स्वांग करना उनके लिए लाजिमी हो जाता है। पर उनसे आशा दोनों पक्षोंको थोड़ा-बहुत खुश करनेवालेकी होनी चाहिए और होती भी है। परन्तु यद्यपि इन बिचौलियोंको अक्सर निष्पक्षताकी बात करनी पड़ती है तथापि उनके दिलमें यह उत्कट इच्छा नहीं होती कि दोनों पक्षोंमें किसी

पर भी मार न पड़े। वे लघु-गुरुत्व फिर देखना नहीं चाहते मगर सिर्फ अपने पक्षका। यदि केवल अणु-पक्षके ही सिर फूटते हों तो उन्हें कोई परवाह न होती। लेकिन दुःखका विषय तो यह है कि अणु-पक्षके साथ-साथ अपने पक्षके सिरपर भी डंडे पड़ते ही हैं। इसीलिए समझौते करानेकी इतनी जरूरत होती है। सारांश धर्म और अर्थ यद्यपि सदा मिलापके लिए आतिमन अपने हुए बीच-बचाव करते आये हैं तथापि वास्तवमें धर्मके मनमें यही इच्छा होती है कि कामका सिर अच्छी तरह कुचल दिया जाय और अर्थ भी चाहता है कि मोक्ष मर जाय तो अच्छा हो। किसी भी एक पक्षका साथ हासिल करना तो कठिन होता ही है। कई बार जो काम लड़ाईसे नहीं होता वह सुलहसे हो जाता है। योद्धाओंकी तलवारकी अपेक्षा राजनीतिज्ञोंकी कलमको कभी-कभी सफलताका अधिक हिस्सा मिलता है। 'मोक्ष और 'काम' को अपना योद्धा मानें तो धर्म और अर्थ को राजनीतिज्ञ कहना चाहिए। दोनों समझौता चाहते हैं लेकिन धर्मकी यह कोशिश होती है कि संधिकी शर्तें मोक्षानुकूल हों और अर्थकी यह कामना होती है कि वे कामानुकूल हों। प्रत्येक चाहता है कि समझौता तो हो लेकिन अपने पक्षकी कोई हानि न हो। यहां इस समझौतेका थोड़ा-सा नमूना ही दिखाया जा सकता है। उदाहरणके लिए—

मोक्ष ब्रह्मचारी और काम व्यभिचारी है। इस प्रकार वे दो सिरे हैं। धर्म कहेगा— हमारा आदर्श ब्रह्मचर्य ही होना चाहिए, इसमें संदेह नहीं। उस आदर्शके पालनका जोरोंसे यत्न करना चाहिए। पर काम बहुत ही सूक्ष्म है। अतः शास्त्रीय विधिके अनुसार गृहस्थ-वृत्ति स्वीकार कर उसके आगे एकाध बच्चेका दान देना चाहिए। परन्तु यहां भी उद्देश्य तो संयमके पालनका ही होना चाहिए और फिर तैयारी होते ही श्रेष्ठ आश्रममें प्रवेश करनेके समय अटकाना न चाहिए। ब्रह्मचर्यके बजाय उत्पन्न होना यह पापके समकक्ष ही आनेवाली बात दलील है। मनुष्यके उत्पन्न होनेकी चिन्ता आप न करें। उसके लिए भगवान् पर्याप्त हैं। ब्रह्मचर्यसे सृष्टि नष्ट नहीं होगी [illegible] मुक्ति होगी। फिर भी संयमका पालन करनेके अभिप्रायसे गृहस्थ वृत्ति स्वीकार करनेमें आपत्ति नहीं है। इससे कामका भी थोड़ा बहुत काम निकल जायगा। लेकिन इसमें [illegible] इसकी चिंता

और चिंतन लगातार करते रहना चाहिए। इससे मोक्षकी भी पूर्व-तैयारी हो जायगी।

धर्म कहेगा : 'अगर व्यभिचारको स्वीकृति दी जाय तो संसारकी व्यवस्थाका अंत हो जायगा। इसलिए वह न इष्ट है, न संभव। परंतु ब्रह्मचर्यका नियम तो एकदम निसर्ग विरोधी है। वह अशक्य ही नहीं अनिष्ट भी है। तब बीचका गृहस्थ-वृत्तिका ही राजमार्ग शेष रहता है। इसमें थोड़ा सा संयमका कष्ट जरूर है लेकिन वह अपरिहार्य है। बुढ़ापेमें इंद्रियां जर्जरित हो जानेपर अनायास ही त्याग हो जाता है। इसलिए यह त्यागकी शर्त अपरिहार्य होनेके कारण उसे मंजूर कर लेना चाहिए। इससे मोक्षकी भी राह सस्ती होगी। लेकिन विवाहका बंधन अबंध्य माननेका कोई कारण नहीं है। विवाह हमारे सुखके लिए होते हैं हम विवाह के लिए नहीं हैं। इसीलिए हम विवाहके धर्मको स्वीकार नहीं करते लेकिन विवाहकी नीतिको स्वीकार कर सकते हैं।

मोक्षकी दृष्टिसे अहिंसा परम धर्म है। पतंजलिने कहा है कि यह 'जाति-देश-काल-समय' आदि सारे बंधनसे परे 'सार्वभौम महाव्रत' है। इसके विपरीत कामका सिद्धांत-वाक्य 'ईश्वरोऽहमहं भोगी' है। इसलिए उसका तो बिना हिंसाके निर्वाह ही नहीं हो सकता क्योंकि साम्राज्यवादकी वृकोदर वृत्तिकी इमारत हिंसाके ही पायेपर रची जा सकती है।

ऐसी स्थितिमें धर्म कहेगा : 'कम-से-कम मानसिक हिंसा तो किसी हालत में नहीं होने देनी चाहिए। शरीर-धर्मके कारण कुछ-न-कुछ हिंसा अनजाने भी हो ही जाती है। उसे भी कम करनेकी कोशिश करनी चाहिए। परंतु प्रयत्न करनेपर भी कमजोरीके कारण जो हिंसा बाकी रह जायगी उतनी क्षम्य समझी जाय। पर इसका यह अर्थ नहीं कि उतनी हिंसा करनेका हमें अधिकार है। किंतु उतनीके लिए हम परमेश्वरसे नम्रतापूर्वक क्षमा मांगें और अपनी बुद्धि शुद्ध रखें। अगर क्षमा-वृत्ति अशक्य ही हो तो 'सौ अपराध माफ करूंगा' जैसा कोई व्रत लेकर हिंसाको आगे टाल देना चाहिए। इतना करनेपर भी हम अपनी वृत्तिको काबूमें न रख सकें हमारे मनके अंदर छिपा हुआ पशु अगर जाग ही उठे तो हम अपनसे अधिक बलवान् व्यक्तिसे लोहा लें कम-से-कम अपनेसे कम बलवान्को तो क्षमा

करें। यह भी नामुमकिन हो तो अपने बचावके लिए हिंसा करें, हमला करनेके लिए नहीं। उसमें भी फिर हिंसाके साधन जहांतक हो सके सीधे सादे और सुन्दर हों। केवल शरीरसे ही हाथ-युद्ध करें, हथियार काममें न लायं। सारांश यह कि धर्ममें हिंसाका स्थान भले ही न हो, लेकिन हिंसामें धर्मका स्थान अवश्य होना चाहिए।

धर्म कहता है — हिंसाके बिना संसारका चलना ही असंभव है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' मुनियोंका न्याय है। हमें उसे मानना ही पड़ेगा। लेकिन हिंसा करना भी एक कला है। उस कलामें निपुणता प्राप्त किये बिना किसीको भी हिंसा नहीं करनी चाहिए। मुसलमानोंके राज्यमें जितनी गायोंकी हत्या होती थी, उससे कई गुनी गाय अंग्रेजोंके राज्यमें कत्ल की जाती हैं यह बात सरकारी आंकड़ोंसे साफ जाहिर है। लेकिन मुसलमान हिंसाकी कलाके पंडित नहीं थे, इसलिए उनके खिलाफ इतना हो-हल्ला मचा। अंग्रेजोंके खिलाफ चिढ़ नहीं होती। इसका कारण है, हिंसाकी कला। इन्फ्लुएंजाने डेढ़ करोड़ आदमियोंमेंसे थोड़े ही समयमें साठ लाख आदमियोंको खाकर अपने-आपको बदनाम कर लिया। वस्तुतः मलेरिया उससे अधिक आदमियोंका कलेवा कर लेता है। लेकिन धीरे-धीरे चबा चबाकर खानेका आहार-शास्त्रका नियम उसे मालूम है, इसलिए वह बड़ा साधु ठहरा। नये चिकित्सा-विज्ञानका एक नियम है कि शीतोपचार और उष्णोपचार एकके बाद एक बारी-बारीसे करते रहना चाहिए। यही नियम हिंसापर भी लागू होता है। जबतक युद्धके पश्चात् शांति-परिषद् और शांति-परिषद्के बाद फिर युद्ध यह क्रम बारी-बारीसे जारी न किया जा सके तबतक हिंसा नहीं करनी चाहिए। चूनेपर ईंटें और ईंटोंपर चूना रख-रखकर दीवार बनाई जाती है और फिर उसपर चूना पोता जाता है। इसी प्रकार शांतिके बाद युद्ध और युद्धके बाद शांति के क्रमसे साम्राज्य कायम करके उस साम्राज्यपर फिर शांतिका चूना पोतना चाहिए। इसके बदले अगर केवल ईंटोंपर ईंटें ही जमाई जाय तो सारी ईंटें भुरभुराकर गिर जाती हैं। इसलिए दो हिंसाओंके बीच एक अहिंसाको स्थान अवश्य देना चाहिए। इतना समझौता कर लेनेमें कोई हर्ज नहीं।

'अर्थमनर्थं भावय नित्यं' यह भाष्यका मूल-वाक्य है। इसके विपरीत

जहां कामोपभोग ही महाधन है वहां अर्थ-संचयका अनुष्ठान स्वाभाविक ही है। धर्मके मतसे 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य' —मनुष्यकी तृप्ति अर्थसंचयोंसे कदापि नहीं हो सकती। इसलिए अर्थसंग्रह करना ही हो तो उसकी मर्यादा बना लेनी चाहिए। सृष्टिका स्वरूप 'अल्पत्व' है। अर्थात् कलके लिए संचय उसके पास नहीं है। इसलिए मनुष्यको भी 'अल्पत्व-संग्रह' रखना चाहिए। स एकाकी न रमते — "यह ग्राम भी है और कम भी है" यह वर्णन ज्ञान समझकर अधिक होता है। इसलिए एक आदमी चाहे कितना भी ज्ञान क्यों न कमाये उसके कारण दूसरेका ज्ञान नहीं घट सकता। परन्तु द्रव्य-संग्रह की यह बात नहीं है। मैं अगर पच्चीस दिनके लिए अन्न ही संग्रह करके रखता हूं तो मेरा व्यवहार चौबीस मनुष्योंका अन्नका संग्रह चुरानेके बरा बर है और इतने मनुष्योंको कम या अधिक मात्रामें भूखों मारनेका पाप मेरे सिर है। इसके अलावा सृष्टिमें अधिक संग्रह ही न होनेके कारण इतना संग्रह करनेके लिए मुझे कुटिल मार्गोंका अवलंबन करना पड़ता है। एक-बारगी संग्रह करनेमें मेरी शक्तिपर अतिरिक्त बोझ पड़ता है इसलिए मेरी वीर्य-हानि होती ही रहती है। इसके अतिरिक्त इतना परिग्रह सुर क्षित रखनेकी चिंताके कारण मेरा चित्त भी प्रसन्न नहीं रह सकता। अर्थ संग्रहकी एक ही क्रियामें सत्य अहिंसा अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांचों व्रतोंका सामुदायिक भंग होता है।

इसलिए कम-से-कम यानी केवल शरीर-निर्वाहके लिए ही संग्रह करना चाहिए। वह भी—'अमानी मर्दन कृत्वा श्रमसुधावधारिणा'— "शरीर-श्रम द्वारा शरीरमेंसे पानी निकालकर"—करना चाहिए। केवल शरीर-कर्मसे शरीर-यात्रा चलानेसे पाप लगनेका डर नहीं होता—'नाप्नोति किल्बिषम्' यह भगवान् श्रीकृष्णका आश्वासन है। परन्तु जैसाकि कालि दासने रघुवंशके राजाओंका वर्णन करते हुए कहा है उसमें भी त्यागकी वृत्ति होनी चाहिए। कारण केवल तुम्हारा धन ही नहीं तुम्हारा शरीर भी तुम्हारा निजका नहीं है किंतु सामाजिक है ईश्वरका है। सारांश संग्रहका परिमाण अल्पत्व या तात्कालिक साधन शारीरिक श्रम हेतु केवल शरीर-यात्रा और वृत्ति त्यागकी हो तो इतना भोग धर्मको मंजूर है। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा'।

अर्थकी राहमें—

अवश्य जीवन-प्रवाह चिरस्थायी है। जो योग्य होगा वह टिकेगा जो अयोग्य होगा उसका नाश होगा। इसलिए सबका सुभीता देखनेका प्रयास व्यर्थ है। इसके अलावा विश्वका विस्तार अनंत है। उसका एक जरा-सा ही हिस्सा हमारे काबूमें आ पाया है। भौतिक शास्त्रों (विज्ञान) की ज्यों-ज्यों उन्नति होगी त्यों-त्यों हमारा प्रभुत्व भी अधिक विस्तृत होने की संभावना है। इसलिए अगर हम सबकी सुविधा देखनेकी अनावश्यक जिम्मेदारी स्वीकार कर भी लें तो भी उसे पूरी करनेका एकमात्र उपाय हमारा अपना खर्च कम करना नहीं है। सबके सामुदायिक सुखकी वृद्धि करनेका एक दूसरा रास्ता भी हमारे लिए अभी खुला है और वही जीवनका रास्ता है। सृष्टिमें अनन्त भण्डार भरा हुआ है। पर हमें उसका पूरा ज्ञान नहीं है। इसलिए वैज्ञानिक आविष्कारकी दिशामें प्रयत्न जारी रखकर भविष्यके लिए संग्रह करनेमें कोई हर्ज नहीं है—बल्कि संग्रह करना कर्तव्य है। मनुष्यकी जरूरत जितनी बढ़ेगी उतना ही व्यापारको उत्तेजन मिलेगा और संपत्ति बढ़ेगी। इसलिए संग्रह अवश्य करना चाहिए।

लेकिन बिलकुल ही एकान्तिक स्वार्थ ठीक नहीं होता। कारण कि मनुष्य समाजप्रिय है इसलिए उसे दूसरोंके स्वार्थका भी विचार करना ही पड़ता है। अन्नकी रोटीको स्वादिष्ट बनानेके लिए स्वार्थके आटेमें थोड़ा-सा परार्थका नमक भी मिलाना जरूरी हो जाता है। लेकिन याद रहे कि आटेमें नमक मिलाया है न कि नमकमें आटा। स्वार्थके आसपर परार्थका नियम बना लेनेसे शोभा बढ़ जाती है। लेकिन जिसके बराबर मिट्टी मिलाना एक बात है और वह नमकमें आटा घोल देना दूसरी बात है। परार्थके सिद्धान्तको अगर अनावश्यक महत्त्व दिया जायगा तो परावलम्बनको प्रोत्साहन मिलेगा। यह स्वावलम्बनका शत्रु है। स्वार्थमय जीवन-संग्राममें जो दुर्बल रहे उनका नष्ट होना ही चाहिए और दुर्बलताको बारीकीसे अगर हम सत्त्वोद्भूत हो तो वह दूषण नहीं है किंतु भूषण ही है।

पर दुनियाका काम उलटा दूसरोंका अवलंबन करता है। प्याऊ धर्मकार्य पुण्य माना जाता है लेकिन स्वयं धर्म-शास्त्रोंने ही कहा है कि प्याऊपर पानी पिलानेवाला पापका भागी होता है इसका क्या मतलब है?

क्या प्याऊ इसलिए होती है कि लोग उसका पानी ही न पियें? दूसरोंको पानी पिलानेसे उन्हें हमारे पापका अंश मिलेगा और हमारा पाप कुछ अंश में घटेगा इस विचारमें कहांतक सचाई है? और फिर यह देखिये कि मैं लोगोंकी चिंता करूं और लोग मेरी चिंता करें, इस तरहका शाब्दिक भाव मान करनेके बजाय क्या यही श्रेयस्कर नहीं है कि हरेक अपनी-अपनी फिक्र करे? शहरोंमें कुछ स्त्रियां अपने बच्चोंको रास्तेपर शौच कराती हैं। लेकिन मजा यह कि अपने घरकी अगल-बगलमें गंदगी न हो इसलिए अपने बच्चोंको दूसरोंके घरके सामने बैठाती हैं? और दूसरे भी प्रतियोगी सहयोगके सिद्धान्तके अनुसार उनके घरके सामने बैठाते हैं। इसके बदले सीधे अपने बच्चोंको अपने घरके सामने बैठायें तो क्या हर्ज है? यह परार्थ का दम्भ भी इसी कोटिका है। इसलिए मनुष्यताका अपमान करनेवाली यह परार्थ-वृत्ति त्यागकर हरेकको स्वार्थ-भावना करते रहना चाहिए। दूसरेकी बहुत अधिक चिंता नहीं करनी चाहिए। सहानुभूतिके सुखके लिए या दूर दर्शी स्वार्थकी दृष्टिसे तात्कालिक सुखका त्याग क्वचित् करना पड़ता है। उतना समझौता जरूर कर लेना चाहिए।

काम क्रोध और लोभ ये तीन नरकके दरवाजे माने हैं। इसलिए मोक्षका मुख्य आलम्बन इन्हींपर होना स्वाभाविक है। इसलिए इन तीनोंके विषयमें समभोगकी दृष्टिसे धर्म और अर्थका क्या रूप हो सकता है इसका विचार यहांतक किया गया। आखिर काम भी एक पुरुषार्थ ही है। इसलिए उसका जो चित्र यहां खींचा गया है, वह शायद कुछ लोगोंको अतिरंजित मालूम होगा। लेकिन है वह बिलकुल वस्तु-स्थितिका निदर्शक। "स्वर्गकी गुलामीकी अपेक्षा तो नरकका अधिराज्य श्रेयस्कर है" मिल्टनके शैतानका यह वाक्य भी इसी अर्थका द्योतक है। 'पुरुषार्थ' का अर्थ है पुरुषको प्रवृत्त करनेवाला हेतु। यह आवश्यक नहीं कि वह हेतु 'सत्' हो हो। हिंदू-धर्मने कामको भी पुरुषार्थ माना है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसने कामपर मान्यता (स्वीकृति) की मुहर लगा दी हो। यहां तो इतना ही अर्थ है कि काम भी मनुष्यके मनमें रहनेवाली एक प्रेरक शक्ति है। शास्त्रवान् पुरुष चाहे उसे स्वीकार भी न करे। इसके विपरीत 'मोक्ष' की गिनती भी 'पुरुषार्थ' में करके हिंदू-धर्मने उसपर मान्यताकी मुहर नहीं लगाई है। यहां

का इतना ही अभिप्राय है कि मोक्ष भी मानवीय मनकी एक प्रेरक शक्ति है। देहधारी पुरुषके लिए उसकी मात्रा मानना शायद अशक्य भी हो।

शास्त्रकारोंने तो केवल मनुष्यकी सद्गुण और गतिशील प्रेरणाओंकी तरफ लक्ष्यमात्र किया है। मोक्ष परम पुरुषार्थ है, इसलिए इच्छा यह है कि मनुष्य उसकी तरफ अग्रसर हो। और काम अधम पुरुषार्थ है, इसलिए इरादा यह है कि जहांतक हो सके उसकी चमक ही न देखी जाय। लेकिन इन दोनों का मिलाप करनेकी प्रेरणा होना मनुष्यके लिए स्वाभाविक है। इसलिए धर्म और अर्थ मिलानेकी दो प्रेरणाएं कही गई हैं। मनुष्यको सुयोग देनेकी चेष्टा करनेवाले ये दो मध्यस्थ हैं। सरकार जैसे किसीको धर्मनिष्ठ होना किसीको अर्थ प्राप्त कराना।

वल्लभाचार्यकी व्यवस्थाके अनुसार सृष्टिके तीन विभाग होते हैं— (१) पुष्टि (२) मर्यादा और (३) प्रवाह। जो परम-साक्षात्कारका अमृत पीकर पुष्ट हो गये हैं मोक्ष-शास्त्रके ऐसे उपासक पुष्टिकी भूमिकापर विहार किया करते हैं। माया नदीके प्रवाहमें बह जानेवाले काम-शास्त्रके अनुयायी प्रवाह-पतित वासनाओंके गुलाम होते हैं। ये दोनों तरहके व्यक्ति समाज-शास्त्रकी मर्यादासे परे हैं। काम-कामी पुरुष समाजके सुखका विचार ही नहीं कर सकता क्योंकि उसे तो अपना सुख देखना है। मोक्षार्थी पुरुष भी समाज-सुखकी फिक्र नहीं कर सकता क्योंकि उसे किसीके भी सुखकी चिंता नहीं। कामशास्त्र स्व-सुखार्थी है और मोक्ष-शास्त्र स्व-हितार्थी है। इस तरह दोनों स्व-अर्थी ही हैं। "प्रायेण देव-मुनयः स्व-मुक्तिकामाः—" "देव या ऋषि भी प्रायः स्वार्थी ही होते हैं" यह भक्तप्रवर प्रह्लादकी प्रेमभरी शिकायत है। इन दो एकांतिक वर्गोंके सिवा सामाजिक कानूनों या नियमोंकी मर्यादाओंमें रहनेवाले जो लोग होते हैं उनके लिए धर्मशास्त्र या अर्थशास्त्रकी प्रवृत्ति है।

अब मोक्ष-शास्त्रके साथ न्याय करनेकी दृष्टिसे इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जैसे काम-शास्त्रको समाजकी परवा नहीं है वैसे समाजको मोक्ष-शास्त्रकी गरज नहीं है। अर्थात् समाज और काम-शास्त्रके अनबनकी जिम्मेदारी अगर काम-शास्त्रपर है तो समाज और मोक्ष-शास्त्रके अनबनका दायित्व समाजपर ही है। मोक्ष-शास्त्र स्वहित परायण तो है, परन्तु जैसा

स्व-सुख और पर-सुखका विरोध है वैसा स्वहित और पर-हितका विरोध नहीं है। इसलिए जो 'स्व-हित'-रत होता है वह अपने-आप ही 'सर्वभूत हितरत' हो जाता है।

लेकिन मनुष्य 'सर्वभूत-हितरत' होते हुए भी समाजको प्रिय नहीं होता। कारण यह कि समाज सुख-लोलुप होता है उसे हितकी कोई खास परवा नहीं है। सात्त्विकताका दुःख भी वह ज्यादा सह नहीं सकता। यह सच है कि सन्त जगतके कल्याणके लिए होते हैं। लेकिन यदि वे समाजके सुखके लिए हों तो समाजको प्रिय होंगे। ईसा, सुकरात, तुकाराम आदि सन्त समाजको प्रिय हैं परन्तु अपने-अपने समयमें तो वे समाजको कांटेकी तरह चुभते थे। आज भी वे इसलिए प्रिय नहीं हैं कि समाज उतना आगे बढ़ गया है बल्कि इसलिए कि वे आज जीवित नहीं हैं।

अब कामशास्त्र चूंकि बिल्कुल ही तामस और समाजकी अवहेलना करनेवाला है इसलिए वह समाजको सुखदायी होता है। काम-शास्त्र समाजको 'सुख' देता है मोक्ष-शास्त्र 'हित' देता है इसलिए दोनों समाज बाह्य हैं। कामशास्त्रका तामस 'प्रवाह' और मोक्ष शास्त्रकी सात्त्विक 'पुष्टि' दोनों समाजको एक-सी असह्यकर मालूम होती हैं। किसी-न-किसी मरीजकी ऐसी नाजुक हालत हो जाती है कि उसे अन्न दीजिये तो हजम नहीं होता और उपवास सहन नहीं होता। समाज भी एक ऐसा ही नाजुक रोगी है। बेचारा चिकित्सकोंके प्रयोगका विषय हो रहा है। उसके लिए तामस प्रवाह और सात्त्विक पुष्टि दोनों वर्ज्य ठहरे हैं इसलिए उसपर राजस मर्यादाके प्रयोग हो रहे हैं। धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनों समाजके लिए मर्यादाएं कायम करनेवाले शास्त्र हैं। दोनोंको राजस कहा जाय तो भी धर्मशास्त्रको अर्थ-प्रचुर और अर्थशास्त्रको धर्म-प्रचुर कहना होगा। हमारे यहां मुख्यतः धर्मशास्त्रका विकास हुआ पश्चिममें अर्थशास्त्रका हुआ।

थोड़ा-सा समुद्र-मन्थन करते ही विष निकल आया परन्तु अमृत हाथ आनेके लिए बहुत परिश्रम करना पड़ा। उसी न्यायसे समाज-शास्त्रके उदरसे पहले अर्थशास्त्रका जन्म होता है, लेकिन धर्मशास्त्रके उदयके लिए और अध्ययनकी आवश्यकता होती है। हमारे यहां भी धर्मशास्त्र

था। वह बिल्कुल रहा ही नहीं ऐसी बात नहीं है परन्तु उसकी अहमियतको तासीर जानकर समाज-शास्त्रका अधिक मन्थन किया गया और धर्मशास्त्र निकाला गया। पाश्चात्य-संस्कृतिमें धर्मशास्त्रका विकास नहीं हुआ। इसका यही कारण है। या फिर यह कहना ही उचित है कि विकास नहीं हुआ। पूर्ण विकास हुआ इसीलिए धर्मशास्त्रका उदय हुआ। पाश्चात्य धर्मशास्त्रके इतिहाससे भी इसी बातका प्रमाण मिल रहा है। "धर्मशास्त्रात् बलवत् अर्थशास्त्रमिति स्थितिः —"अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र अधिक प्रमाणभूत है" इस सिद्धान्तका जन्म हुए बिना अर्थशास्त्रका पुनरुदय ही नहीं हो सकता। इस सिद्धान्तके जन्मके पश्चात् पाश्चात्य संस्कृतिमें सब शताब्दीके उत्तरार्द्धसे होने लगे।

अर्थशास्त्रके मत-विभागके तत्त्वसे अब सभी डरने लगे हैं। प्राचीन राष्ट्र मानवता 'अहमन्नम् अहमन्नम् अहमन्नम्'— मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ मैं अन्न हूँ—ऐसी उपासना करें और वर्तमान राष्ट्र 'अहमन्नादः अहमन्नादः अहमन्नादः' —"मैं खानेवाला हूँ मैं खानेवाला हूँ मैं खानेवाला हूँ" —यह मन्त्र जपते रहें ऐसे बीच अन्न-विभागसे अब दुनिया बिल्कुल ऊब गई और थिर गई है। रस्किन जैसे दार्शनिकोंने अर्थशास्त्र के विरुद्ध जो मोर्चा शुरू किया उस पाले बजानेवाले वीरोंकी परम्परा अव्याहत चल रही है। और सब लोगोंका मन विषमता ही होनेके स्पष्ट लक्षण दिखाई देने लगे हैं। 'अर्थशास्त्र' को रस्किनने 'अनर्थशास्त्र' नाम कभीका दे रखा है। उसी नामका 'डिस्मल साइंस' (काली विद्या) कहकर, बीसवीं सदीमें पाश्चात्य लोग चल रहे हैं। इसीलिए अर्थशास्त्रके नये यथोचित-संस्करण निकलने लगे हैं। इसपर कल्पना से आशा की जा सकती है कि पाश्चात्य संस्कृतिमें कौनसा बड़ा अवतार होगा। पिछले महायुद्धसे तो अवतार-वेदना भी शुरू हो गई है। इससे कुछ लोगों का यह ख्याल है कि अब यह अवतार जल्दी ही होनेवाला है।

यह अवतार कितनी देरमें होनेवाला है यह कहना कठिन है। लेकिन इस अवतार के आगेकी प्रारम्भिक तैयारी करनेवाले नीति-शास्त्रका जन्म हो चुका है और वह दिन-पर-दिन बढ़ भी रहा है, धर्म प्रधान पौरस्त्य संस्कृति और अर्थ-प्रधान पाश्चात्य संस्कृतिकी एक-वाक्यताकी भाषा

नीतिशास्त्र से बहुत-कुछ की जा सकती है। लेकिन आकाश और पृथ्वीको स्पर्श करनेवाली क्षितिजकी रेखा जिस प्रकार काल्पनिक है, उसी प्रकार की स्थिति इस उभयान्वयी शास्त्रकी भी है। कोषका काम केवल भले-बुरे सभी तरहके शब्दोंका संग्रह करना है। इसलिए उसका अपना कोई भी विशेष संदेश नहीं होता। "तुम व्यवहार करते समय मेरा उपयोग कर सकते हो" इससे अधिक वह कुछ नहीं कह सकता। इसी तरह नीति-शास्त्र का कोई विशेष प्रमेय नहीं है। याचक समान 'मुझे बरतो मुझे बरतो' कहते रहना ही उसके भाग्यमें लिखा है। उसकी गिनती पुरुषार्थोंमें करनेकी किसी को नहीं सूझती।

नीतिशास्त्रका सिद्धांत ही यह है कि किसी भी सिद्धांतका अत्यधिक आग्रह नहीं रखना चाहिए। इसलिए इस बिंदुपर सारी दुनियाको एक किया जा सकता है। लेकिन 'संतोषसे रहो' 'हिलमिलकर रहो' या 'जैसे चाहो वैसे रहो'—इस तरहकी सविनय सिफारिश करनेसे अधिक नीतिशास्त्र आज कुछ भी नहीं कर सकता। इसलिए उसके झंडेके नीचे सारा विश्व एकत्र होनेकी संभावना होते हुए भी इस भव्य विश्वासकी अपेक्षा लोगोंको समोटीस भी अधिक संतोष होता है। 'मरनेतक जीओगे' इस आशीर्वादमें सत्य है, परन्तु स्फूर्ति नहीं है। इसलिए इस आशीर्वादमें उतना संतोष देनेकी भी सामर्थ्य नहीं है जितना संतोष कि परीक्षितको 'सात दिनमें मरोगे' इस शापसे हुआ होगा। मनुष्यको मनुष्यतासे व्यवहार करना चाहिए, यह नीति-शास्त्रका रहस्य है। और मनुष्यताके क्या माने हैं? मनुष्यका स्वभाव! स्वभावके माने प्रत्येक पदार्थका धर्म! ऐसे व्यापक शास्त्रसे मनुष्यको संतोष कैसे हो सकता है? संस्कृत न्यायशास्त्रमें एक ही प्रकार प्रमेय होते हैं। 'जिसमें घटत्व है वह घट है' "जिसमें पटत्व है वह पट है" 'जिसमें पत्थरपन है वह पत्थर!' और जिसमें यह सब हो वह है न्याय शास्त्र! ऐसी ही दशा नीतिशास्त्रकी हो रही है। इसलिए धर्ममोक्षकी बात तो जाने दीजिए अर्थ-कामके बराबरकी स्फूर्ति भी उसमें नहीं है।

परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि धर्म और अर्थ चाहे जितना ही समन्वयका स्वांग क्यों न करें फिर भी वे पक्षपाती ही हैं और नीति-शास्त्र निष्पक्षपात है। निष्पक्षपात वृत्तिके कारण पक्षपात-ग्रस्त हुए हम भले

ही हो तो भी वह उसका गुण ही माना जाना चाहिए। जिसके भोजनमें मार्दव नहीं होता। रोजकी खुराक होनेसे नीतिशास्त्रमें चाहे आकर्षकताका अभाव भले ही हो परन्तु सारे समाजको देने योग्य उससे बढ़कर पौष्टिक दूसरी खुराक नहीं है। धर्म-मोक्ष पौष्टिक होते हुए भी महंगे हैं। अर्थ-काम सस्ते तो हैं मगर उनकी गिनती कुपथ्यमें होती है। इसलिए संसारको आज नीतिशास्त्रके बिना चारा नहीं है।

ऊपर कहा गया है कि हमारी संस्कृति धर्म प्रधान है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम धर्म-प्रधान हैं। हम तो अर्थ-कामके ही दास हैं। इसलिए यद्यपि हमारी संस्कृतिको नीतिकी परवाह नहीं तथापि हमारे लिए नीति की उपासना करना नितान्त आवश्यक है। सारांश क्या हमारी और क्या इतरोंकी—सारे संसारकी ही—सामान्य भाषा नीतिशास्त्र ही है ऐसा कहा जा सकता है। सभी पुरुषार्थोंकी शिक्षा इसी भाषामें दी जानी चाहिए। नीति पुरुषार्थ भले ही न हो किन्तु पुरुषार्थोंके शिक्षणका द्वार है। अगर पुरुषार्थोंका भाषान्तर नीतिकी भाषामें किया जाय तो सभी पुरुषार्थोंका स्वरूप सौम्य तथा परंपरानुकूल प्रतीत होगा।

वसिष्ठ ऋषिके आश्रममें बाघ और गाय एक ही घाटपर पानी पीते थे ऐसा वर्णन है। इसका केवल स्थूलरूप ही अर्थ नहीं है परन्तु दोहरा अर्थ है—अर्थात् न केवल बाघकी क्रूरता ही नष्ट होती थी बल्कि गायकी भीरुता भी नष्ट हो जाती थी। मनमाना बाघ खूब खाय और गाय खूब फूले। इस तरह मेल बैठता है नहीं तो उनको साथ रखनेकी सामर्थ्य तो सर्कसवालोंमें भी है। उसके लिए ऋषिके आश्रमकी जरूरत नहीं है।

नीतिके माध्यमसे तो सभी पुरुषोंका आपसी या एकांगी स्वरूप बदलकर उनका समन्वय हो सकेगा। नीतिके शीशेमें से चारों पुरुषार्थोंके रंग बिल्कुल बदले हुए नजर आयेंगे। कामकी सुन्दरता अर्थकी उपयोगिता धर्मकी पवित्रता और मोक्षकी स्वतन्त्रताका एकत्र दर्शन होगा और संपूर्ण जीवनकी यथार्थ कल्पना आयेगी। जीवन उपयोगिता पावित्र्य और स्वातंत्र्य इन चार विभावोंका नीतिका आकाश स्पर्श करता है। इसलिए अगर चारों पुरुषार्थ न सही नीतिका चश्मा नजर कर लो उनका द्वैत कम होकर मनुष्य को सन्तोष होनेकी सम्भावना है।

परन्तु आधुनिक नीतिशास्त्रका अपना कोई निश्चित सिद्धान्त न होनेके कारण वह बिलकुल खोखला हो गया है। इसलिए उससे ठोस सन्तोषकी आशा करना व्यर्थ है। दूसरी भाषामें वर्तमान नीतिशास्त्रके आत्मा ही नहीं है, इसलिए उसका स्वरूप बहुत-कुछ यान्त्रिक हो गया है। चार पुरुषार्थोंके मिलाप की सम्भावना दिखाई देनेपर भी उनमें समझौता करनेका कर्तृत्व इस शास्त्रमें नहीं है, इसलिए इस कमीकी पूर्ति करनेके उद्देश्यसे ऋषियोंने कर्तृत्ववान् योगशास्त्रका निर्माण किया। समझौतेकी पूर्व तैयारीके लिए नीतिशास्त्रको धन्यवाद देकर अपने कार्यके लिए इस योगशास्त्रकी शरण लेनी पड़ती। 'अथ योगानुशासनम्'।

२६

निर्भयता

निर्भयता तीन प्रकारकी होती है—जिन निर्भयता, ईश्वरनिष्ठ निर्भयता, विवेक निर्भयता। 'जिन' निर्भयता वह जिनयता है जो शत्रुओंसे परिचय प्राप्त करके उनके इलाज जान लेनेसे आती है। यह जितनी प्राप्त हो सकती हो उतनी कर लेनी चाहिए। जिसकी सांपोंसे जान पहचान हो गई, निर्विष और सविष सांपोंका भेद जिसने जान लिया, सांप पकड़नेकी कला जिसे सिद्ध हो गई, सांप काटनेपर किये जानेवाले इलाज जिसे मालूम हो गये, सांपसे बचनेकी युक्ति जिसे विदित हो गई, वह सांपोंकी तरफसे काफी निर्भय हो जायगा। अवश्य ही यह निर्भयता सापेक्ष या सीमित रहेगी। हरेकको शायद यह प्राप्त न हो सके, लेकिन जिसे सांपोंमें रहना पड़ता है उसके लिए यह निर्भयता व्यावहारिक उपयोगकी चीज है, क्योंकि उसकी बदौलत जो हिम्मत आती है, वह मनुष्यको अस्वाभाविक कायरतासे बचाती है। लेकिन यह निर्भयता मर्यादित है।

दूसरी यानी ईश्वरनिष्ठ निर्भयता मनुष्यको पूर्ण निर्भय बनाती है।

परन्तु दीर्घ प्रयत्न पुरुषार्थ भक्ति इत्यादि साधनोंके सतत अनुष्ठानके बिना वह प्राप्त नहीं होती। जब वह प्राप्त होगी तो किसी अवान्तर सहायताकी जरूरत ही न रहेगी।

इसके बाद तीसरी किस्मकी निर्भयता है। वह मनुष्यको मनोबलक और उतावला साहस नहीं करने देती। और फिर भी अगर खतरेका सामना करना ही पड़े तो विवेकमें बुद्धि शान्त रखना सिखाती है। साधकको चाहिए कि वह इस किस्मकी निर्भयताको प्राप्त करनेका प्रयत्न करे। वह हरेककी पहुँचमें है।

मान लीजिये कि मेरा मौतसे सामना हो गया और वह मुझपर झपटना ही चाहता है। सम्भव है कि मेरी मृत्यु अभी बदी न हो। मगर बदी हो तो वह टल नहीं सकती। परन्तु यदि मैं भयभीत न होकर अपनी बुद्धि शान्त रखनेका प्रयत्न करूँ तो बचनेका कोई रास्ता सूझनेकी सम्भावना है? या ऐसा कोई उपाय न सूझे तो भी अगर मैं अपना होश बनाये रखूँ तो अन्तिम समयमें हरि-स्मरण कर सकूँगा। ऐसा हुआ तो वह परम लाभ होगा। इस प्रकार यह विवेकी निर्भयता दोनों तरहसे लाभदायी है और इसीलिए वह सबके प्रयत्नोंका विषय होने योग्य है।

७

आत्म शुद्धिका अनुभव

आप सब जानते हैं कि आज गांधीजीका जन्म-दिन है। ईश्वरकी कृपासे हमारे इस हिन्दुस्तानमें गांधीजी जैसे अनेक व्यक्ति इससे पहले भी हुए हैं। [illegible] प्रकार यहां समय-समयपर ऐसे अच्छे व्यक्ति भेजता आया है। आइये हम ईश्वरसे प्रार्थना करें कि हमारे ऐसे सत्पुरुषोंको देखते ही [illegible]

मैं आज गांधीजीके विषयमें कुछ न कहूँगा। अपने जीवनमें कोई उत्तम

ही यह उत्सव पसंद नहीं है। इसलिए उन्होंने इस सप्ताहको खादी-सप्ताह नाम दिया है। अपनेसे संबंध रखनेवाले उत्सवको कोई प्रोत्साहन नहीं दे सकता परन्तु गांधीजी इस उत्सवको प्रोत्साहन दे सकते हैं। कारण यह उत्सव एक सिद्धान्तके प्रचारके लिए, एक विचारके विस्तारके लिए मनाया जाता है।

गांधीजी किसी ज्ञानी पुरुषके एक कथनका जिक्र किया करते हैं जिसका आशय यह है कि किसी भी व्यक्तिका जीवन जबतक समाप्त नहीं हो जाता तबतक उसके विषयमें मौन रहना ही उचित है। मुझे तो व्यक्तिका स्थूल चरित्र धूल धान-जैसी ही बात मालूम होती है। मनुष्य ईश्वरकी लिखी हुई एक चिट्ठी है, एक सन्देश है। चिट्ठीका मजमून देखना चाहिए, उसकी लम्बाई-चौड़ाई और वजन देखनेसे मतलब नहीं है।

अभी यहां जो कार्यक्रम रहा उसमें लड़कोंने काफी उत्साह दिखाया। ऐसे कार्यक्रमोंमें लड़के हमेशा उत्साह और आनन्दसे शरीक होते हैं। परन्तु जो प्रौढ़ लोग यहां इकट्ठे हुए, उन्होंने एकत्र बैठकर उत्साहसे सूत काता यह कार्यक्रमका बहुत सुन्दर अंग है। सालभरमें कई त्योहार आते हैं, उत्सव भी होते हैं। हम उस दिनके लिए कोई-न-कोई कार्यक्रम भी बना लेते हैं परन्तु उसी दिनके लिए कार्यक्रम बनानेसे हम उस उत्सवसे पूरा लाभ नहीं उठा सकते। इस अवसरपर शुरू किया हुआ कार्यक्रम हम साल भर तक चलाना चाहिए। इसलिए यहां एकत्र हुई बहनोंसे मैं यह सुझाता कि वे लोग आजसे अमुक समयके लिए निश्चय रोज आध घंटा नियमित रूपसे कातनेका संकल्प करें। अगर आप ऐसा शुभ निश्चय करेंगे तो उस निश्चयका पूरा करनेमें ईश्वर आपकी हर तरहसे सहायता करेगा। ईश्वर तो इसके इन्तजारमें ही रहता है कि कौन शुभ निश्चय करे और कब उसकी मदद करनेका सुयोग मुझे मिले। रोज नियमित रूपसे सूत कातिये। लेकिन कातना ही काफी नहीं है। उसका लेखा भी रखना चाहिए। यह लेखा लोगोंके लिए नहीं रखना है, अपने दिलको टटोलनेके लिए रखना है। निश्चय थोड़ा-सा ही क्यों न हो मगर उसका पालन पूरा पूरा होना चाहिए। हम ऐसा करेंगे तो उससे हमारा संकल्प-बल बढ़ेगा। यह शक्ति हमारे अन्दर भरी हुई है लेकिन हमें उसका अनुभव नहीं होता। आत्म-शक्तिका

अनुभव हमें नहीं होता क्योंकि कोई-न-कोई संकल्प करके उसे पूरा करनेकी आदत हम नहीं डालते। छोटे-छोटे ही संकल्प या निश्चय कीजिये और उन्हें कार्यान्वित कीजिये तब आत्म-शक्तिका अनुभव होने लगेगा।

दूसरी बात यह है कि गांवमें जो काम हुआ है उसके निरीक्षणसे यह पता चलता है कि वे ही लोग काम करते हैं जिन्हें इस काममें शुरूसे दिलचस्पी रही। हमें इसकी जांच करनी चाहिए कि दूसरे लोग इसमें क्यों नहीं शामिल होते। कातनेवाले कातते हैं इतना ही काफी नहीं है। इसका भी विचार करना चाहिए कि न कातनेवाले क्यों नहीं कातते। हमने अपना कर्म अदा कर दिया इतना काफी है ऐसा कहनेसे काम नहीं चलेगा। इसका भी चिंतन करना चाहिए कि यह चीज गांवभरमें कैसे फैलेगी? इसमें असली दिक्कत यह है कि हम शायद ही कभी ऐसा मानकर व्यवहार करते हों कि सारा गांव एक है। जब आग लग जाती है बाढ़ आती या कोई छूतकी बीमारी फैलने लगती है तभी हम सारे गांवका विचार करते हैं। लेकिन यह तो अपवाद हुआ। हमारे नित्यके व्यवहारमें यह बात नहीं पाई जाती। जब किसीका स्पर्श ज्ञान बिलकुल नष्ट होनेवाला होता है तो उसे मामूली स्पर्श मालूम ही नहीं पड़ता। जोरसे चुटकी काटिये तो थोड़ा-सा पता चलता है। वही हाल हमारा है। हमारा आत्म-ज्ञान बिलकुल मरणोन्मुख हो गया है।

पशुओंका आत्मज्ञान उनकी देहतक सीमित रहता है। वे अपनी संतानको भी नहीं पहचानते। अलबत्ता माताको कुछ दिनोंतक यह ज्ञान होता है क्योंकि उसे दूध पिलाना पड़ता है। लेकिन वह पहचान भी तभी तक होती है जबतक वह दूध पिलाती रहती है। उसके बाद अक्सर वह भी भूल जाती है। नरको तो इतनी भी पहचान नहीं होती। कुछ जानवरोंमें तो बाप अपने बच्चेको खा जाता है। मनुष्य अपने बाल-बच्चोंको पहचानता है इसलिए वह पशुसे श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है। कौन-सा प्राणी कितना श्रेष्ठ है इसका निर्णय उसके आकारसे नहीं होता। उसकी आत्मरक्षाकी शक्ति या युक्तिसे भी इसका पता नहीं चलता। उसका आत्मज्ञान कितना व्यापक है इसीसे उसकी श्रेष्ठताका हिसाब लगाया जा सकता है। दूसरे प्राणियोंका यह भान उनके शरीरतक ही रहता है। उनकी मानी गई

जातिके मनुष्योंमें भी वह कम-से-कम उनके परिवारतक व्यापक होता है। जितनी कमाई होती है वह सारे घरकी मानी जाती है। कुछ कुटुंबोंमें तो यह कौटुंबिक प्रेम भी नहीं होता। भाई भाई पति-पत्नी और बाप बेटोंमें झगड़े-टंटे होते रहते हैं।

हिंदुस्तानमें फिर भी कौटुम्बिक प्रेम थोड़ा-बहुत पाया जाता है। लेकिन कुटुंबसे बाहर वह बहुत कम मालूम है। जब कोई भारी आपत्ति आ पड़ती है तो उतने समयके लिए सारा गांव एक हो जाता है। आमतौर पर कुटुंबसे बाहर देखनेकी वृत्ति नहीं है। इसका यह मतलब हुआ कि हिंदुस्तानका आत्म ज्ञान थोड़ेसी तरफतक रहा है। इसलिए मेरा आपसे अनुरोध है कि समूचे गांवको एक इकाई मानकर सारे गांवकी चिंता कीजिये। यह गोपालकृष्णका मंदिर कौनसा संदेश सुनाता है? इस मंदिरका मालिक गोपालकृष्ण है। उसके पास उनके सब बालकोंको आनेकी इजाजत होनी चाहिए। यह मंदिर हरिजनोंके लिए खोलकर आपने इतना काम किया है। किन्तु मंदिर खोलनेका पूरा अर्थ समझकर 'इस गोपालकृष्णकी छत्रछायामें यह सारा गांव एक है' ऐसी भावना का विकास कीजिये।

गांवकी प्राथमिक आवश्यकताकी चीजें गांवमें ही बननी चाहिए। अगर हम ऐसी चीज बाहरसे लाने लगेंगे तो बाहरके लोगोंपर जुल्म होगा। जापानकी मिलों और कारखानोंमें मजदूरोंको बारह-बारह घंटे काम करना पड़ता है। कम-से कम मजदूरीमें उनसे ज्यादा-से-ज्यादा काम लिया जाता है। वे यह सब किसलिए करते हैं? हिंदुस्तानके बाजार अपने हाथमें रखनेके लिए। मगर उनकी भाषामें "हमारी आवश्यकताएं पूरी करनेके लिए।" यह वहांके मालदार पूंजीपति कहते हैं। वहांके गरीबोंका इसमें कोई फायदा नहीं। वहांके मालदार आदमियोंका भी कल्याण इसमें नहीं है और हमारा तो बिलकुल नहीं है। हमारे उनका माल खरीदनेसे उन्हें जो पैसा मिलता है उसका वे कैसा उपयोग करते हैं? उस पैसेसे वे बम बनाते हैं। उनकी बदौलत वे आज चीनका खून पी रहे हैं। इंग्लैंड जर्मनी आदि राष्ट्रोंका भी यही कार्यक्रम है। बाहरका माल खरीदकर हम इस प्रकार दूसरोंका शोषण बढ़ाते हैं, अस्त्रशस्त्र और गोला-बारूद बनानेके लिए पैसा देते हैं। इसका उपयोग राष्ट्र-के-राष्ट्र वीरान कर देनेके लिए हो रहा है।

बीस-बीस हजार फुटकी ऊंचाईसे बम गिराये जाते हैं। जर्मन लोग बड़े गर्वसे कहते हैं कि 'हमने लन्दनको बेचिराग कर दिया।' अंग्रेज कहते हैं 'हमने बर्लिन को भून डाला।' और हम लोग समाचारपत्रोंमें ये सब खबरें पढ़-पढ़कर मजा लेते हैं। औरतें और बच्चे मर रहे हैं। मंदिर विद्यालय और दवाखाने जमींदोज हो रहे हैं। लड़नेवाला और न लड़नेवालोंमें कोई फर्क नहीं किया जाता। क्या इन लड़नेवालोंको हम पापी कहें? लेकिन हम पुण्यवान् कैसे साबित हो सकते हैं? हम ही उनका माल खरीदते हैं?

इस प्रकार हम युद्धोंको उनके युद्ध कार्यमें सक्रिय सहायता देते हैं। यह कहना व्यर्थ है कि हम तो सिर्फ अपनी जरूरतकी चीज खरीदते हैं हम किसीकी मदद नहीं करते। खरीदना और बेचना केवल मामूली व्यवहार नहीं है। उसमें परस्पर दान है। हम जो खरीदार हैं और वे जो बेचनेवाले हैं, दोनों एक दूसरेकी मदद करते हैं। परस्परके हम सहयोगी हैं। एक दूसरेके पाप-पुण्यमें हमारा हिस्सा है। अमरीका नकद सोना लेकर इंग्लैंडको सौदा बेचता है तो भी यह माना जाता है कि वह इंग्लैंडकी मदद करता है और अंग्रेज इस सहायताके लिए उसका उपकार मानते हैं। व्यापार व्यवहारमें भी पाप-पुण्यका बड़ा भारी सवाल है। बैंकवाला हमें ब्याज देता है लेकिन हमारे पैसे किसी व्यापारमें लगाता है। बैंकमें पैसे रखनेवाला उसके पाप-पुण्यका हिस्सेदार होता है। जिसका उपयोग पापके लिए होता हो ऐसी कोई भी मदद करना पाप ही है। इसलिए अपने घरकी प्राथमिक आवश्यकताकी चीजें बनानेका काम भी दूसरोंको सौंपनेका मतलब यह है कि हम सब पराश्रयता और आलस्यका पाप करते हैं और दूसरोंको भी उसमें डालनेमें सहायता करते हैं।

हिन्दुस्तान और चीन दोनों बहुत बड़े देश हैं। उनकी जनसंख्या दुनियाकी करीब सारी जन-संख्याके आधेसे कुछ ही कम है। इतने बड़े देश हैं लेकिन इनमें और क्या उत्पन्न होता है? ये दो विराट मानव-समुदाय माल और मुनाफेके मामलेमें खरीदार हैं। चीनमें तो फिर भी कुछ माल तैयार होता है, पर हिन्दुस्तानमें वह भी नहीं होता। हिन्दुस्तान सर्वथा पराधीन है। हम समझते हैं कि हम तो अपनी जरूरतकी

चीजें खरीदते हैं। हमसे मिले हुए पैसेका उपयोग जो लोग पापमें करते होंगे वे पापी हैं हम कैसे पापी हुए? जीव-दयाभिलाषी स्वयं जानवरोंको मारना हिंसा समझते हैं लेकिन कसाईके मारे हुए जानवरका मांस खानेमें वे हिंसा नहीं मानते। उसी प्रकारका विचार यह भी है। हमें ऐसे भ्रममें नहीं रहना चाहिए। गांधीजी जब यह कहते हैं कि खादी और ग्रामोद्योग द्वारा प्रत्येक गांवको स्वावलम्बी बनना चाहिए, तब वे हरेक गांवको सुखी बनाना चाहते हैं और साथ-साथ दुर्जनोंसे लोगोंपर जुल्म करनेकी शक्ति भी छीन लेना चाहते हैं। इस उपायसे दुर्जन और उन्हें शक्ति देनेवाले आलसी लोग दोनों पुण्यके रास्तेपर आयेंगे।

हम अपने पैरोंपर खड़े रहनेसे किसीसे द्वेष नहीं करते। अपना भला करते हैं। अगर हम अहमदाबाद, जापान या हिन्दुस्तानकी मिलोंका कपड़ा न खरीदें तो मिलवाले भूखों न मरेंगे। उनका पेट तो पहले ही से भरा हुआ है। बुद्धिमान होनेके कारण वे दूसरे कई धंधे भी कर सकते हैं। लेकिन हम किसान ग्रामोद्योग को छोड़नेके कारण उत्तरोत्तर कंगाल हो रहे हैं। इसके अलावा बाहरका माल खरीदकर हमने दुर्जनोंका बल बढ़ाया है। दुर्जन संगठित होकर आज दुनियापर राज कर रहे हैं। इसके लिए हम सब तरहसे जिम्मेवार हैं।

वास्तवमें ईश्वरने दुर्जनोंकी कोई अलग जाति नहीं पैदा की है। जब द्रव्यसंग्रहकी धुन सवार हो जाती है तब जन्मसिद्ध सज्जन भी धीरे-धीरे दुर्जन बनने लगता है। अगर हम स्वावलम्बी हो गये हमारे गांव अपने उद्योगके बल अपने पैरोंपर खड़े हो सके तो सज्जनको दुर्जन बनानेवाली लोभ-वृत्तिकी जड़ें ही उखड़ जायगी और आज जो सत्ताधारी बनकर बैठे हैं, उनकी लोगोंपर जुल्म करनेकी शक्ति निन्यानवे फीसदी गायब हो जायगी। लेकिन जुल्म करनेकी जो एक प्रतिशत शक्ति बच रह जायगी उसका क्या इलाज है? निन्यानवे प्रतिशत नष्ट हो जानेके बाद बाकी रहा हुआ एक प्रतिशत अपने-आप कुम्हला जायगा। लेकिन जैसे चिराग बुझनेके वक्त ज्यादा भभकता है उसी तरह अगर वह एक प्रतिशत जोर मारे तो हमें उसका प्रतिकार करना पड़ेगा।

इसके लिए सत्याग्रहके शस्त्रका आविष्कार हुआ है। दुर्जनोंसे हम इस

नहीं करता है पर दुर्जनताका प्रतिकार अपनी पूरी ताकतसे करता है। मानवता दुर्जनोंकी सत्ता को तमाम अपनी नहीं। इसका अर्थ यह है कि लोग दुर्जनोंके साथ व्यवहार करनेके दो ही तरीके जानते थे। 'लोग' इससे मेरा मतलब है 'सज्जन कहे जानेवाले लोग'। या वे 'झगड़ेका मुंह काला' कहकर निष्क्रिय होकर बैठ जाया करते थे या फिर दुर्जनोंसे दुर्जन होकर लड़ते थे। जब मैं दुर्जनता इसीका पक्ष लेकर लड़ने लगता हूं तो उसमें और मुझमें जो भेद है उसे बतानेका इसके सिवा दूसरा तरीका ही नहीं है कि मैं अपने माथे पर 'सज्जन' शब्द लिखकर एक लेबिल चिपका लूं और जब मैं उसका पक्ष पकड़ता हूं तो अपने बचावके प्रयोगमें वही अधिक प्राचीन होगा अर्थात् मेरी किस्मतमें पराजय तो लिखी ही है। या फिर मुझे सवाया दुर्जन बनकर उसको पराजित करना चाहिए। जो थोड़े-बहुत सज्जन थे वे इस 'मुझे क्या' कहकर निष्क्रिय होकर चुपचाप बैठ जाते थे। इन दोनों पद्धतियोंको छोड़कर हमें सत्याग्रहमें यानी स्वयं कष्ट सह कर अन्यायका प्रतिकार करना चाहिए और अन्याय करनेवालेके प्रति प्रेमभाव रखना चाहिए, ऐसा यह अभय मंत्र हमें प्राप्त हुआ है। इसी सत्यका दर्शन कराते हुए ज्ञानेश्वरने कहा है, 'अगर विषसे ही मेरी मृत्यु हो तो नाहक अमृत क्यों खाया जाय?' गीता कहती है "आत्मा अमर है मारने-वाला बहुत करेगा तो हमारे शरीरको मारेगा। हमारी आत्माको, हमारे विचारको वह नहीं मार सकता।" यह गीताकी सिखावन ध्यानमें रखते हुए सज्जनोंको निर्भयता और निर्वैर-बुद्धिसे प्रतिकारके लिए तैयार हो जाना चाहिए।

दुर्जनोंके विध्वंसके अभियान शक्ति नष्ट करनेका काम गांधी और विनोबाका है। विध्वंसके अभियान बनानेके लिए यही कार्यक्रम है। शेष एक अभियान राम अहिंसक प्रतिकारका है। यदि सहसा सुधार करते हो काम तो दूसरेकी जरूरत ही न पड़नी चाहिए। और अगर जरूरत पड़े ही तो उसके लिए जनसंख्याके एक प्रतिशतकी भी आवश्यकता न होनी चाहिए। थोड़े-से निर्भय निर्वैर और आत्मज्ञ पुरुषों द्वारा यह काम हो सकता है। मैं समझता हूं इस आधार पर ही जन-जीवन द्वारा पार पा सकता है।

२८

सेवाका आधार धर्म

सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु।
सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु।
मा विद्विषावहै ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

मैंने आज अपने भाषणका आरम्भ जिस मंत्रसे किया है वह मंत्र हमारे देशके लोग पाठशालामें अध्ययन शुरू करते समय पढ़ा करते थे। मंत्र गुरु और शिष्यके मिलकर कहनेके लिए है। "परमात्मा हम दोनोंका एक साथ रक्षण करे। एक साथ पालन करे। हम दोनों जो कुछ सीखें वह हम दोनोंकी शिक्षा तेजस्वी हो। हम दोनोंमें द्वेष न रहे। और सर्वत्र शान्ति रहे।" यह इस मंत्रका संक्षिप्त अर्थ है। आजकल भोजनके प्रारम्भमें यही मंत्र पढ़ा जाता है। आश्रममें भी भोजन आरम्भ करते समय इसे पढ़नेकी प्रथा है। "इस मंत्रका भोजनसे क्या संबंध है। इसके बदले कोई दूसरा भोजनके समय पढ़ने योग्य मंत्र क्या खोजा ही नहीं जा सकता?" यह सवाल एक बार बापूसे किया गया था। उन्होंने वह मेरे पास भेज दिया था। मैंने एक पत्रमें उसका विस्तारसे उत्तर दिया है। वही मैं थोड़ेमें यहां कहनेवाला हूं।

इस मंत्रमें समाज दो भागोंमें बांटा गया है और ऐसी प्रार्थना की गई है कि परमात्मा दोनोंका एक साथ रक्षण करे। भोजनके समय इस मंत्रका उच्चार अवश्य करना चाहिए क्योंकि हमारा भोजन केवल पेट भरनेके लिए ही नहीं है, ज्ञान और सामर्थ्यकी प्राप्तिके लिए है। इतना ही नहीं इसमें यह भी मांग की गई है कि हमारा वह ज्ञान वह सामर्थ्य और वह भोजन भगवान एक साथ करावे। इसमें केवल पालनकी प्रार्थना नहीं है, एक साथ पालनकी प्रार्थना है। पाठशालामें जिस प्रकार गुरु और शिष्य होते हैं उसी प्रकार सर्वत्र द्वैत है। परिवारमें पुरानी और नई पीढ़ी समाजमें स्त्री-पुरुष वृद्ध-तरुण शिक्षित-अशिक्षित आदि भेद हैं। उसमें फिर गरीब अमीरका भेद भी है। इस प्रकार सर्वत्र भेद-दृष्टि आती है। हमारे इस

हिंदुस्तानमें तो अनन्त भेद हैं। यहां प्रांत-भेद है। यहांका स्त्री-धर्म बिलकुल अलग रहता है। इसलिए यहां स्त्री-पुरुषोंमें भी बहुत भेद पड़ा है। हिंदू और मुसलमानका भेद तो प्रसिद्ध है ही। परन्तु हिंदू हिंदूमें भी हरिजनों और दूसरोंमें भी भेद है। हिंदुस्तानकी तरह भेद अमेरिकामें भी है। इसलिए इस मंत्रमें यह प्रार्थना की गई है कि हम "एक साथ तार, एक साथ मार"। मारनेकी प्रार्थना अन्य कोई नहीं करता। इसलिए यहां एक साथ तारनेकी प्रार्थना है। लेकिन "यदि मुझे मारना ही हो तो कम-से-कम एक साथ मार" ऐसी प्रार्थना है। सारांश "तू दुःख देता है तो सबको साथ दे, सुखी रोटी देता है तो भी एक साथ दे। हमारे साथ जो कुछ करता है वह सब एक साथ कर," ऐसी प्रार्थना इस मंत्रमें है।

देहातके लोग यानी किसान और शहरके गरीब और अमीर, इनका अंतर जितना कम होगा उतना ही अच्छा कदम आगे बढ़ेगा। अंतर दो तरहसे घटा जा सकता है। ऊपरवालोंके नीचे उतरनेसे और नीचेवालोंके ऊपर चढ़नेसे। परन्तु दोनों बातसे यह नहीं होता। हम सेवक कहलाते हैं, लेकिन किसान-मजदूरोंकी तुलनामें चोटीपर ही हैं।

लेकिन सवाल तो यह है कि भोग और ऐश्वर्य किसे कहूं? मैं अच्छा स्वादिष्ट भोजन करूं और पड़ोसमें ही दूसरा भूखा मरता रहे इसे? उसकी नजर बराबर मेरे भोजनपर लगी रहे और मैं उसकी परवाह न करूं? उसके आक्रमणसे अपनी थालीकी रक्षा करनेके लिए एक डंडा लेकर बैठूं! मेरा स्वादिष्ट भोजन और डंडा तथा उसकी भूख इसे ऐश्वर्य मानूं? एक सज्जन आकर मुझसे कहने लगे कि "हम दो आदमी एकसा भोजन करते हैं परन्तु हमारी निभ नहीं सकती। मैंने अब अलग भोजन करनेका निश्चय किया है।" मैंने पूछा "सो क्यों?" उन्होंने जवाब दिया "मैं नारंगियां खाता हूं, वह नहीं खाते। वह मजदूर है इसलिए वह नारंगियां खरीद नहीं सकते। अब उनके साथ खाना मुझे अनुचित लगता है।" मैंने पूछा "क्या अलग खानेसे उनके पेटमें नारंगियां चली जायंगी? आप दोनोंमें जो व्यवहार आज हो रहा है वही ठीक है। जबतक दोनों एक साथ खाते हैं तबतक दोनोंके निकट आनेकी संभावना है। एकाध बार आप उनको नारंगियां दें। हमेशा आपका भी मन साहस भी करेगा। लेकिन यदि आप दोनोंके बीच [illegible]

की दीवार खड़ी कर दी गई तो भेद चिरस्थायी हो जायगा। दीवारको सुरक्षितताका साधन मानना कैसा भयंकर है! हिंदुस्तानमें हम सब कहते हैं, हमारे संतोंने पुकार-पुकारकर कहा है कि ईश्वर सर्वसाक्षी है, सक्षम है। फिर दीवारकी आड़में छिपनेसे क्या फायदा? इससे लोगोंका मत्सर बढ़े ही बढ़ेगा।

यही हाल हम खादी-धारियोंका भी है। जनताके अंदर अभी खादीका प्रवेश ही नहीं हुआ है। इसलिए जितने खादीधारी हैं वे सब सेवक ही हैं। यह कहा जाता है कि हमें और आपको गांवोंमें जाना चाहिए। लेकिन देहातमें जानेपर भी वहांके लोगोंको जहां सूखी रोटी नहीं मिलती वहां मैं पूरी खाता हूं। मेरा घी खाना उस भूखेको नहीं खटकता। आज भी किसान कहता है कि अगर मुझे पेटभर रोटी मिल जाय तो तेरे घीकी मुझे ईर्ष्या नहीं। मुझे तेल ही मिलता रहे तो भी संतोष है। यह भेद उसे भले ही न अखरता हो मगर हम सेवकोंको बहुत अखरता है। लेकिन इस तरह कबतक चलता रहेगा? पारसाल मैं एक खासा दुबला-पतला जीव था। इस साल मुटा गया हूं। मुझे यह मुटापा खटकता है। मैं भी उन्हीं लोगों-जैसा दुबला पतला हूं यह संतोष चला जाता रहा।

इस टंगी हुई तख्तीपर लिखा है कि आवश्यकताएं बढ़ाते रहना सभ्यताका लक्षण नहीं है, बल्कि आवश्यकताओंका संकोच सभ्यताका लक्षण है। तो भी मैं कहता हूं कि देहातियोंकी आवश्यकताएं बढ़ानी चाहिए। उन्हें सुधारना भी चाहिए। लेकिन उनकी आवश्यकताएं आज तो पूरी भी नहीं होतीं। उनका रहन-सहन बिल्कुल गिरा हुआ है। उनके जीवनका मान बढ़ाना चाहिए। मेरे हिसाबसे तो यही कहना पड़ेगा कि आज हमारे गरीब देहातियोंकी आवश्यकताएं बढ़ानी चाहिए।

यदि हम गांवोंमें जाकर बैठे हैं तो हम इसके लिए सबल प्रयत्न करना चाहिए कि ग्रामवासियोंका रहन-सहन ऊपर चढ़े और हमारा नीचे उतरे। लेकिन हम जरा-जरा-सी बात भी तो नहीं करते। महीना डेढ़ महीना हुआ मेरे पैरमें चोट लग गई। किसीने कहा उसपर मरहम लगाओ। मरहम मेरे स्थानपर आ भी पहुंचा। किसीने कहा मोम लगाओ उससे ज्यादा फायदा होगा। मैंने निश्चय किया कि मरहम और मोम दोनों आखिर

मिट्टीके ही बर्तनके तो हैं। इसलिए मिट्टी खाना भी। अभी मैं बिल्कुल अच्छा नहीं हुआ हूं, लेकिन अब अकेले चल सकता हूं। मुझे मरहम जल्दी याद आता है, लेकिन मिट्टी लगाना नहीं सूझता। कारण उसमें हमारी श्रद्धा नहीं, विश्वास नहीं।

हमारे सामने इतना बड़ा सूर्य खड़ा है। उसे अपना नंगा शरीर दिखाने की हमें बुद्धि नहीं होती। सूर्यके सामने अपना शरीर खुला रखो तो तुम्हारे सारे रोग भाग जायंगे। लेकिन हम अपनी आदत और शिक्षासे लाचार हैं, डाक्टर जब कहेगा कि तुम्हें तपेदिक हो गया तब वही करेंगे।

हम अपनी जरूरत किस तरह कम कर सकेंगे इसकी खोज करनी चाहिए। मैं यहां संन्यासीका धर्म नहीं बतला रहा हूं। सादे गृहस्थका धर्म बतला रहा हूं। ठंडी आब-हवावाले देशोंके डाक्टर कहते हैं कि बच्चोंकी हड्डियां बढ़ानेके लिए उन्हें 'कॉड लिवर आयल' दो। वहां सूर्य नहीं है, ऐसे देशमें दूसरा उपाय ही नहीं है। कॉड लिवरके बिना बच्चे मोटे-ताजे नहीं होते। यहां सूर्यदर्शनकी कमी नहीं। यहां यह 'बड़ा कॉड लिवर आयल' भरपूर है। लेकिन हम उसका उपयोग नहीं करते। यह हमारी दशा है। हमें लंगोटी लगानेमें शर्म आती है। छोटे बच्चोंपर भी हम कपड़ेकी वार्निश (जिल्द) चढ़ाते हैं। नंगे बदन रहना असभ्यताका लक्षण माना जाता है। वेदोंमें प्रार्थना की गई है कि 'मा न सूर्यस्य संदृशो युयोथाः'। "हे ईश्वर, मुझे सूर्य-दर्शनसे दूर न रख।" वेद और विज्ञान दोनों कहते हैं कि खुले शरीर रहो। कपड़ेकी जिल्दमें कल्याण नहीं। हम अपने आचारसे ये विचार जब बीचमें सामने दाखिल न करें। हम देहातोंमें जानेपर भी अपने बच्चोंको आधी या पूरी लम्बाईकी पतलून पहनाते हैं। इससे उन बच्चोंका कल्याण तो होता ही नहीं, उलटे एक दूसरा अशुभ परिणाम यह निकलता है कि दूसरे बच्चोंमें और उनमें भेद पैदा हो जाता है। या फिर दूसरे लोगोंको भी अपने बच्चोंको सजानेका शौक पैदा हो जाता है। एक फिजूलकी जरूरत पैदा हो जाती है। हमें देहातोंमें जाकर अपनी जरूरतें कम करनी चाहिए। यह विचारका एक पहलू हुआ।

देहातकी सम्पत्ति बढ़ाना इस विचारका दूसरा पहलू है। लेकिन वह कैसे बढ़ाई जाय? हममें आलस्य बहुत है। यह महान् शत्रु है। एकबार

विशेषण दूसरेको चोट देना साहित्यमें एक चमत्कार माना गया है। "कहे लड़कीसे सुने बहूको" इस अर्थकी जो कहावत है उसका भी अर्थ यही है। बहूको यदि कुछ खरी-खोटी सुनानी हो तो सास अपनी लड़कीको सुनाती है। उसी तरह हम कहते हैं "देहाती लोग आलसी हो गये।" दरअसल आलसी तो हम हैं। यह विशेषण पहले हमें लागू होता है। हम इसका उन पर आरोप करते हैं। बेकारीके कारण उनके शरीर में आलस्य भले ही भिद गया हो, परन्तु उनके मनमें आलस्य नहीं है। उन्हें बेकारीका शौक नहीं है। लेकिन यदि सच कहा जाय तो हम कार्यकर्ताओंके तो मनमें भी आलस्य है और शरीरमें भी। आलस्य हिंदुस्तान का महारोग है। यह बीज है। बाकी महारोग इसका फल है। हम इस आलस्य को दूर करना चाहिए। सेवकको सारे दिन कुछ-न-कुछ करते रहना चाहिए। और कुछ न हो तो गांवकी परिक्रमा ही करे। और कुछ न मिले तो हड्डियां ही बटोरे। यह भगवान् शंकरका कार्यक्रम है। हड्डियां इकट्ठी करके चर्मालयमें भेज दे। इससे आशुतोष भगवान् शंकर प्रसन्न होंगे। या एक बाल्टीमें मिट्टी लेकर रास्ते पर जहां-जहां सूखा हुआ मैला पड़ा हो उसपर डालता फिरे। अच्छी खाद बनेगी। इसके लिए कोई खास कौशलकी जरूरत नहीं।

हमारे सेनापति बापटने एक कवितामें कहा है कि "झाड़ू, खपरैल और खुरपा ये औजार धन्य हैं। ये कुशल औजार हैं। जिस औजारका उपयोग अकुशल मनुष्य भी कर सकता है उसे बनानेवाला अधिक-से-अधिक कुशल होता है। जिस औजारके उपयोगके लिए कम-से-कम कुशलताकी जरूरत हो वह अधिक-से-अधिक कुशल औजार है। खपरैल और झाड़ू ऐसे ही औजार हैं। झाड़ू सिर्फ फिरानेकी देर है भूमाता स्वच्छ हो जाती है। खपड़ियामें जरा भी आनाकानी किये बिना मैला आ जाता है। अर्थशास्त्रके प्रयोग इस दृष्टिसे होने चाहिए। खपरैल खुरपा और झाड़ू के लिए पैसे नहीं देने पड़ते। इसलिए ये सीधे-सादे औजार धन्य हैं।

रामदासने अपने 'दासबोध' में सुबहसे शाम तककी दिनचर्या बतलाते हुए कहा है कि सबेरे शौच-क्रियाके लिए बहुत दूर जाओ और वहांसे लौटते हुए कुछ-न-कुछ साथ लाओ। वह कहते हैं कि खाली हाथ आना खोटा काम

है। सिर्फ हाथ हिलाते नहीं आना चाहिए। कोई-कोई कहते हैं कि हम तो हवा खाने गए थे। लेकिन हवा खानेका कामसे विरोध क्यों हो? कुदाली चलाते हुए क्या नाक बंद कर ली जाती है? हवा खाना तो सदा चालू ही रहता है। परन्तु श्रीमान् लोग हमेशा बिना हवाखाये अपाहज बैठे रहते हैं। इसलिए उनके लिए हवा खाना भी एक काम हो जाता है। मगर श्रमकर्ताओंको सदा खुली हवामें काम करनेकी आदत होनी चाहिए। वापस आते हुए वह अपने साथ कुछ-न-कुछ जरूर लाया करे। देहातमें बहुत-कुछ ला सकता है। लीपनेके लिए गोबर ला सकता है और अगर कुछ न मिले तो कम-से-कम किसी एक वृक्षके पलासके पत्ते ही बिनकर ला सकता है यानी पत्तल का काम अपने साथ ला सकता है। मतलब उसे बिलकुल चक्कर नहीं काटने चाहिए। देहातमें काम करनेवाले ग्राम-सेवकोंको सुबहसे शाम तक कुछ-न-कुछ करते ही रहना चाहिए।

मानवोंकी शक्ति कैसे बढ़ती है इसके विषयमें अब कुछ कहूँगा। देहातमें बेकारी और आलस्य बहुत है। देहातके लोग मेरे पास आते और कहते हैं "महाराजजी हम लोगोंका बुरा हाल है। घरमें चार खानेवाले मुँह हैं।" ये लोग मुझे 'महाराज' क्यों कहते हैं? मेरे पास कौनसा राज पड़ा है? मैं उनसे पूछता हूँ "अरे भाई, घरमें अगर खानेवाले मुँह न हों तो क्या बगैर खानेवाले हों। बगैर खानेवाले मुँह तो मुर्दोंके होते हैं। उन्हें तो तुरन्त बाहर निकालना होता है। तुम्हारे घरमें चार खानेवाले मुँह हैं यह तो तुम्हारा वैभव है। तुम उदास क्यों हो रहे हो? भगवान्ने आदमीको अगर एक मुँह दिया है तो उसके साथ-साथ दो हाथ भी तो दिये हैं। अगर वह एक अनूठा मुँह और आधा ही हाथ देता तो सचमुच मुश्किल थी। तुम्हारे यहाँ चार मुँह हैं तो आठ हाथ भी तो हैं। फिर शिकायत क्यों? लेकिन हम उन हाथोंका उपयोग करते नहीं न? हम तो हाथ-पर हाथ धर कर बैठ रहनेकी आदत डाली है? हाथ जोड़नेकी आदत डाली है। जब हाथ चलाना बंद हो जाता है तो मन चलना शुरू हो जाता है। फिर खाने-वाला मुँह आदमी का ही काम तमाम है।

हमें अपने दोनों हाथोंसे एक-सा काम करना चाहिए। पौनारमें कुछ लड़के कातने आते हैं। उनसे कहा "बाएँ हाथसे कातना शुरू करो।"

उन्होंने पहलेसे कहना शुरू किया कि 'हमारी मजदूरी कम हो जायगी। बाया हाथ दाहिनेकी बराबरी नहीं कर सकेगा।' मैंने कहा 'यह क्यों ? दाहिने हाथमें अगर पांच अंगुलियां हैं तो बाएं हाथमें भी तो हैं। फिर क्यों नहीं बराबरी कर सकेगा।' आखिर मैंने उनमेंसे एक लड़का चुन लिया और उससे कहा कि 'बाएं हाथसे कात। तुझे जितनी मजदूरी कम मिलेगी उतनी पूरी कर देनेका जिम्मा मैंने लिया।' चौदह रोजमें वह साढ़े चार रुपया कमाता था। बाएं हाथसे पहले पखवाड़ेमें ही उसे करीब तीन रुपये मिले। दूसरे पखवाड़ेमें बाया हाथ दाहिनेकी बराबरी पर आ गया। एक रुपया मैंने अपनी गिरहसे पूरा किया। लेकिन उससे सबकी आंखें खुल गईं। यह कितना बड़ा लाभ हुआ ? मैंने लड़कोंसे पूछा 'क्यों लड़को, इसमें फायदा है कि नहीं ?' वे कहने लगे 'हां क्यों नहीं ? दाहिना हाथ भी तो आठ घंटे लगातार काम करनेसे धीरे-धीरे थकने लगता है। अगर दोनों हाथ तैयार हों तो अदल-बदल कर सकते हैं और थकावट बिलकुल नहीं आती।' अट्ठाईस-के-अट्ठाईसों लड़के बाएं हाथका प्रयोग करनेके लिए तैयार हो गये।

शुरू-शुरूमें हाथमें थोड़ा दर्द होने लगता है। लेकिन यह सात्त्विक दर्द है। सात्त्विक सुख ऐसा ही होता है। अमृत भी शुरू-शुरूमें जरा कड़वा ही लगता है। पुराणोंका एकदम वह मीठा-ही-मीठा अमृत वास्तविक नहीं। अमृत अगर, जैसाकि गीतामें कहा है, सात्त्विक हो तो वह मीठा-ही-मीठा कैसे हो सकता है ? गीतामें बताया हुआ सात्त्विक सुख तो आरम्भमें कड़ुआ ही होता है। मेरी बात मानकर लड़कोंने तीन महीने तक सिर्फ बाएं हाथसे कातनेका प्रयोग करनेका निश्चय किया। तीन महीने मानो दाहिने हाथको बिलकुल भूल ही गये। यह कोई छोटी तपस्या नहीं हुई।

देहातमें निंदाका रोग काफी दिखलाई देता है। यह बात नहीं कि शहरके लोग इससे बरी हैं। लेकिन यहां मैं देहातके ही विषयमें कह रहा हूं। निंदा सिर्फ पीठ-पीछे की जाती है। उससे किसीका भी फायदा नहीं होता। जो निंदा करता है उसका मुंह खराब होता है और जिसकी निंदा की जाती है, उसकी कोई उन्नति नहीं होती। मैं यह जानता तो था कि

देहातियोंमें निंदा करनेकी आदत होती है, लेकिन यह रोग इतने उग्र रूपमें फैल गया होगा इसका मुझे पता न था। अगर मुझे हिसाब दें मैं सत्य और अहिंसाके बदले सत्य और अनिंदा कहने लगा हूं। हमारे बापूजीकी बुद्धि बड़ी सूक्ष्म थी। उनके आग्रहका रहस्य अब मेरी समझमें आया। वे देहातियों-से अच्छी तरह परिचित थे इसलिए उन्होंने जगह-जगह कहा है कि निंदा न करो चुगली न खाओ। क्योंकि ये मेरे मनमें बचपनसे ही अंकित हैं। उनके लिखे हुए भजन और आश्रमके वचन बड़े मीठे लगते थे। लेकिन मैं सोचता था कि निंदा मत करो कहनेमें क्या बड़ी विशेषता है। उनकी नीति-विषयक कविताएं मैं पढ़ता तो था लेकिन वे मुझे भाती न थीं। पर स्त्री को माताके समान समझो पराया माल न छूओ और निंदा न करो— इतनेमें उनकी नैतिक शिक्षाकी पूर्ती खतम हो जाती थी। भक्ति और ज्ञानके साथ-साथ उन्हीं भजनोंमें वे इन चीजोंको भी रखते थे। यह मेरी समझमें न आता था। लेकिन अब खूब अच्छी तरह समझ गया हूं। निंदाका दुर्गुण उन्होंने लोगोंकी नस नसमें पैठा हुआ देखा इसलिए उन्होंने अनिंदापर बार बार इतना जोर दिया और उसे बड़ा भारी सद्गुण बतलाया। कार्यकर्ताओं-को यह शपथ ले लेनी चाहिए कि हम न तो निंदा करेंगे और न सुनेंगे। निंदामें अक्सर गलती और अत्युक्ति होती है। साहित्यमें अत्युक्ति भी एक अलंकार माना गया है। कलाकारको चौपट कर दिया है इन साहित्यशास्त्रियोंने। वस्तु-स्थितिको तिगुना चौगुना बीसगुना बनाकर बताना उनके मतसे चमत्कार है। तो क्या जो चीज जैसी है उसे वैसी ही बताना अपनी नाक काटनेके समान है? कलाकार और अलंकारशास्त्रीकी अत्युक्तिका कोई ठिकाना ही नहीं। एकको सौगुना बतानेका नाम अतिशयोक्ति है, ऐसी उनकी कोई माप होती तो अतिशयोक्तिसे वस्तुस्थितिकी कल्पना कर सकते। लेकिन यहां तो कोई हिसाब ही नहीं है। वे एकका सौगुना नहीं करते बल्कि शून्यको सौगुना बताते हैं। पूछता हूं जो सज्जनका पूजा करनेसे कोई एक पाप जाता है लेकिन यह तो अजीब ही बात।

तीसरी बात जो मैं आप लोगोंसे कहना चाहता हूं वह है सफाई। हमारे कार्यकर्ताओंमें स्थूल अर्थमें सफाई है सूक्ष्म अर्थमें नहीं। अगर मैं किसीसे कहूं कि तुम्हारे यहां खाना खाने आऊंगा तो वह खाना बनेसे मुझे

देनेके लिए मेरे यहां आकर बैठ जाता है। क्योंकि वह जानता है कि इस देशमें जो कोई किसी खास वक्त आनेका वादा करता है वह उस वक्त आयेगा ही इसका कोई नियम नहीं। इसलिए वह पहलेसे ही आकर बैठ जाता है? सोचता है कि दूसरेके भरोसे काम नहीं चलता। इसलिए हमें हमेशा बिलकुल ठीक बोलना चाहिए। किसी आसामीसे आप कोई काम करनेके लिए कहिये तो वह कहेगा 'जी हां'। लेकिन उसके दिलमें वह काम करना नहीं होता। हमें टालनेके लिए 'जी हां' कह देता है। उसका मतलब इतना ही रहता है कि अब ज्यादा तंग न कीजिये। 'जी हां' से उसका मतलब है कि यहांसे तशरीफ ले जाइये। उसके 'जी हां' में थोड़ा अहिंसा का भाव होता है। वह 'जाने दीजिये' कहकर आपके दिलको चोट पहुंचाना नहीं चाहता। आपको वह ज्यादा तकलीफ देना नहीं चाहता इसलिए 'जी हां' कहकर जान बचा लेता है।

इसलिए कोई भी बात जो हम देहातियोंसे कराना चाहें, वह उन्हें समझा कर देनी चाहिए। उनसे वचन या खत नहीं लिखाना चाहिए। जबसे मैं देहातमें गया तबसे किसीसे किसी बातके विषयमें वचन लेनेसे मुझे चिढ़ सी हो गई है। अगर मुझसे कोई कहे भी कि मैं यह बात करूंगा तो मैं उससे यही कहूंगा कि "यह तुम्हें जंचती है न? बस तो इतना काफी है। वचन देनेकी जरूरत नहीं। तुमसे हो सके तो करो।" लोगोंको उसकी उपयोगिता समझाकर सन्तोष मान लेना चाहिए, क्योंकि किसीसे कोई काम करनेका वचन लेनेके बाद उस कामके करानेकी जिम्मेदारी हमपर आ जाती है। अगर वह अपना वचन पूरा न करे तो हम अप्रत्यक्ष रूपसे झूठ बोलनेमें सहायता करते हैं। राजकोट-प्रकरण और क्या चीज है? अगर कोई हमारे सामने किसी विषयमें वचन देदे और फिर उसे पूरा न करे तो उससे हमारा भी अपमान होता है। इसलिए बापूको राजकोटमें इतना सारा प्रवास करना पड़ा। इसलिए वचन नियम या कसम किसीको बांधना नहीं चाहिए और अगर किसीसे वचन लेना ही पड़े तो वह वचन अपना समझकर उसे पूरा करानेकी सावधानी पहले रखनी चाहिए। उसे पूरा करनेमें हर तरहसे मदद करनी चाहिए। सचाई का यह गुण हमारे अन्दर होना चाहिए।

बाइबिलमें कहा है : 'ईश्वरकी कसम न खाओ। आपके हिसाब 'हां' हो तो 'हां' कहिये और 'ना' हो तो 'ना' कहिये।' लेकिन हमारे यहां तो राम-दुहाई भी काफी नहीं समझी जाती। कोई भी बात तीन बार वचन दिये बिना पक्की नहीं मानी जाती। सिर्फ 'हां' कहनेका अर्थ इतना ही है कि 'आपकी बात समझमें आ गई।' अब देखिये विचार करके। किसी मजबूत पत्थरपर एक-दो चोट लगाइये तो उसे पता भी नहीं चलता। दस पांच मारिये तब वह सोचने लगता है कि शायद कोई व्यायाम कर रहा है। पचास चोट लगाइये तब कहीं उसे पता चलता है कि 'अरे, यह व्यायाम नहीं कर रहा है, यह तो मुझे फोड़ने जा रहा है।' एक बार 'हां' कहनेका कोई अर्थ नहीं। दो बार कहनेपर वह सोचने लगता है कि मैंने 'हां' कर दी है। और जब तीसरी बार 'हां' कहता है तब उसके ध्यानमें आता है कि मैंने जान-बूझकर 'हां' कही है। इसका अर्थ इतना ही है कि सूक्ष्म दृष्टिसे झूठ हमारी नस-नसमें भिद गया है। इसलिए कार्यकर्ताओंको अपने लिए यह नियम बना लेना चाहिए कि जो बात करना कबूल करें, उसे करके ही दम लें। इसमें तनिक भी गफलत न करें। दूसरे से कोई वचन न लें। उस झंझटमें न पड़ें।

अब कार्यकर्ताओंसे कार्य-कुशलताके बारेमें दो-एक बात कहना चाहता हूं। जब हम कार्य करने जाते हैं तो चालू पीढ़ीके बहुत पीछे पड़ते हैं। चालू पीढ़ीका तो विषय ही 'चालू' है। वह चलती चीज है। उसकी सेवा कीजिये लेकिन उसके पीछे न पड़िये। उसके शरीरके समान उसका मन और उसके विचार भी एक आकार बने हुए होते हैं। जो नई बात कहना हो वह नौजवानोंसे कहनी चाहिए। तरुणोंके विचार और विकार दोनों बलवान् होते हैं। इसलिए कुछ लोग उन्हें उच्छृंखल भी कहते हैं। इसमें सचाई इतनी ही है कि वे बलवान् और वेगवान् होते हैं। अगर उनके विकार बलवान् हो सकते हैं तो वैराग्य भी बलवत्तर हो सकता है। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती है वैसे-वैसे विकारोंका शमन होता जाता है। मोटे हिसाबसे यह सच है। लेकिन इसपर कोई भरोसा नहीं। यह कोई शास्त्र नहीं है। हमारी बात चालू पीढ़ीको अगर जंच जाय तो अच्छा ही है, और न जंचे तो भी कोई हानि नहीं। भावी पीढ़ीको हाथमें लेना चाहिए। युवक ही नये-नये कामोंमें हाथ डालते हैं

बूढ़े नहीं। आकार किस तरह बढ़ते या घटते हैं, यह तो मैं नहीं जानता। लेकिन इतना तो मानना ही पड़ेगा कि बूढ़ोंकी अपेक्षा तरुणोंमें आशा और हिम्मत ज्यादा होती है।

दूसरी बात यह है कि कार्य शुरू करते ही उसके फलकी आशा नहीं करनी चाहिए। पाँच-दस साल काम करनेपर भी कोई फल न होता देखकर निराश न होना चाहिए। हिन्दुस्तानके लोग हजार सालके बूढ़े हैं। जब किसी गाँवमें कोई नया कार्यकर्ता आता है तो वे सोचते हैं कि ऐसे तो कई देख चुके हैं। साधु-संत भी आये और चले गए। नया कार्यकर्ता कितने दिन टिकेगा इसके विषय में उन्हें संदेह होता रहता है। मगर एक-दो साल टिक गया तो वे सोचते हैं कि शायद टिक भी जाय। अनुभवी समाज है। वह प्रतीक्षा करता रहता है। अगर लोग अपनी या हमारी मृत्युतक भी राह देखते रहें तो कोई बड़ी बात नहीं।

ग्रामवासियोंसे 'समरस' होनेका ठीक-ठीक मतलब समझना चाहिए। उनका रंग हमपर भी चढ़ जाय इसका नाम उनसे मिलना नहीं है। इस तरह मिलनेसे तद्रूपता आने लगती है। मेरे मतसे समाजके प्रति आदरका जितना महत्त्व है, उतना परिचयका नहीं। समाजके साथ समरस होनेसे उसका काम ही होगा मगर हम ऐसा मानें तो इसमें अहंकार है। हम कोई पारस पत्थर हैं कि हमारे केवल स्पर्शसे समाजकी उन्नति हो जायगी? केवल समाजसे समरस होनेसे काम होगा यह माननेमें खतरा है। रामदास कहते हैं "मनुष्यको ज्ञानी और उदासीन होना चाहिए। समुदायको हमेशा रखना चाहिए लेकिन प्रकट और स्थिर होकर एकांत-सेवन करना चाहिए।" वे कहते हैं कि "कोई जल्दी नहीं है? चाहिये मगर एकांत-सेवन करो।" एकांत-सेवनसे आत्म-परीक्षणका मौका मिलता है। लोगोंसे जिस हदतक संपर्क बढ़ाया जाय यह ध्यानमें रखना है, अन्यथा अपना निजी रंग न रहकर उनपर दूसरे रंग चढ़ने लगते हैं। कार्यकर्ता फिर देहातियोंके जैसा ही हो जाता है। उसके चित्तमें व्याकुलता पैदा होती है और वह ठीक होती है। फिर उसका जी चाहता है कि किसी वाचनालय या पुस्तकालयकी शरण लूँ। एकाध बड़े आदमीके पास जाकर कहने लगता है कि मैं दो-चार महीने आपका सत्संग करना चाहता हूँ। फिर वे महादेवजी और

आखिर रामचन्द्रजीने उसकी आंखोंमें अंजन डाला। तबसे उसकी दृष्टि शुद्ध सुधरी।

तब उसने उस समयके कार्यक्रमके बल पवन दौड़-धाड़कर अहिंसा बलवानके रचनात्मक कार्यका आरम्भ किया। लेकिन उनके अनुयायियोंको कुल्हाड़ीके हिंसक प्रयोगका चस्का पड़ गया था। इसलिए उन्हें कुल्हाड़ीका अपेक्षाकृत अहिंसक प्रभाव फीका-सा लगने लगा। निर्धनको जिस प्रकार उसका धन-दौलती त्याग कर है, उसी प्रकार उनके अनुयायियोंने भी उसे छोड़ दिया।

लेकिन वह निष्ठावान् महापुरुष अकेला ही यह काम करता रहा। ऐच्छिक दरिद्रताका धारण करनेवालेके आरम्भक प्रभाके आदि-सेवक भगवान् शंकरके ध्यानसे वह प्रतिदिन नई स्फूर्ति प्राप्त करने लगा और जंगल जाकर औषधियां बनाता। वन्य पशुओंकी तरह दूसरोंकी जीवन-प्रवृत्ति चलनेवाले अपने मानव-बंधुओंको सामुदायिक भावना सिखाना—इस उद्योगमें वह स्फूर्तिसे काम लेने लगा। निष्ठावान् और निष्काम सेवा ज्यादा दिन एकाकी नहीं रहने पाती। परशुरामकी अनन्य सेवावृत्ति देख कौटुम्बिक उपचारके ये जन्म शिष्योंकी चिन्ता बने और आखिर उन्होंने उनका साथ पकड़ लिया। पहले-पहलको ब्राह्मण कहलानेवाले उनके पुराने अनुयायियोंने तो उनका साथ छोड़कर बहुतोंकी परवाह की थी, मगर उनके रहने से नए मुनियों अनुयायी उन्हें मिले। उनके उन्हें स्वच्छ आचार, स्वच्छ विचार और स्वच्छ उच्चारकी शिक्षा दी। एक दिन परशुरामने उनसे कहा : आजसे आजन्म तुम लोग ब्राह्मण हो गए।

बाद उसके कामकाजके बारेमें पूछा। परशुरामने कुल्हाड़ीके अपने नये प्रयोगका सारा हाल रामचंद्रको सुनाया। यह सुन रामचंद्रने उसका बड़ा गौरव किया। दूसरे दिन परशुराम वहांसे लौटा।

अपने मुकामपर वापस आते ही उसने उन नव ब्राह्मणोंको रामका सारा हाल सुनाया और बोला।

"रामचंद्र मेरा गुरु है। अपनी पहली ही भेंटमें उसने मुझे जो उपदेश दिया उससे मेरी वृत्ति पलट गई और मैं तुम्हारी सेवा करने लगा। अबकी मुलाकातमें उसने मुझे शब्दों द्वारा कोई भी उपदेश नहीं दिया। लेकिन उसकी कृतिमेंसे मुझे उपदेश मिला है। वही मैं अब तुम लोगोंको सुनाता हूं।

"हम लोग जंगल काट-काटकर बस्ती बसानेका जो कार्य कर रहे हैं वह बेशक उपयोगी कार्य है। लेकिन इसकी भी मर्यादा है। उस मर्यादाको न जानकर हम अगर पेड़ काटते ही रहेंगे तो वह एक बड़ी भारी हिंसा होगी। और कोई भी हिंसा अपने कर्तापर उलटे बिना नहीं रहती यह तो मेरा अनुभव है। इसलिए अब हम पेड़ काटनेका काम खतम करें। आजतक जितना कुछ किया सो ठीक ही किया क्योंकि उसकी बदौलत पहले जो 'अ-सह्याद्रि' था अब 'सह्याद्रि' बन गया है। लेकिन अब हमें जीवनोपयोगी वृक्षोंके रक्षणका काम भी अपने हाथमें लेना चाहिए।

यह कहकर उसने उन्हें आम केले नारियल काजू कटहल अनन्नास आदि छोटे-बड़े फलके वृक्षोंके संगोपनकी विधि सिखाई। उसे इसके लिए स्वयं वनस्पति-संवर्धन-शास्त्रका अध्ययन करना पड़ा और उसने अपने हमेशाके उत्साहसे उस शास्त्रका अध्ययन किया भी। उसने उस शास्त्रमें कई महत्त्वपूर्ण खोज भी किये। पेड़ोंको मनोज्ञ आकार देनेके लिए उन्हें व्यवस्थित काटने-छांटनेकी जरूरत महसूसकर, उसने उसके लिए छोटेसे औजारका आविष्कार किया। इस औजारको 'लव-परशु' का नाम देकर उसने अपनी परशु-उपासना अखंड जारी रखी।

एक बार उसने समुद्रतटपर नारियलके पेड़ लगानेका एक सामुदायिक समारोह सम्पन्न किया। उस अवसरसे लाभ उठाकर उसने वहां आये हुए लोगोंके सामने अपने जीवनके सारे प्रयोगों और अनुभवोंका

वे सभी दोनों एक जगह रह सकते हैं। वह कहता है, "मैं बड़ा होकर नवाब हुआ। अब तू मेरे पास रहता है। इसमें कोई शर्म नहीं।" इसलिए समाजसेवाके लिए ही आना चाहिए। बाकीका समय स्वाध्याय और आत्म-परीक्षणमें बिताना चाहिए। आत्म-परीक्षणके बिना उन्नति नहीं हो सकती। अपने स्वतंत्र समयमें हम अपना एकांत प्रयोग भी करें। कई कार्यकर्ता कहते हैं "क्या करें चिंतनके लिए समय ही नहीं मिलता। जरा बैठ नहीं कि कोई-न-कोई आता नहीं।" पर आप उसमें बोलनेमें समय बिताना सेवा नहीं है! कार्यकर्ताको स्वाध्याय और चिंतनके लिए प्रथम समय रखना चाहिए। एकांत-सेवन करना चाहिए। यह भी बहुमूल्य सेवा ही है।

एक बात स्त्रियोंके संबंधमें। स्त्रियोंके लिए कोई काम करनेमें हम अपनी हतक समझते हैं। धोबीका ही उदाहरण लीजिये। व्याकरणके अनुसार जिसकी गणना पुल्लिंगमें हो सकती है, ऐसा एक भी आदमी अपनी धोती आप नहीं धोता। बापके कपड़े लड़की धोती है और भाईके कपड़े बहनको धोने पड़ते हैं। भाजी काटनी सीखनेमें भी हमें शर्म आती है, तो पत्नीकी साड़ी धोनेकी बात ही क्या? अगर बिमार समय आ जाय तो कोई रिश्तेदारिन धो देती है। और वह भी न मिले तो पड़ोसिन यह काम करेगी। अगर वह भी न मिले और पत्नीकी साड़ी साफ करनेका मौका आ ही जाय तो फिर यह काम बाहरको कोई देख न पाये ऐसे इंतजाममें चुपचाप चोरीसे कर लिया जाता है। यह हालत है! और मेरा प्रस्ताव तो इससे बिलकुल उलटा है। लेकिन अगर आप मेरी बातपर अमल करें तो आप जानकर के स्त्रियां ही आपको कपड़े मना देंगी इसमें तनिक भी शक नहीं। एक बार मैं बारीका एक स्वावलंबन-केंद्र देखने गया। दफ्तरमें कोई पचास-पचहत्तर स्वावलंबी खादी धारियोंकी तालिका लगी हुई थी। लेकिन उसमें एक भी स्त्री नहीं थी। वहां जो सभा हुई, उसमें मेरे कहनेसे खासकर स्त्रियां भी बुलाई गई थीं। मैंने पूछा "यहां इतने स्वावलंबी खादीधारी पुरुष हैं तो क्या स्त्रियां न कातती?" स्त्रियोंने जवाब दिया "हम ही तो कातती हैं।" तब मैंने सूत कातनेवाले पुरुषसे हाथ उठानेको कहा। कोई तीन-चार हाथ उठे। शेष सब स्त्रियों द्वारा काते गए सूतके जोरपर स्वावलम्बी थे। इसलिए कहता हूं

कि फिलहाल उनके लिए महीन सूत कातिये। आगे चलकर वे ही आपके कपड़े तैयार कर देंगी। कम-से-कम खादी-यात्रामें पहननेके लिए एक साड़ी अगर आप उन्हें बना दें तो भी मैं संतोष मान लूंगा। अगर वे महा आलसी हों तो कम-से-कम हमारी बात उनके कानोंतक पहुंचेगी।

२९

परशुराम

यह एक अद्भुत प्रयोगी लगभग पच्चीस हजार बरस पहले हो गया है। यह कोंकणस्थोंका मूल पुरुष है। माकी ओरसे क्षत्रिय और बापकी ओरसे ब्राह्मण। पिताकी आज्ञासे इसने माका सिर ही काट डाला था। कोई पूछ सकते हैं 'यह कहांतक उपयुक्त था?' लेकिन उसकी श्रद्धाकी सफलता चूक नहीं गई थी। निष्ठासे प्रयोग करना और अनुभवसे ज्ञान प्राप्त करना यही उसका सूत्र था।

परशुराम उस जमानेका सर्वोत्तम पुरुषार्थी व्यक्ति था। उसे दुखियोंके प्रति दया थी और अन्यायोंसे तीव्रतम चिढ़। उस समयके क्षत्रिय बहुत उन्मत्त हो गये थे। वे अपनेको जनताका रक्षक कहते थे। लेकिन व्यवहारमें तो उन्होंने रक्षकके 'र' को 'भ' में बदल दिया था। परशुरामने उन अन्यायी क्षत्रियोंका घोर प्रतिकार शुरू किया। जितने क्षत्रिय उसके हाथ आये उन सबको उसने मार ही डाला। 'पृथ्वीको निःक्षत्रिय बनाकर छोड़ूंगा' यह उसने अपना विरद बना लिया था।

इसके लिए वह अपने पास हमेशा एक कुल्हाड़ी रखने लगा और कुल्हाड़ीसे रोज कम-से-कम एक क्षत्रियका सिर तो उड़ाना ही चाहिए, ऐसी उपासना उसने अपने ब्राह्मण अनुयायियोंमें जारी की। पृथ्वी निःक्षत्रिय करनेका यह प्रयोग उसने इक्कीस बार किया लेकिन पुराने क्षत्रियोंको जान-बूझकर खोज-खोजकर मारने और उनकी जगह अनजाने नये-नये क्षत्रियोंका निर्माण करनेकी प्रक्रिया का फलित क्या हो सकता था?

आखिर रामचन्द्रजीने उसकी आंखोंमें अंजन आंजा। तबसे उसकी दृष्टि कुछ सुधरी।

तब उसने उस समयके जंगलके वन जगह जगह काट-काटकर बस्तियां बसानेके रचनात्मक कार्यका उपक्रम किया। लेकिन उसके अनुयायियोंको कुल्हाड़ीके हिंसक प्रयोगका चस्का पड़ गया था। इसलिए उन्हें कुल्हाड़ीका रचनात्मक अहिंसक प्रयोग फीका-सा लगने लगा। निर्धनको जिस प्रकार उसके सगे-सम्बन्धी त्याग देते हैं, उसी प्रकार उसके अनुयायियोंने भी उसे छोड़ दिया।

लेकिन वह निष्ठावान् महापुरुष अकेला ही वह काम करता रहा। ऐच्छिक दरिद्रताका कारण बननेवाले पारम्परिक प्रथाके प्रतिपालक भगवान् शंकरके ध्यानसे वह प्रतिदिन नई स्फूर्ति प्राप्त करने लगा और जंगल काटना, झोंपड़ियां बनाना, वन्य पशुओंकी तरह एकाकी जीवन व्यतीत करनेवाले मानव-पशुओंको सामुदायिक जीवन सिखाना—इन उद्योगोंमें उस स्फूर्तिसे काम लेने लगा। निष्ठावान और निष्काम सेवा ज्यादा दिन एकाकी नहीं रहने पाती। परशुरामकी अदम्य सेवावृत्ति देख कोंकणके जंगलोंके कई वन्य निषादी शिष्य बने और आखिर उन्होंने उनका अच्छा साथ दिया। अपने-आपको ब्राह्मण कहलानेवाले उसके पुराने अनुयायियोंने तो उसका साथ छोड़कर बहुतोंकी पनाह भी ली मगर उसके बदले ये नये अपूर्व अनुयायी उसे मिले। उसने इन्हें स्वच्छ आचार, स्वच्छ विचार और स्वच्छ उच्चारकी शिक्षा दी। एक दिन परशुरामने उनसे कहा — भाइयो, आजसे तुम लोग ब्राह्मण हो गये।

राम और परशुरामकी पहली भेंट धनुर्भंग-प्रसंगके बाद एक बार हुई थी। उसी वक्त उसे रामचन्द्रजीसे जीवन-दृष्टि मिली थी। उसके बाद इतने दिनोंमें उन दोनोंकी भेंट कभी नहीं हुई थी। लेकिन अपने वनवासके दिनोंमें रामचन्द्र पंचवटीमें आकर रहे थे। उनके वहांके निवासके आखिरी समय कोंकणकी तरफसे परशुराम उनसे मिलने आया था। वह जब पंचवटीके आश्रममें पहुंचा उस समय रामचन्द्र पौधोंको पानी दे रहे थे। परशुरामको देखकर रामचन्द्रको बड़ा ही आनन्द हुआ। उन्होंने उस तपस्वी और वृद्ध पुरुषका आदरपूर्वक प्रणामपूर्वक स्वागत किया और कुशल प्रश्नादिके

बाद उसके कार्यक्रमके बारेमें पूछा। परशुरामने कुल्हाड़ीके अपने नये प्रयोगका सारा हाल रामभाऊको सुनाया। यह सुन रामभाऊने उसका बड़ा गौरव किया। दूसरे दिन परशुराम वहांसे लौटा।

अपने मुकामपर वापस आते ही उसने उन नये ब्राह्मणोंको रामका सारा हाल सुनाया और बोला।

"रामभाऊ मेरा गुरु है। अपनी पहली ही भेंटमें उसने मुझे जो उपदेश दिया उससे मेरी वृत्ति पलट गई और मैं तुम्हारी सेवा करने लगा। अबकी मुलाकातमें उसने मुझे शब्दों द्वारा कोई भी उपदेश नहीं दिया। लेकिन उसकी कृतिमेंसे मुझे उपदेश मिला है। वही मैं अब तुम लोगोंको सुनाता हूं।

"हम लोग जंगल काट-काटकर बस्ती बसानेका जो कार्य कर रहे हैं वह बेशक उपयोगी कार्य है। लेकिन उसकी भी मर्यादा है। उस मर्यादाको न जानकर हम अगर पेड़ काटते ही रहेंगे तो वह एक बड़ी भारी हिंसा होगी। और कोई भी हिंसा अपने कर्तापर उलटे बिना नहीं रहती यह तो मेरा अनुभव है। इसलिए अब हम पेड़ काटनेका काम बन्द करें। आजतक जितना कुछ किया सो ठीक ही किया क्योंकि उसकी बदौलत पहले जो 'अ-सह्याद्रि' था अब 'सह्याद्रि' बन गया है। लेकिन अब हम जीवनोपयोगी वृक्षोंके रक्षणका काम भी अपने हाथमें लेना चाहिए।"

यह कहकर उसने उन्हें आम केले नारियल काजू कटहल अनन्नास आदि छोटे-बड़े फलके वृक्षोंके लगानेकी विधि सिखाई। उन इसके लिए स्वयं वनस्पति-संवर्धन-शास्त्रका अध्ययन करना पड़ा और उसने अपने हमेशाके उत्साहसे उस शास्त्रका अध्ययन किया भी। उसने उस शास्त्रमें कई महत्त्वपूर्ण शोध भी किये। पेड़ोंको मनोज्ञ आकार देनेके लिए उन्हें व्यवस्थित काटने-छांटनेकी जरूरत महसूसकर, उसने उसके लिए छोटेसे औजारका आविष्कार किया। इस औजारको 'नव-परशु' का नाम देकर उसने अपनी परशु-उपासना अखंड जारी रखी।

एक बार उसने समुद्रतटपर नारियलके पेड़ लगाने का एक सामुदायिक समारोह सम्पन्न किया। उस अवसरसे लाभ उठाकर उसने वहां पधारे हुए लोगोंके सामने अपने जीवनके सारे प्रयोगों और अनुभवोंका

या उपस्थित किया। सामने पूरे ज्वारमें समुद्र गरज रहा था। उसकी तरफ इशारा करके समुद्रवत् गंभीर ध्वनिमें उसने बोलना आरंभ किया—

"भाइयो, यह समुद्र हमें क्या सिखा रहा है, इसपर ध्यान दीजिये। इतना प्रचंड शक्तिशाली है यह, परन्तु अपने परम उत्कर्षके समय भी यह अपनी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता। इसलिए इसकी शक्ति हमेशा ज्यों-की-त्यों रही है। मैंने अपने सारे उद्योगों और प्रयोगोंमें यही निष्कर्ष निकाला है। बचपनमें मैंने पिताकी आज्ञासे अपनी माताकी हत्या की। लोग कहने लगे 'कैसा मातृ-हत्यारा है!' मैं उस आक्षेपको स्वीकार करनेको तैयार नहीं था। मैं कहा करता 'आत्मा अमर है और शरीर मिथ्या है। कौन किसे मारता है? मैं मातृ-हत्यारा नहीं हूँ, प्रत्युत पितृ-भक्त हूँ।'

"लेकिन आज मैं अपनी गलती महसूस करता हूँ। मातृवधका आक्षेप मुझे उस वक्त स्वीकार नहीं था और आज भी नहीं है। लेकिन मेरे ध्यानमें यह बात नहीं आई थी कि पितृभक्तिकी भी मर्यादा होती है। यही मेरा वास्तविक दोष था। लोग अगर सचमुच उतना ही दोष बताते तो उससे मेरी विचार-शुद्धि हुई होती। लेकिन उन्होंने भी मर्यादाका अतिक्रमण करके मुझपर आक्षेप किया और उससे मेरी विचार-शुद्धिमें कोई सहायता नहीं पहुँची।

"बादमें बड़ा होनेपर अन्यायके प्रतिकारका व्रत लेकर मैं पृथ्वीसे इक्कीस बार लड़ा। हर बार मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि मैं सफल हो गया हूँ, लेकिन प्रत्येक बार मुझे निश्चित असफलता ही नसीब हुई। रामचन्द्रने मेरी गलती मुझे समझाई थी।

"अन्यायका प्रतिकार मनुष्यका धर्म तो है, लेकिन उसकी भी एक धार्मिक मर्यादा है, यह ज्ञान मुझे गुरु-कृपाकी बदौलत प्राप्त हुआ।

"इसके उपरान्त मैं जंगल काटकर मानव-उपनिवेश बसानेके, मानव सेवाके कार्यमें जुट गया। लेकिन आप जानते ही हैं कि जंगल काटनेकी भी एक हद होती है, इस बातका ज्ञान मुझे ठीक समय पर कैसे हुआ?

"अबतक मैं निरंतर प्रवृत्तिका ही आचरण करता रहा। पर आखिर

प्रवृत्तिकी भी मर्यादा तो है ही न ? इसलिए अब मैं निवृत्त होनेकी सोच रहा हूं। इसके मानी यह नहीं है कि मैं कर्म ही त्याग दूंगा। स्वतंत्र नई प्रवृत्तिका आरंभ अब नहीं करूंगा। प्रवाह-पतित करता रहूंगा। प्रसंगवश आप पूछेंगे तब सलाह भी देता रहूंगा।

'इसीलिए मैंने आज जान-बूझकर इस समारोहका आयोजन किया और अपना यह 'समुद्रोपनिषद' या 'जीवनोपनिषद्' चाहे जो कह लीजिये आपसे निवेदन किया है। फिर-से जोरसे कहता हूं—पितृ भक्तिकी मर्यादा प्रतिकारकी मर्यादा मानव-सेवाकी मर्यादा—सारांश सभी प्रवृत्तियोंकी मर्यादा—यही मेरा जीवनसार है। आओ एक बार सब मिलकर कहें 'ॐ नमो भगवत्यै मर्यादायै।

इतना कहकर परशुराम शांत हो गया। उसके उपदेशकी यह गंभीर प्रतिध्वनि सह्याद्रिकी खोह-कंदराओंमें आज भी गूंजती हुई सुनाई देती है।

३०

राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

आजकल खादीका कार्य हमने श्रद्धासे किया है। अब श्रद्धाके साथ साथ विचारपूर्वक करनेका समय आ गया है। खादीवाले ही यह समय लाये हैं क्योंकि उन्होंने ही खादीकी दर बढ़ाई है।

सन् १९२१ में हमने सत्रह आने गज खादी बेची थी। मगर सस्ती करनेके इरादेसे दर कम करते-करते चार आने गज पड़ने लगी। चारों ओर 'यंत्र युग' होनेके कारण कार्यकर्ताओंने मिलके भाव दृष्टिमें रखकर धीरे-धीरे कुशलतापूर्वक उसे सस्ता किया। इस अधूरी सिद्धिके लिए जहां गरीबी थी उन स्थानोंमें कम-से-कम मजदूरी देकर खादी उत्पत्तिका काम चलाना पड़ा। लेनेवालोंने भी ऐसी खादी इसलिए ली की वह सस्ती थी। मध्यम वर्गके लोग पहनें तब—अब खादीका इस्तेमाल किया जा सकता है, क्योंकि

उसके भाव मिलके कपड़के बराबर हो गये हैं, वह टिकाऊ भी काफी है और महंगी भी नहीं है। अर्थात्, 'खूबसूरती और मजबूती' इस कसौटीके अनुसार खादी जैसी लोगोंको चाहिए थी। उन्हें वह वैसी मिल गई और वे मानने लगे कि खादी इस्तेमाल करके महान् देश-सेवा कर रहे हैं।

यह बात तो गांधीजीने सामने रखी है कि अब मजदूरोंको अधिक मजदूरी दी जाय उन्हें रोजाना आठ आने मिलने चाहिए। क्या यह भी जानबूझकरकी बकवास है या उनकी बुद्धि सठिया गई है? या उनके कहनेमें कुछ सार भी है? इसपर हम विचार करना चाहिए। हम अभी ठाल्के अन्दर ही हैं, संसारसे अभी उठ नहीं गये हैं, दुनियामें अभी हमें रहना है। यदि यह विचार हमें नहीं जंचता तो यह समझकर हम उन्हें छोड़ सकते हैं कि यह उनकी सोमोरी सनक है। सच बात तो यह है कि जबसे खादीकी मजदूरी बढ़ी तबसे मुझमें मानो नई जान आ गई। पहले भी मैं यही काम करता था। मैं व्यवस्थित कातनेवाला हूं। उत्तम पूनी और निर्दोष चरखा काममें लाता हूं। कातते समय मेरा सूत टूटता नहीं यह आपने अभी देखा ही है। मैं श्रद्धापूर्वक ध्यानपूर्वक, कातता हूं। आठ घंटे इस तरह काम करनेपर भी मेरी मजदूरी सवा दो आने पड़ती थी। पीठमें दर्द होने लगता था। लगातार आठ घंटे काम करता था ध्यानपूर्वक कातता था एक बार आसनकी जमाई कि चार घंटे उसी आसनमें कातता रहता। तो भी मैं सवा दो आने ही कमा सकता था। सारे राष्ट्रमें इसका प्रचार कैसे हो इसका विचार मैं करता रहता था। यह मजदूरी बढ़ गई, इससे मुझे आनन्द हुआ, कारण मैं भी एक मजदूर ही हूं। "घायलकी गति घायल जाने।"

मेरे हाथके सूतकी धोती पांच रुपयेकी हुई, तब भी धनी लोग बारह रुपये में खरीदनेको तैयार हैं। कहते हैं "यह आपके सूतकी है इसलिए हम इसे लेते हैं।" ऐसा क्या? मैं मजदूरोंका प्रतिनिधि हूं। जो मजदूरी मुझे देते हो वही उन्हें भी दो। ऐसी परिस्थितिमें मुझे यही चिंता हो गई है कि इतनी सस्ती खादी कैसे जीवित रह सकेगी। अब मेरी यह चिन्ता दूर हो गई है। पहले कातनेवाले चिंतित रहते थे कि खादी कैसे टिकेगी। आज वैसी ही चिन्ता पहननेवालोंको मालूम हो रही है।

संसारमें तीन प्रकारके मनुष्य होते हैं—(१) काश्तकार (२) दूसरे धंधे करनेवाले और (३) कुछ भी धंधा न करनेवाले जैसे बूढ़े रोगी बच्चे बेकार वगैरा। अर्थशास्त्रका—सच्चे अर्थशास्त्रका—यह नियम है कि इन तीनों वर्गोंमें जो ईमानदार हैं उन सबको पेटभर अन्न वस्त्र और आरामकी आवश्यक सुविधा होनी चाहिए। कुटुम्ब भी इसी तत्त्वपर चलता है। जैसा कुटुम्बमें वैसा ही समस्त राष्ट्रमें होना चाहिए। इसीका नाम है 'राष्ट्रीय अर्थशास्त्र'—सच्चा अर्थशास्त्र। इस अर्थशास्त्रमें सब ईमानदार आदमियोंके लिए पूरी सुविधा होनी चाहिए। आलसी यानी गैर-ईमानदार लोगोंके पोषणका भार राष्ट्रके ऊपर नहीं हो सकता।

इंग्लैंड-सरीखे देशोंमें (जो धन-सामग्रीसे सम्पन्न हैं) दूसरे देशोंकी सम्पत्ति बहकर आती है सब बाजार खुले हुए हैं नाना प्रकारकी सुविधाएं प्राप्त हैं तो भी वहां बेकारी है। ऐसा क्यों? इसका कारण है यंत्र। इस बेकारीके कारण प्रतिवर्ष बेकारोंको भिक्षा (डोल) देनी पड़ती है। ऐसे बीस पच्चीस लाख बेकारोंको मजदूरी न देकर अन्न देना पड़ता है। आप कहते हैं कि भिखारियोंको काम किये बगैर अन्न न दो पर वहां अन्नदानका रिवाज चालू है। इन लोगोंको काम दीजिये। इन्हें काम देना कर्तव्य है। 'काम दो नहीं तो खानेको दो' यह नीति इंग्लैंडमें है तो सारे संसारमें क्यों न हो? यहां भी उसे लागू कीजिये। पर यहां लागू करनेपर काम न देकर सब करोड़ लोगोंको अन्न देना पड़ेगा। यहां कम-से-कम डेढ़ करोड़ मनुष्य ऐसे निकलेंगे। यह मैं हिसाब देखकर कह रहा हूं। इतने लोगोंको अन्न कैसे दिया जा सकेगा? नहीं दिया जा सकता—मनमें ठान लिया जाय तो भी नहीं दिया जा सकता। उधर, चूंकि इंग्लैंडवाले दूसरे देशोंकी सम्पत्ति लूट लाते हैं इसलिए वे ऐसा कर सकते हैं। ईमानदारीसे राज करना हो तो ऐसा करना सम्भव नहीं हो सकता।

हिन्दुस्तान कृषि प्रधान देश है तो भी यहां ऐसा धंधा नहीं जो कृषिके साथ-साथ किया जा सके। जिस देशमें केवल खेती होती है वह राष्ट्र दुर्बल समझा जाता है। यहां हिन्दुस्तानमें तो ७५ प्रतिशतसे भी ज्यादा काश्तकार हैं। यहांकी जमीनपर कम-से-कम दस हजार बरससे काश्त की जाती है। अमरीका हिन्दुस्तानसे तिगुना बड़ा मुल्क है, पर आबादी यहांकी

सिर्फ १२ करोड़ है। जमीनकी काश्त केवल ४ वर्ष पूर्वसे हो रही है। इसलिए वहांकी जमीन उपजाऊ है और वह देश समृद्ध है। अपने राष्ट्रके काश्तकारोंके हाथमें और भी धंधे दिये जाय तभी वह सम्पन्न होगा। काश्तकार, यानी (१) खेती करनेवाला (२) गोपालन करनेवाला और (३) बुनकर कातनेवाला। काश्तकारकी यह व्याख्या की जाय तभी हिन्दुस्तानमें काश्तकारी टिक सकेगी।

शायद यह वर्तमान परिपाटी बदलनी ही पड़ेगी। बहुत लोग दुःख प्रकट करते हैं कि खादीका प्रचार जितना होना चाहिए उतना नहीं होता। इसमें दुःख नहीं आनन्द है। खादी शौकीके वस्त्र अथवा फिल्मकी चीज नहीं है। खादी एक विचार है। चाय लगानेको कहें तो देर नहीं लगती पर यदि भाव बदलनेको कहें तो इसमें कितना समय लगेगा इसका भी विचार कीजिये। खादी निर्माणका काम है, विध्वंसका नहीं। यह विचार अपेक्षोंके विचारका शत्रु है। उस खादीकी प्रगति धीमी है, इसका दुःख नहीं यह तो स्वाभाव्य ही है। पहले अपना एक या दस खादी थी ही पर उस खादीमें और आजकी खादीमें अन्तर है। आजकी खादीमें जो विचार है, वह उस समय नहीं था। आज हम खादी पहनते हैं इसके क्या मानी हैं? यह हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि आजकी खादीका अर्थ है सारे संसारमें चलते हुए प्रवाहके विरुद्ध जाना। यह पानीमें प्रवाहके ऊपर चढ़ना है। इसलिए जब हम यह बहुत-सा प्रतिकूल प्रवाह—प्रतिकूल समय—जीत सकेंगे तभी खादी आगे बढ़ सकेगी। "इस प्रतिकूल समयका संहार करनेवाली मैं हूं" यह यह कह सकेगी। "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः" ऐसा अपना विराट् रूप वह दिखलायेगी। इसलिए खादीकी यदि मिलके कपड़े से तुलना की गई तो समझ लीजिये कि वह मिट गई मर गई। इसके विपरीत उसे ऐसा कहना चाहिए कि "मैं मिलकी तुलनामें खड़ी नहीं रहती हूं। मैं सब मालकी हूं। जो-जो विचारशील मनुष्य हैं मैं उन्हें पसन्द करती हूं। मैं सिर्फ शरीर ढांकने भरको नहीं आई मैं तो आपका मन हरण करने आई हूं।" ऐसी खादी एकाएक कैसे मंजूर होगी? वह धीरे-धीरे ही आगे आयगी और आयगी तो अपने तौरसे आयगी। खादीके अन्तर्गत विचारों की विरोधिनी होनेके कारण उसे पहननेवालोंकी संख्या आयन्तोंमें होगी।

मैंने अभी जो तीन वर्ग बताये हैं—काश्तकार, अन्य धंधा करनेवाले और जिनके पास धंधा नहीं—उन सभी ईमानदार मनुष्योंको हमें अन्न देना है। इसे करनेके लिए तीन शर्तें हैं। एक तो सर्वप्रथम काश्तकारकी व्याख्या करिये। (१) खेती (२) गो-पालन और (३) कातनेका काम करने वाले ये सब काश्तकार हैं—काश्तकारकी ऐसी व्याख्या करनी चाहिए। अन्न वस्त्र बैल गाय दूध इन वस्तुओंके विषयमें काश्तकारको स्वावलंबी होना चाहिए। यह एक शर्त हुई। दूसरी शर्त है कि जो वस्तुएं काश्तकार तैयार करें, वे सब दूसरोंको महंगी खरीदनी चाहिए। तीसरी बात यह है कि इनके सिवाय बाकीकी चीजें जो काश्तकारको लेनी हों, वे उसे सस्ती मिलनी चाहिए। अन्न-वस्त्र दूध ये वस्तुएं महंगी पर बाकी सिगरेट-जैसी वस्तुएं सस्ती होनी चाहिए। वास्तवमें दूध महंगा होना चाहिए, जो है सस्ता और सिगरेट सस्ते होने चाहिए, जो हैं महंगे। यह आजकी स्थिति है। आपको यह विचार जब करना चाहिए कि अच्छे-से-अच्छे सिगरेट सस्ते और मध्यम दूध भी महंगा होना चाहिए। इस प्रकारका अर्थशास्त्र आपको तैयार करना चाहिए। खादी दूध और अनाज सस्ता होते हुए क्या राष्ट्र सुखी हो सकेगा? इने-गिने कुछ ही नौकरोंको नियमित रूपसे अच्छी तनख्वाह मिलती है उनकी बात छोड़िये। जिस राष्ट्रमें पिचहत्तर प्रतिशत काश्तकार हों उसमें यदि ये वस्तुएं सस्ती हुईं तो वह राष्ट्र कैसे सुखी होगा? उसे सुखी बनानेके लिए खादी दूध अनाज ये काश्तकारोंकी चीजें महंगी और बाकीकी चीजें सस्ती होनी चाहिए।

मुझसे लोग कहते हैं 'तुम्हारे ये सब विचार प्रतिगामी हैं। इस बीसवीं सदीमें तुम खादीवाले लोग यंत्र-विरोध कर रहे हो।' पर मैं कहता हूं कि क्या आप हमारे मनकी बात जानते हैं? हम सब यंत्र-विरोधी हैं, यह आपने कैसे समझ लिया? मैं कहता हूं कि हम यंत्रवाले ही हैं। एकदम आप हमें समझ सकें यह बात इतनी सरल नहीं है। हम तो आपको भी हजम कर जानेवाले हैं। मैं कहता हूं कि आपने यंत्रोंका आविष्कार किया है न? हम भी वे मान्य हैं। काश्तकारोंकी वस्तुएं छोड़कर बाकीकी वस्तुएं आप सस्ती कीजिये। अपनी यंत्रविद्या काश्तकारोंके धंधोंके अलावा दूसरे धंधोंपर चलाइये और वे सारी वस्तुएं सस्ती होने दीजिये। पर आज होता है उलटा।

कारखानोंमें वस्तुएं सस्ती, पर हमने सब हाथसे हुए भी सबकी सारी वस्तुएं महंगी! मैं खादीवाला हूं, तो भी यह नहीं कहता कि मनमाना दाम पैदा कर लो। मुझे भी किफायत चाहिए। कारखानेवालोंको एक पैसेका माल किफायत क्यों नहीं देते? आप कहते हैं कि हमने बिजली तैयार की और वह कारखानोंको चाहिए। तो दीजिए न आप गांवमें महीने भर। आप खुशीसे यंत्र निकालिये पर उनका वैसा उपयोग होना चाहिए जैसा मैं कहता हूं। मेरे चार आने वसूल होने चाहिए और आपके यंत्रोंकी बनी वस्तुएं पैसे-दो-पैसेमें मिलनी चाहिए। मक्खन दो रुपये सेर आपको गांवोंसे खरीदना चाहिए। यदि आप कहें कि हम यह नहीं सहेंगे तो कारखानेदार भी कह दें कि हम अपनी चीजें बांटते हैं, हमारे खानेके बाद बचेंगी तो आपको देंगे। मुझे बताइये कौन-सा कारखानेदार इसका विरोध करेगा?

इसलिए यह खादीका विचार समझ लेना चाहिए। बहुतोंके सामने यह समस्या है कि खादी महंगी हुई तो क्या होगा? पर किसका? किसानों-को खादी खरीदनी नहीं पड़ती है। इसलिए उनके लिए खादी महंगी नहीं। वह उन्हें दूसरोंको महंगी बेचनी है।

३१

खादी और गादीकी लड़ाई

होनेवालकी खादी-सभामें शिष्ट लोगोंके लिए गादी (गद्दी) बिछाई गई थी। 'शिष्ट' की जगह आप 'विशिष्ट' शब्द बोलिये क्योंकि वहां जो दूसरे लोग आये थे वे भी शिष्ट तो थे ही। उस मौकेपर मुझे कहना पड़ा था कि खादी और गादीमें अनबन है, दोनोंकी लड़ाई है और अगर इस लड़ाईमें खादीको ही जीत होनेवाली हो तो हम गादीको छोड़ दें।

लोग कहते हैं 'खादीकी भी तो गादी बन सकती है?' हां बन क्यों नहीं सकती? मनुष्य भी पशु बन सकता है। लेकिन बननी नहीं चाहिए और बन जानेपर उसे मनुष्यमें शुमार न करना ही उचित है।

हमें ध्यान देना चाहिए आचार्यजीकी तरफ। बीमार, कमजोर और बूढ़ोंके लिए खादीका इस्तेमाल किया जाय तो बात और है। लेकिन जो शिष्ट समझे जाते हैं उनमें और दूसरोंमें फर्क करके उनके लिए भेद दर्शक पद्धतियोंका शासन चलाना बिलकुल दूसरी ही चीज है। इस दूसरी तरहको खादी और खादीका विरोध है।

वास्तवमें तो जो खादी हमारा आलसी लोगों और पदमस्तोंकी मोहब्बत करती है उसे शिष्ट बनोंके लिए सिखाना उनका आदर नहीं बल्कि अनादर करना है। लेकिन दुर्भाग्यवश शिष्ट लोग भी इसमें अपना अपमान नहीं समझते। हमने तो यहाँतक कमाल कर दिया कि शंकराचार्यजी भी यही बनानेसे बाज नहीं आये! शंकराचार्य तो कह गये— 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः' —लंगोटिये ही सबसे बड़भागी हैं। और किसीको यह बात जंचे या न जंचे कम-से-कम आचार्यके अनुयायियोंको तो जंचनी ही चाहिए।

राष्ट्र ऊपर उठते हैं और गिरते हैं। लेकिन आलस्य विलासिता और लड़ना कभी ऊपर उठती ही नहीं। शिवाजी महाराज कहा करते थे कि "हम तो धर्मके लिए फकीर बने हैं।" लेकिन पेशवा तो पानीपतकी लड़ाईके लिए जो सकुटुंब सपरिवार गये मानो किसी बारातमें जा रहे हों और वहाँ भाऊसाहबसे हाथ धोकर अपना-सा मुंह लेकर लौटे। गिबनने कहा है—"रोम बढ़ा कैसे?" सादगीसे। "रोम गिरा कैसे?" भोग विलाससे।

कुछ साल पहले असहयोगके आरम्भकालमें देशके युवकों और बूढ़ोंमें, पुरुषों और स्त्रियोंमें त्यागवृत्ति और वीरताका संचार होने लगा था। खद्दर मजबूत था, कपड़ा मोटा था—मोटा जैसी खादी—लोग बड़े अभिमानसे बेचते थे और खरीदनेवाले भी अभिमानसे खरीदते थे। बाद चलकर धीरे-धीरे हम खादीका कुछ और ही ढंगसे उपयोग करने लगे। खादी बनानेवाले कहने लगे—"देखिये इस खादीमें कितनी नरमी होगई है। बिलकुल मलमल जैसा—पतला—मुलायम! विलायती मलमलको मात करनेवाली जैसी चाहे वैसी खादीकी शकल लीजिये।" और मां भी पहननेको ऐसा रिवाज लगी सामने। सरीखा भी पहनने लगे। खादीकी प्रतिष्ठा होने

तरह दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़े और एक दिन वह मिलके कपड़ेकी पूरी-पूरी बराबरी करे। लेकिन उनकी समझमें यह मोटी-सी बात न आती थी कि यदि खादीको मिलके कपड़ेकी ही बराबरी करनी है तो फिर खादीकी जरूरत ही किसलिए है? मिल ही क्या बुरी है? वैद्य अपनी दवाकी तारीफ करने लगा 'बिल्कुल सस्ती दवाई है न परहेज की जरूरत न पथ्यकी।' मरीज आ गया चकमेमें। लेकिन बेचारा यह भूल गया कि पथ्य-परहेज नहीं तो फायदा भी नहीं।

कोई गलत अर्थ न समझें। कहनेका यह मतलब कदापि नहीं है कि मजदूरोंको पूरी-पूरी मजदूरी देकर खादी सस्ती करना हमारा कर्तव्य नहीं है। यह भी कोई नहीं कहता कि खादी पर लोगोंको सब तरहकी सजावटें पूरी न करे। प्रश्न केवल इतना ही है कि खादी का गौरव किस बातमें है। किसीकी खादी बिगड़ गई हो तो उसे एकदम बदल देनी चाहिए। लेकिन फैशनवालीको देख उसे 'फैशनेबल' कहकर उसकी बड़ाई तो नहीं की जा सकती।

यहां एक प्रसंग सहज ही याद आ रहा है। एक रसिक दृष्टिवाला भक्त घर एक बार पंढरपुर जाकर विठोबाके दर्शन कर आया। मुझसे कहने लगा "विठोबाके सारे भक्त उनके रूपकी प्रशंसा करते नहीं अघाते उनके रूपकोप (स्तोत्र) सुन-सुनकर तो जी ऊब गया। लेकिन मुझे तो उस मूर्तिको देखकर कहीं भी सुन्दरता का आभास नहीं आया। एक निरा बेडौल पत्थर नजर आया। मूर्तिकार और भक्तजन दोनों मुझे तो ऐसा लगता है कि कुरूपतामें ही संतुष्ट हो गये। पचतन्त्रवाले किस्सेमें जिस तरह उन तीन धूर्तोंने सिर्फ बार बार कह-कहकर बकरेको कुत्ता बना दिया और उसी तरह इन लोगोंने चिल्ला चिल्लाकर एक बेडौल पत्थरमें सुन्दरता निर्माण करनेकी ठान ली है।" मैंने जवाब दिया "हां यही बात है। इस समाजकी सीमा यहींसे लोग ज्ञानसे लोगोंको उबारनेका विसर्जन प्रश्न किया है, उस ना समझ बुद्ध राम और कृष्ण जड़ा ही होना चाहिए। यह यदि ऐप सम्पादक ... या पचासगनमना राम जमाकर तस्वीर खिंचनेवालेके लिए आसन लगानेवाले रूपकी मरम्मतका अनुकरण करे तो क्या वह उसे शोभा देगी? रामदासने लिखा है— 'मनुष्यके अन्तरका शृंगार है चातुर्य

वस्त्र तो केवल बाहरी सजावट है। दोनोंमें कौन-सा श्रेष्ठ है, इसका विचार करो। इसीलिए सिपाहियोंको हट्टे-कट्टे मामला-जैसे खादी मिले।

मेरा समाजवादी दोस्त कहेगा "तुम तो बस वही अपना पुराना राग अलापने लगे। बस फिर उसी दरिद्रनारायणकी पूजामें मगन हो गये। हम दरिद्रताके पुजारी नहीं हैं। अपने राम तो वैभवके उपासक हैं।" मैं उनसे कहना चाहता हूँ — अरे दोस्त, इस तरह अपनाके पीछे लट्ठ लेकर क्यों पड़ा। हम क्यों दरिद्रको नारायण कहते हैं? हम तो 'दरिद्र' को नारायण मानकर पुकारते हैं। और 'दरिद्र' को नारायण नाम दिया, इसका यह मतलब थोड़े ही है कि धनिक 'नारायण' नहीं हो सकता? यदि मैं कहूँ कि मैं बड़ा हूँ, तो इसका यह अर्थ थोड़े ही है कि तुम बड़े नहीं हो? बस अब तो संतोष हुआ? दरिद्र भी नारायण है और श्रीमान् भी। दरिद्रनारायणकी पूजा उसकी दरिद्रता दूर करनेसे पूरी होती है और श्रीमन्नारायणकी पूजा उस धनको परमेश्वरका अर्थ समझकर उसका त्याग करवानेसे होती है और जब दिया पूर्ण-नारायणका पाना गर्व तो उसकी पूजा इस प्रकार विलक्षण करके समझानेसे होती है। क्या ठीक है न?

लेकिन इस यथार्थ विनोदका ध्यान दीजिए। अगर समाजवादी दोस्त को वैराग्य नहीं सुहाता तो वैभव ही सही। वैभव किसे कहना चाहिये और वह कैसे प्राप्त किया जाता है, इन बातोंको भी ध्यान दीजिये। आखिर समाजवादी कम-से-कम साम्यवादी तो हैं न? इस दो-चार आदमियोंको अच्छी-अच्छी खादी मिले और बाकी सबको टाट भी ओढ़नेको न नसीब हो तो उन्हें नहीं भाता न? अब मैं खादी और खादीकी सफाईकी बात पहले तो कम-से-कम यह भय भी न था ही। सब लोगोंके लिए खादी सफाई न होती तो दूसरा ही यथार्थ मार्ग होता। लेकिन यह मुमकिन नहीं था। और मुमकिन नहीं था इसीलिए मुनासिब भी नहीं था। यह ध्यानमें आना जरूरी था।

पाकर हमारे पूज्य बापूजीने एक ओर साम्यवाद और दूसरी ओर विषम व्यवहारका बड़ा भार है। साम्यवाद और विषम व्यवहार बड़े आदरसे साथ-साथ चल रहे हैं। ... इन दोनोंका सामंजस्य विचार एक करना और साथ चलाना। अत्यन्त विशिष्ट पुरुष यह बात

छोटे बड़ा, प्रतिष्ठित मानवीय सर्वसमाज और देहाती जनता—इन सबके लिए बड़ा इज्जतदार प्रश्न किया गया था। गांधीजीके लिए यह हरगिज दुःखका विषय था, यह बात जाहिर हो चुकी है। यह विषय व्यवहार आज जीतेजागते ही होता हो सो बात भी नहीं। हमारे जीवन और मनमें उसने घर कर लिया है। 'मजदूरोंको पूरा-पूरा वेतन दिया जाना चाहिए या नहीं" इस विषयपर बहस हो सकती है, पर "व्यवस्थापकोंको पूरा वेतन दिया जाय या नहीं" इसकी बहस कोई नहीं देखता। जिन्हें हम देहातकी सेवाके लिए भेजते हैं उन्हें अपना रहन-सहन ग्राम-जीवनके अनुकूल बनानेकी हिदायत देते हैं। उन्हें शहरसे भेजने और हिदायतें देनेको तो हम तैयार रहते हैं, लेकिन हम इस बातकी ज़रा तनिक भी अनुभूति नहीं होती कि स्वयं हमको भी अपनी हिदायतोंके अनुसार चलनेकी कोशिश करनी चाहिए। साम्यकी सेवके दुश्मनी है लेकिन विवेकसे तो नहीं है? इसीलिए बूढ़ोंके लिए खादी हमने मंजूर कर ली है। इसी तरह देहातकी सेवाके लिए जानेवाले युवक कार्यकर्ता और उन्हें वहां भेजनेवाले बुजुर्ग नेताओंके जीवनमें थोड़ा-बहुत फर्क होना न्याय-संगत है और विवेक उसे मंजूर करेगा। इसीलिए साम्य-सिद्धान्तकी भी उसके खिलाफ कोई शिकायत नहीं रहेगी। लेकिन आज जो फर्क पाया जाता है वह थोड़ा-बहुत नहीं है। अक्सर वह बहुत मोटा, बदसूरत, सहज ही आंखोंमें खटकनेवाला ही नहीं बल्कि चुभनेवाला होता है। इस विषम वैभवका नाम खादी है और इस खादी में खादीकी दुश्मनी और लड़ाई है।

हालहीमें आश्रममें एक बातकी चर्चा हो रही थी। आश्रमकी आबादी बढ़ रही है, इसीलिए अब नई जगह लेकर ग्राम-शास्त्रके अनुसार व्यवस्थित बस्ती बसाना चाहिए। बुनकर, कातनेवाले, बढ़ई आदि मजदूर और व्यवस्थापक-वर्ग परिवार, संस्थाके कार्यकर्ता, आश्रमवासी, मेहमान आदिके लिए किस प्रकारके मकान बनवाने चाहिए यह मुझसे पूछा गया। पूछनेवाला स्वयं साम्यपूजक था ही और मैं साम्यवादी नहीं हूं यह भी जानता था। मैंने कुछ मन-ही-मन और कुछ प्रकट रूपमें कहा, "मैं चना हजम नहीं कर सकता, इसलिए दही खाता हूं। मजदूरको दहीका शौक तो है लेकिन वह चना हजम कर सकता है। इसलिए चनेसे काम चला लेता है। इतनी विषमता तो हम विवेककी चटाई लेकर हजम कर गये। लेकिन क्या

हमारे लिए मकान भी भिन्न-भिन्न प्रकारका होना जरूरी है? जिस तरह मकानमें मजदूर अपनी जिंदगी बसर करता है, उसी तरहका मकान मेरे लिए भी काफी क्यों नहीं हो सकता? या फिर, उसका भी मकान मेरे मकानके समान क्यों न हो?

आप चाहे वैषम्यका नाम लें चाहे वैभवका, विषमताको बर्दाश्त हरगिज न कीजिये। 'खादीका नाम है 'आत्मौपम्य'। सच्चा साम्यवाद यही है। उसपर तुरंत अमल किया जाना चाहिए। साम्यवादका कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व है 'तत्काल साम्यवाद' का। साम्यवादको तुरंत कार्यान्वित करनेकी सिफ्तका नाम अहिंसा है। अहिंसा हरेकसे कहती है कि "तू अपने-आपसे प्रारंभ कर दे तो तेरे लिए तो आज ही साम्यवाद है। अहिंसाका चिह्न है खादी। खुद खादी हो मगर भेदभाव रहे, तब तो यही कहना होगा कि उसने अपने हाथों अपना गला काट लिया।

इस सारे प्रबंधका संग्राहक सूत्र-वाक्य है—खादी और खादीमें समाई है।

३२

खादीका समग्र दर्शन

जेलमें तटस्थ चिंतनके लिए थोड़ा-बहुत अवकाश मिल जाता है। इसलिए हमारे आंदोलनके विषयमें और हिंदुस्तान तथा संसारकी सारी परिस्थितिके विषयमें बहुत-कुछ विचार हुआ, चर्चा भी हुई। कुल मिलाकर परिस्थिति बहुत बिगड़ी हुई मालूम होती थी। ऐसे समय कौन-से उपाय करने चाहिए, इसका चिंतन हम वहां करते थे। लेकिन हमारे जेलसे छूटनेके थोड़े ही दिन बाद जापान और अमरीकाके लड़ाईमें शामिल हो जानेसे परिस्थिति और भी बिगड़ गई। इसलिए उसमें किये कुछ विचार अधूरे मालूम हुए और कुछ दृढ़ हुए। इस युद्धके विषयमें हम प्रायः तीन कारण दिया करते थे। पहला कारण था युद्धकी हिंसकता, दूसरा दोनों पक्षोंकी—

चाहे वह मुनासिब भले ही हो—साम्राज्यवादी तृष्णा और तीसरा यह कि हिंदुस्तानकी सम्मति नहीं ली गई। लेकिन जापान और अमरीकाके मैदानमें उतर पड़नेके बाद अब करीब-करीब सारा संसार ही युद्धमें शामिल हो गया है। अब यह युद्ध मनुष्यके हाथमें नहीं रहा, बल्कि मनुष्य ही युद्धके अधीन हो गया है। इसलिए यह युद्ध स्वैर या मुक्त है। हमारे युद्धविरोधका यह और एक नया कारण है। वासुदेव कॉलेज (वर्धा) में भाषण देते हुए मैंने इसीपर जोर दिया था।

लेकिन इस प्रकार संसारके सभी बड़े राष्ट्रोंके युद्धमें शरीक हो जानेसे हिंदुस्तानकी, जोकि पहलेसे ही एक दरिद्र और विषम परिस्थितिमें ग्रस्त देश है, हालत और भी विषम हो गई है। अंग्रेजी राज्यसे पहले हिंदुस्तान स्वावलंबी था। इतना ही नहीं, वह अपनी जरूरतें पूरी करके विदेशोंको भी थोड़ा-बहुत माल भेजा करता था। लेकिन अब तो पक्के मालके लिए हिंदुस्तान करीब-करीब पूरी तरह परावलंबी हो गया है। राष्ट्रीय रक्षाके साधन, युद्धविषयक सरंजाम वगैरहमें जो परावलंबन है, उसकी बात मैं नहीं कहता। हालांकि अगर अहिंसाका रास्ता खुला न हो तो राष्ट्रीय दृष्टिसे इस बाबतमें विचार भी करना ही पड़ता है। लेकिन मैं तो सिर्फ जीवनोपयोगी नित्य आवश्यकताओंकी ही बात कह रहा हूँ। ये चीजें आज हिंदुस्तानमें नहीं बनतीं और विलायतसे या बाहरसे कम आ सकतीं। लड़ने-वाले राष्ट्र युद्धोपयोगी सामग्री बनानेमें ही फँसे हैं, उनके पास बाहर भेजनेके लिए बहुत कम माल रहेगा। और इसके बाद भी जो माल तैयार होगा उसे दूसरे राष्ट्रोंतक न पहुँचने देनेकी व्यवस्था शत्रुराष्ट्र अवश्य करेंगे। अमरीकासे माल आने लगे तो जापान उसे डुबा देगा और जापानसे तो माल आ ही नहीं सकेगा। इस तरह अगर बाहरसे माल आना बंद हो गया या कम हो गया तो हिंदुस्तानका हाल बहुत ही बुरा होगा। पक्का माल यहां बनानेके लिए सरकार अगर हेतुपूर्वक नहीं तो परिस्थितिके कारण उदासीन रहेगी। उसका सारा ध्यान लड़ाईपर केंद्रित है, इसलिए उसे दूसरी गंभीर बातें नहीं सूझतीं। गंभीरतासे जो कुछ विचार होगा वह केवल युद्धके विषयमें ही होगा। बल्कि सरकारकी यही वृत्ति रही कि हिंदुस्तानको येन-केन प्रकारेण—यानी उन अंग्रेजोंके कब्जेमें बनाये रखना

—पर हमारा कर्तव्य है, तो कोई ताज्जुब नहीं। ऐसी अवस्थामें हम कार्यकर्ताओंपर बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ती है।

यों लोगोंपर यह इलजाम लगाया जाता था कि खादीकी बिक्री काफी नहीं होती, उसके लिए लोगोंकी मिन्नतें करनी पड़ती हैं। अब हमपर यह इलजाम आनेवाला है कि हम लड़ाईकी परिस्थितिमें लोगोंकी माँग हम पूरी नहीं कर सकते। ऐसे संकटके समय अगर हम खादीके कामको तरक्की न दे सके तो खादीके भविष्यके लिए बहुत कम आशाकी गुंजाइश रहेगी।

बापूजीने 'खादी जगत' द्वारा हालहीमें एक योजना पेश की है। उसमें उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि सरकार बेकारोंको जितने उपाय दे सकती है उतने अवश्य दे। लेकिन सरकारी शक्ति खतम होनेपर भी अगर भूख बाकी रह जाय तो उतने अंशमें खादीको प्रोत्साहन देना सरकारका कर्तव्य है। किसी भी सरकारको खादीका यह कार्यक्षेत्र आज मंजूर करना पड़ेगा।

लेकिन इस योजनाका स्वरूप तो ऐसा है कि मानो जहाँ हम प्रवेश नहीं पा सकते वहाँ धीरे-से अपनी पोटली रख देते हैं। हमारे घरपर कब्जा करने-वालेसे हम कहते हैं, "भैया मकान तेरा ही सही। लेकिन तेरा यह ख्याल गलत है कि मकान बिल्कुल भर गया है। यह देखो उस कोनेमें थोड़ी-सी जगह खाली है। मेरी यह पोटली वहाँ पड़ी रहने दो। हमारा यह आक्रमण मनुष्यमें अपेक्षित न्यूनतम सद्गुणपर होता है, इसलिए उसका परिणाम अवश्य होता ही है।

परन्तु इस प्रकार की अकाल-पीड़ित खादी खादीकी बुनियाद नहीं हो सकती। आज जिस तरह खादीका उत्पादन और बिक्री हो रही है, वह भी उसकी बुनियाद नहीं है। खादीकी इमारतका यह एक अंग जरूर है। खादीकी अन्तिम योजनामें भी उत्पत्ति-बिक्रीका स्थान रहेगा और आजसे कहीं अधिक रहेगा। लेकिन यह खादीकी सम्पूर्ण योजनाका एक अंशमात्र है।

इसी तरह आज जगह-जगह जो वस्त्र-स्वावलम्बन जारी है उसमें मानो इस गाँवमें चार वस्त्र स्वावलम्बी पाये गये हैं, उस तहसीलमें सौ-दो सौ हैं। इसी प्रकार दूसरे गाँवोंमें भी वस्त्र-स्वावलम्बन शुरू करते रहनेमें भी हमारा

मुख्य काम नहीं होता। यह तो चौराहोंपर जगह-जगह म्युनिसिपैलिटीकी बत्तियां जलनेके समान है। इन बत्तियोंका भी उपयोग तो है ही। उनके कारण चारों तरफका वातावरण प्रकाशित रहेगा। लेकिन चौकसी बत्तियां घरके दियेका काम नहीं देती। इसलिए यह इस तरह बिखरा हुआ वस्त्र स्वावलम्बन भी खादीका मुख्य कार्य नहीं है।

खादीकी नींव तो यह है कि किसान जैसे अपने खेतमें अनाज उपजाता है उसी तरह वह अपना कपड़ा अपने घरमें बनावे। शायद शुरूमें ही हम इस तरह काम न कर सकते। इसलिए हमने खादीका काम दूसरे ढंगसे शुरू किया। लेकिन यह भी अच्छा ही हुआ। इससे खादीको गति मिली और लोगोंको थोड़ी-बहुत खादी हम दे सके।

लेकिन अब तो लोगोंकी खादीकी मांग बढ़ेगी। व्यापारी तरीकेसे हम उसे पूरा नहीं कर सकेंगे। ऐसी स्थितिमें अगर हम लाचार होकर चुपचाप बैठ रहेंगे तो हम दोषी समझे जायेंगे और यह दोषारोपण न्यायानुकूल ही होगा क्योंकि खादीको बीस सालका समय मिल चुका है। हिटलरने बीस बरसोंमें एक गिरे हुए राष्ट्रको खड़ा कर दिया। उन्नीससौ अठारहमें जर्मनी की पूरी तरह हार हो गई थी और उन्नीससौ अड़तीसमें वह एक बलवान दर्जेका राष्ट्र बन गया। उसने भी जो कुछ ताकत कमाई, वह इन बीस बरसोंमें ही कमाई। उसने उसमें उसने दुनियाको चकित कर देनेवाली विचार और आचारकी एक प्रणालीका निर्माण किया। ये दोनों प्रयोग हिंसामय या हिंसाश्रित हैं इसलिए उनकी स्थिरता संदेहमें है यह बात अलग है। कहा तो यही जायगा कि खादीको भी इसी प्रकार बीस बरसतक मौका दिया गया। इतने समयमें खादी अधिक प्रगति नहीं कर सकी, उसकी कई वजह हैं। इसलिए जर्मनी या इटलीसे तुलना करके हम अपने लिए नाहक निराशा मोल लेनेकी जरूरत नहीं है। फिर भी इस सवालके मौकेपर अगर हम लाचार बन जाते तो समाप्ति भी यह पक्का है। खादीके लिए एक मौका दिखा-कर उसमें मजबूर रहना पड़ेगा। लेकिन इस खादीकी मुख्य दृष्टि—जिसे अहिंसाकी आत्मनिर्भर ग्रामोद्योग है—ठीक इसके समान है। कम से कम निरूपणमें तो खादी और अहिंसाका गठ-बन्धन अटूट समझना चाहिए।

है। ध्यान जाता है। साधारण कम-कीमत जैसे उपयोगी भले ही मान लिया जाय तो भी मशीनके जमानेकी व्यापक योजनामें वह निकम्मी है। मगर यह दावा है कि उस मशीनसे उतनी वास्तविक पूंजी नहीं बनती जितनी इस [illegible] बनती है।

परन्तु इसमें यह मानी हुई बात है कि यह धनुष-पींजन या धुनाई कपासकी होनी चाहिए। आज सब जगह प्रायः सारी क्रियायें रुई ही बाजारसे लाई जाती है। अब रुईकी जगह कपासका उपयोग करना चाहिए। किसानको अपने खेतमेंसे अच्छी बड़ी-बड़ी डोडियोंवाली कपासका चुनाव करना चाहिए। फिर उसे चखाई-पटरी जैसे साधनसे ओट लेना चाहिए। इसमें प्रायः एक भी बिनौला नहीं बिगड़ेगा। किसान खुद ओटकर अच्छी-अच्छी डोडियां बोयेगा। इसलिए उसे अच्छा बीज मिलेगा और उसका खेत समृद्ध होगा। इस प्रकार कपाससे शुरू करनेमें अनेक लाभ हैं। रुईसे शुरू करनेमें हम उन्हें गंवा देते हैं।

तालीमका अर्थशास्त्र सचमुच इतनी पुख्ता नींवपर खड़ा है कि उसमें सस्ता और सुख भी नहीं सिद्ध हो सकता। लेकिन उसकी जगह बीचकी ही किसी असल प्रक्रियाको बारीकी प्रक्रिया मान लेना तालीमको नाहक बदनाम करना है।

कार्यकर्ताओंको समग्र दर्शनके इस विचारपर अच्छी तरह ध्यान देना चाहिए। कहा जाता है कि मिलें सस्ती पड़ती हैं। हम हिसाब करके दिखा सकते हैं कि वे महंगी हैं। मिलोंमें [illegible] खर्च यानी [illegible] नाना-बीमारियां, मालिकोंका [illegible] आदि नई भावनायें स्पष्ट ही हैं। लेकिन फिर भी अगर सस्ती मालूम होती है तो या तो उसमें कोई जादू होना चाहिए या फिर हमारे गणितमें गलत होना चाहिए। गणितमें तो गलती नहीं हो सकती। तो फिर अवश्य तिलस्म है। वह जादू यह है कि मिल एक विराट् मालिक रचनाकी जंजीरकी एक कड़ी है। वह कारखाना मुख्य उद्योगके साथ-साथ उसके सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे भी पुरकर उद्योग चलाये जाते हैं। कारखाना उन उद्योगोंके लिए भी चलता। इसलिए कुछ गौण पैदावार पड़ते हैं। इन गौण उद्योगोंसे जो आमदनी होती है उससे प्रधान उद्योगको लाभ होता है और वह सब

मिलाकर यह कारखाना आर्थिक दृष्टिसे पुसाता है। मिलकी यही स्थिति है। यह एक समग्र विचार या कल्पनाकी बात है।

मिलोंके साथ-साथ रेल आई। शांतिके समय माल लाना-ले जाना उसका प्रधान काम है। यात्रियोंको भी उससे लाभ होता है। लोगोंको नये सफर करनेकी आदत हो जाती है। उनके विवाह-संबंध भी दूर-दूरके स्थानोंमें होने लगते हैं और इस तरह रेल उनके जीवनकी एक आवश्यकता हो जाती है। फिर उससे फायदा उठाकर मिलोंके विषयमें सस्तेपनका एक भ्रम पैदा किया जा सकता है।

मैंने रेलका उदाहरण दिया। ऐसी कई चीजें मिलकी मददके लिए उपस्थित हैं। इसलिए मिल सस्ती प्रतीत होती है। अगर सिर्फ मिलका ही विचार किया जाय तो वह बहुत महंगी होती है। यही नियम खादीके लिए भी लागू करना चाहिए। अगर अकेली खादीका ही विचार किया जाय तो वह महंगी मालूम होगी। लेकिन ऐसा अलग-अलग विचार नहीं किया जा सकता। किसी सुंदर आदमीके अवयव अलग-अलग काटकर अगर हम देखने लगें तो क्या होगा? कटी हुई नाक खूबसूरत थोड़े ही लगेगी? उसमें तो आरपार छेद दिखाई देंगे। लेकिन ऐसे पृथक किये हुए अवयव अपनेमें सुंदर न होते हुए भी सब मिलकर शरीरको सुंदर बनाते हैं। जब हम समग्र जीवनको दृष्टिमें रखकर खादीको उसका एक अंग मानेंगे तब खादी-जीवन मिल-जीवनकी अपेक्षा कहीं सस्ता साबित होगा।

खादीमें लाने-ले जानेका सवाल ही नहीं है। वह तो यहाँसे वहाँ नहीं होती है। घरकी घरहीमें व्यवस्थित रूपसे रहती है। बीचके व्यवस्थापकोंका काम नहीं रह जाता। अपनी जरूरतसे ज्यादा कपास फिजूल बोई ही नहीं जायगी इसलिए कपासका भाव हमारे हाथोंमें रहेगा। चुनी हुई बिनौलियाँ घरपर ही ओटी जायगी जिससे बोनेके लिए बढ़िया बिनौले मिलेंगे और खेती विशेष सम्पन्न और प्रफुल्लित होगी। बचे हुए बिनौले बेचने नहीं पड़ेंगे। वे घरके गायको मिलेंगे और फलस्वरूप अच्छा दूध घी और बैल मिलेंगे। वस्त्र-स्वावलम्बनके लिए आवश्यक ओटनियाँ सलाई-पटरे या उसीकी विशेषताएँ रखनेवाली ओटनीपर ओट ली जायगी। वह रुई साफ रहकर आसानीसे धुनी जा सकेगी। वह धनुषसे अच्छीतरह धुनी जायगी और

सूत समान तथा मजबूत कत सकेगा। सूत अच्छा होनेके कारण बुननेमें सुगमता होगी। अच्छी बुनावटके कारण वह शरीरपर ज्यादा दिन टिकेगा और कपड़ा ज्यादा दिन चलनेके कारण उतना संयम कपासकी खेतीवाली जमीनकी बचत होगी। अब इस तरह तेलकी घानी आदि ग्रामोद्योग और जोड़ दीजिये और देखिये कि वह सस्ती पड़ती है कि महंगी। आप पायेंगे कि वह बिल्कुल महंगी नहीं पड़ती। जब खादीका यह समग्र दर्शन आपकी आंखोंमें खड़ा हो जायगा तो खादीशास्त्रका आरम्भ समझिये। तमाम गांवोंमें जितनी भारी भूल होती है वह भी समझमें आ जायगी। और इसके अतिरिक्त खादीकार्य ग्रामोत्थान करनेकी दृष्टि भी प्राप्त होगी।

और एक बात जिससे समग्र दर्शन और स्पष्ट होगा। यह एक स्वतंत्र विषय भी है। आज-कल ग्राम प्रदेशमें मैं रेलमें अपना चरखा खोलकर कातने लगा। वैसे भी मेरी आंख कमजोर है उसमें फिर गाड़ीके धक्के लगते थे इसलिए धीरे-धीरे सम्भलकर कातनेपर भी थोड़ा-बहुत टूटता ही था। टूटते ही मैं अपने सिद्धान्तके अनुसार उसे फिर जोड़ लेता था। मेरी बगलमें एक सज्जन थे। बी० एस-सी० पास थे। बड़े ध्यानसे वे सारी बात निहार रहे थे। थोड़ा देर बाद बोले "कुछ पूछना चाहता हूं।" "पूछिये" मैंने कहा। वह बोले "आप टूटे हुए धागेको जोड़नेमें इतना वक्त खोते हैं, इससे उनको वैसे ही फेंक देना क्या आर्थिक दृष्टिसे लाभकारी नहीं होगा।" मैंने उनसे कहा "अर्थशास्त्र दो तरहका है। एक आर्थिक अथवा एकांगी और दूसरा परिपूर्ण। इनमेंसे एकांगी अर्थशास्त्रको छोड़कर परिपूर्ण अर्थशास्त्रकी कसौटीपर परखना ही उचित है।" वह बोले "दुरुस्त है।" तब मैंने उनसे पूछा "आप कहते हैं कि थोड़ा-सा टूटा हुआ सूत अगर बेकार चला जाय तो कोई हर्ज नहीं। लेकिन उसकी क्या मर्यादा हो? कितने प्रतिशत आप माफ फरमायेंगे?" उन्होंने कहा "पांच प्रतिशत तक माफ कर देनेमें हर्ज नहीं है।" तब मैंने कहा "पांच प्रतिशत क्योंकि टूट सकता है, फेंक देनेका क्या नतीजा होता है यह देखने लायक है। इसका यह मतलब है कि कातनेवाला इस तरह की गफलत करता है मानो बैठे-बैठे पांच एकड़की उपज को ही रद कर दिया है। मानो सौ कारखानोंमेंसे पांच कारखानोंको बेकार कर

देता है। काटनेवालाके लिए बनाई गई सौ हमारतोंको वह पाव गिरा देता है। हिसाबकी सौ बहियोंमेंसे पाव फाड़ देता है। इत्यादि इत्यादि।

इसके मुताबिक जिसने पाव प्रतिघातका न्याय स्वीकार कर लिया उसके सभी व्यवहारोंको वह नाश कर देगा। उससे होनेवाली हानि कितनी भयानक होगी यह समझना मुश्किल नहीं है। भोजनके वक्त अगर कोई थालीमें बहुत-सी जूठन छोड़कर उठ जाता है, तो हम उसे मस्ताना हुआ कहते हैं क्योंकि जूठन छोड़नेका यह मतलब है कि वह, किसानके बैलसे लेकर रसोई बनानेवाली मां तक सबकी मेहनतपर पानी फेर देता है। इसलिए जूठन छोड़नेसे मांका नाराज होना काफी नहीं है। हल चलानेवाले बैलको चाहिए कि वह उसे एक लात मारे और किसानसे लेकर दूसरे सब एक-एक चीज जमाय।

इसीलिए हरचीज सामग्रयकी दृष्टिसे देखनी चाहिए। इसीलिए भग वद्गीतामें ईश्वरके ज्ञानके पीछे 'समग्रम् समग्रम्' ये विशेषण लगाए गए हैं। हमारे खादीके आंदोलनमें समग्र-दर्शनकी बहुत जरूरत है। हम जब खादीको समग्र-दर्शनपूर्वक आगे बढ़ायेंगे तभी और केवल तभी वह व्यापक हो सकेगी। यह हमारी कसौटीका समय है।

३२
उद्योगमें ज्ञान-दृष्टि

मेरी दृष्टिसे हमारे विषयमें सबसे बड़ी जरूरत अगर किसी चीजकी है तो विज्ञानकी। हिंदुस्तान कृषिप्रधान देश भले ही कहलाता हो तो भी उसका उद्धार सिर्फ खेतीके भरोसे नहीं होगा। यूरोपीय राष्ट्र उद्योग-प्रधान कहलाते हैं। हिंदुस्तानमें खेती ही प्रधान व्यवसाय होते हुए भी यहां फी आदमी सवा एकड़ जमीन है। इसके विपरीत फ्रांसमें जो एक उद्योग प्रधान देश कहलाता है प्रति मनुष्य साढ़े तीन एकड़ जमीन है। इसपरसे

मालूम होगा कि हिंदुस्तानकी हालत इतनी बुरी है। इसका मतलब यह है कि हिंदुस्तानमें अकेली खेती ही होती है, और कुछ नहीं होता। अमरीका (संयुक्तराज्य) संसारका सबसे संपन्न देश है। उसमें खेती और उद्योग दोनों बहुत बड़े परिमाणमें चलते हैं। वह युद्ध के लिए रोज पचपन करोड़ रुपये खर्च कर रहा है। हमारे देशकी जनसंख्या चालीस करोड़ है। इतने लोगोंको हररोज भोजन देनेके लिए, यहांके हिसाब से प्रतिदिन पांच करोड़ रुपया खर्च लगेगा। अमरीका इतना धनवान देश है कि वह रोज इतना खर्च करता है कि उससे हिंदुस्तानको ग्यारह दिन भोजन दिया जा सकता है। हिंदुस्तानकी फी आदमी सालाना आमदनी खेतीसे पचास-साठ रुपये और उद्योगसे बारह रुपये है। इसलिए हिंदुस्तानको कृषि-प्रधान कहना पड़ता है। अब जरा इंग्लैंडकी तरफ नजर डालिये। वहां भी खेतीकी आमदनी यहां की ही तरह फी आदमी पचास-साठ रुपये सालाना होती है और उद्योगकी होती है पांचसौ बारह रुपये। इसपरसे आपको पता चलेगा कि हमारा देश कहां है। यह हालत बदल देनेके लिए हमारे यहांके विद्यार्थी शिक्षक और जनता सभीको उद्योगमें निपुण बन जाना चाहिए। उसके लिए उन्हें विज्ञान सीखना चाहिए।

(अ) हमारा रसोईघर हमारी प्रयोगशाला होनी चाहिए। वहां जो आदमी काम करता है, उसे किस खाद्य-पदार्थमें कितना उष्मांक कितना लोह कितना स्नेह है आदि सारी बातोंकी जानकारी होनी चाहिए। उसमें यह हिसाब करने की सामर्थ्य होनी चाहिए कि किस उमरके मनुष्यको किस कामके लिए कैसे आहारकी जरूरत होगी।

(आ) पाखानेको तो सभी जानते हैं। लेकिन स्कूलवालोंका काम इतनेसे नहीं चलेगा। 'मैलेका क्या उपयोग होता है? धूपकी किरणोंका उसपर क्या असर होता है। मैला अगर खुला पड़ा रहे तो उससे क्या नुकसान है? कौनसी बीमारियां पैदा होती हैं? जमीनको अगर उसका खाद दिया जाय तो उसकी उपज कितनी बढ़ती है? —आदि सारी बातों का शास्त्रीय ज्ञान हम हासिल करना चाहिए।

(इ) कोई लड़का बीमार हो जाता है। वह क्यों बीमार हुआ? बीमारी मुफ्तमें थोड़े ही आई है। तुमने उसे गिरहसे कुछ खर्च करके बुलाया

है। प्रतिलिपिकी तरह उसका ध्यान रखना चाहिए। वह क्यों आई, कैसे आई, आदि पूछना चाहिए। उसकी उपयुक्त पूजा और उपचार कैसे किया जाय यह सीखना चाहिए। जब वह आ ही गई है, तब उससे सारा ज्ञान ग्रहण कर लेना चाहिए। इसमें दिलचस्पीकी बात है। 'वह ज्ञानदाता रोग आया और गया, हम कोरे-के-कोरे रह गये!' यह दूसरेके साथ भले ही होता हो, हमारे साथ हरगिज नहीं होना चाहिए।

(ई) तुम यहां सूत कातते हो, खादी भी बना लेते हो। तुम्हें बधाई है। लेकिन खादी-क्रियाके बारेमें शास्त्रीय प्रश्नोंके जवाब यदि तुम न दे सके तो पाठशाला और उत्पत्ति-केंद्र यानी कारखानेमें फर्क ही क्या रहा? लेकिन मैं तो अपने कारखानेसे भी इस ज्ञानकी आशा रखूंगा।

मुझसे कहा गया है कि यहांके लड़के अंग्रेजी कक्षाकी परीक्षामें पास होते हैं, दूसरे विद्यालयोंके लड़कोंसे किसी तरह कम नहीं हैं, आदि आदि। लेकिन लड़के पास होते हैं, इसमें कौनसी बड़ी बात है। हमारे लड़के गधा थोड़े ही हैं? जरा विलायतके लड़कोंको इतिहास और सुबोध मराठीमें सिखाकर देखिये तो? देखें कितने पास होते हैं! कई साल पहले बड़ौदा-में एक साहब आया था। उसने गीताका पूरे बीस वर्ष तक अध्ययन किया था। यों उसने अच्छा भाषण दिया, परन्तु वह संस्कृतके वचनोंके उच्चारण ठीक नहीं कर सका। उसने कहा—

कुर कर्मेव तस्माद् त्वम्
(कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम)

बीस-बीस साल अध्ययन करनेपर भी उनका यह हाल है! हमारे यहां सैकड़ों आदमी उनकी भाषायें खूब बोल लेते हैं। लेकिन यह हमारी इस भूमिका ही गुण है, हजारों वर्षोंसे यहां विद्याकी उपासना होती आई है। यह कोई यहांके पाठकोंका गुण नहीं है। इसलिए अपनी भाषाके ज्ञानपर संतोष नहीं मानना चाहिए। हमें आरोग्यशास्त्र, रसायनशास्त्र, पदार्थविज्ञान, यंत्रशास्त्र आदि शास्त्र सीखने चाहिए। शास्त्रों और विज्ञानोंकी इस नामावलीको देखकर आप घबराइये नहीं। आप उन्हें उद्योगके साथ बड़ी आसानीसे सीख सकेंगे।

दो विद्याएं सीखना आवश्यक है, एक हमारे आस-पासकी चीजोंकी

करानेकी शक्ति अर्थात् विज्ञान। और दूसरी आत्मज्ञानपूर्वक संयम करनेकी शक्ति अर्थात् अध्यात्म। इसके लिए जीवन निमित्तमात्र भाषामें व्यक्त होती है। उसका उतना ही ज्ञान आवश्यक है। भाषा चिट्ठीरसाका काम करती है। अगर मैं चिट्ठीमें कुछ भी न लिखूं तो वह कोरा कागज भी चिट्ठीरसा पहुंचा देगा। भाषा विचारका वाहन है। यह भी कोई कम कीमती बात नहीं है। विज्ञान और अध्यात्म ही विद्या है। उसीका मैं विचार करूंगा। मेरा बरतन अगर टूट गया तो क्या मैं रोता बैठूंगा? मैं बढ़ईके पास जाकर उसे सुधरवा लूंगा। उसी तरह अगर मुझे बिच्छूने डंक मारा तो मुझे रोते नहीं बैठना चाहिए। उसका उपचार करके छुट्टी पानी चाहिए। इसी प्रकार आत्माको परिपूर्णताका ज्ञान होना चाहिए। उसकी मुझे प्राप्ति हो जानी चाहिए। यही मेरी आत्माकी परीक्षा होगी। मैं आसानीसे [illegible] विज्ञानमेंकी [illegible] नहीं पड़ता। [illegible] बोलचालसे ही मैं उसका भाषा-ज्ञान प्राप्त करूंगा।

विद्यार्थी भोजन करते हैं और दूसरे लोग भी भोजन करते हैं। लेकिन दोनोंके भोजनमें फर्क है। विद्यार्थियोंका भोजन ज्ञानमय होना चाहिए। जब विद्यार्थी [illegible] पीनेमें और [illegible] तो वह देखेगा कि उसमेंसे कितना खाकर निकलता है। मान लीजिए कि खेतमें आठ सेरे बोकर निकला। बाकी इस प्रतिमान [illegible] निकला। वह बहुत ज्यादा हुआ। दूसरे दिन वह पड़ोसीके यहां जाकर [illegible] बोकर देखेगा। वह देखता है कि उसके [illegible] [illegible] ही बाहर निकला है। इस प्रतिशत बोकर निकलनेमें क्या हुआ है? उसका बोकर अगर खेतमें आया तो नुकसान क्या होगा?—आदि प्रश्न उसके मनमें उठने चाहिए और उनके उचित उत्तर पा जाने चाहिए। जब ऐसा होगा तब जैसा कि गीतामें कहा है उसका हरेक काम ज्ञान-प्रधान होगा। [illegible] व्यवहार [illegible] वह ज्ञान दे जायगा। वह भी प्रमाण ही होगा कि [illegible] व्यवहार नहीं जानता। जहां हरेक काम इस तरह ज्ञान-दृष्टिसे किया जाता है वह पाठशाला है और जहां नहीं ज्ञान [illegible] जाता है वह कारखाना है।

इस प्रकार [illegible] ज्ञान-दृष्टिसे प्रत्येक काम करनेमें थोड़ा खर्च [illegible]। लेकिन उसमें उतनी कमाई भी होगी। स्कूलमें जो [illegible]

होगा वह बढ़िया होगा। चाहे जैसे करनेसे काम नहीं चलेगा। स्वल्पम काम चाहे थोड़ा कम भले ही हो लेकिन जो कुछ काम होगा वह आदर्श होगा। कपास तौलकर ली जायगी। उसमेंसे जितने बिनौले निकलेंगे वे भी तौल लिये जायंगे। रोजियामेंसे जब इतने बिनौले निकले तब इस-मेंसे इतने क्यों इस तरहका सवाल पूछा जायगा। और उसका जवाब भी दिया जायगा। बिनौला मटरके आकारका होकर भी दोनोंके वजनमें इतना फर्क क्यों? *बिनौलेमें तेल होता है, इसलिए वह हलका होता है।* फिर यह देखा जायगा कि इसी तरहके दूसरे बीज कौन-से हैं। इसके लिए तराजूकी जरूरत होगी। वह बाजारसे नहीं खरीदा जायगा। स्कूलमें ही बनाया जायगा। जब हम यह सब करलेंगे विचार करेंगे तभीसे विज्ञान शुरू हो जायगा। हरेक काम अगर इस ढंगसे किया जाय तो वह कितना मनोरंजक होगा? फिर उसे कौन भूलेगा। अकबर किस सन्‌में मरा यह रटनेकी क्या जरूरत है? वह तो मर गया लेकिन हमारी छातीपर *क्या सवार हुआ? मैं इतिहास रटनेको नहीं पैदा हुआ हूं। मैं तो इतिहास* बनानेके लिए पैदा हुआ हूं।

उद्योगकी दृष्टिसे हरेक चीज ज्ञान देनेवाली है। उदाहरणके लिए मैलेकी ही बात ले लीजिये। यह बहुत बड़ा विषय देता है। मैंने तो उसके बारेमें एक श्लोक ही बना डाला है 'प्रभाते मलदर्शनम्' (सबेरे मैलेका दर्शन करो)। सबेरे मैलके दर्शनसे मनुष्यको अपने स्वास्थ्य की स्थितिका पता चलता है। मैलमें अगर मूंगफलीके टुकड़े हों तो वे पटपट पिछले दिन *किये हुए अत्याचार तथा अपचनका ज्ञान और भान करायेंगे।* उसके अनुसार हम अपने आहार विहारमें फर्क कर लेंगे। आप चाहे कितनी ही सावधानी और सफाईसे रहिये आखिर मैला तो पैदा हो रहेगा। सबेरे उसके अवलोकनसे देहासक्ति कम होगी और वैराग्य पैदा होगा। मां बालोंमें जिस तरह बच्चोंके बालोंमें ढूंढती है उसका कोई भी पल सूना नहीं रहने देती उसी तरह हम भी अपनी सावधानीसे पूरी निगरानी रख मैलेको ढक दें और यथासमय उसे खेतमें फैला दें तो वही मैला हमारी लक्ष्मीको बढ़ायगा।

इसी तरह पाठशालामें प्रत्येक काम ज्ञानदायी और व्यवस्थित होगा।

भटका बैठेगा तो सीधा बैठेगा। अगर मकानका मुख्य खंभा ही टूटा हुआ हो तो क्या वह मकान खड़ा रह सकेगा? नहीं। उसी तरह हम भी अपने मेरु-दण्डको हमेशा सीधा रखना चाहिए। पाठशालाओंमें यदि इस प्रकारसे काम होगा तो देखते-देखते राष्ट्रकी कायापलट हो जायगी। उसका कुछ-कुछ असर आपपर जरूर बालकों प्रजा फैलेगी।

स्वच्छ होनेवाला प्रत्येक काम बालकका साधन बन जाना चाहिए। इसके लिए स्वच्छताको बढ़ाना होगा। अच्छे अच्छे साधन जुटाने होंगे। श्रीरामदास स्वामीने कहा है 'देवताका वैभव बढ़ाओ।' लोगोंको अपने घर सजानेके बदले पाठशाला सजानेका शौक होना चाहिए। वहाँ बालकोंकी आवश्यक चीजें उपलब्ध करा देनी चाहिए। लेकिन इतना ही बस नहीं है। पैसा धनवान मिल जाता है और कहता है, 'मैंने इस शालाको इतनी सहायता दी।' लेकिन अपने लड़कोंको किस स्कूलमें भेजता है?— सरकारी स्कूलमें। सो क्यों? अगर आप राष्ट्रीय पाठशालाओंको अपने योग्य मानते हैं तो क्यों उन शालाओंको सम्पन्न और सुशोभित करके अपने लड़कोंको वहीं क्यों नहीं भेजते?

लड़के राष्ट्रके धन हैं। लेकिन उनके पोषणमें न दूध है, न घी! घी बालकोंका मासिक भोजन-खर्च ढाई रुपये है! इसे क्या कहा जाय? हम सारे राष्ट्रकी अवस्थाको भूल नहीं सकते यह तो माना। लेकिन फिर भी इतना कम-से-कम जरूरी है उतना तो मिलना ही चाहिए। पिछले दिनोंमें यह शिकायत थी कि जेलमें कैदियोंको उचित खुराक नहीं मिलती दूध नहीं मिलता। गांधीजीकी सूचनासे बाहरके डाक्टरोंने यह तय किया कि निरामिषभोजी व्यक्तिके लिए कम-से-कम कितने दूधकी जरूरत है। उनके नियमके अनुसार हरेक व्यक्तिको कम-से-कम तीस तोले दूध मिलना चाहिए और सरकार अगर कैदियोंको रखती है तो उसे उनकी कम-से-कम आवश्यकता पूरी करनी ही चाहिए। लेकिन अगर हम अपने विद्यालयोंमें ही इस नियमपर अमल नहीं करेंगे तो सरकारसे आशा करना नाहक होगा। देना लड़कोंको दूध मिलना ही चाहिए। उन्हें अच्छा अन्न मिलना ही चाहिए वरना उनमें तेज नहीं पैदा होगा।

३४

गो-सेवाका रहस्य

गो-सेवाका प्रथम पाठ हमें वैदिक ऋषि-मुनियोंने सिखाया और समझाया है। कुछ लोगोंका कहना है कि गो-सेवाका पाठ पढ़ाकर ऋषियोंने हममें अनुचित पूजाके भाव पैदा किये हैं। ऐसी पशु-पूजा वैज्ञानिक नहीं है। वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। जिस तरह हम उपयोग की दृष्टिसे विचार करते हैं, उसी तरह सीधे उपयोगकी दृष्टिसे ऋषि-मुनियोंनेभी विचार किया। उसी दृष्टिसे उन्होंने बतलाया है कि हिंदुस्तानके लिए गो-सेवा मुफीद है। इसलिए वही धर्म हो सकता है। तब हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम गायका जितना हो सकता हो उतना उपयोग करें। वेदका वचन है—

सहस्रधारा पयसा मही गौः।

ऐसी गाय जिससे कि हजार धाराएं रोज पैदा होती हों। आप समझ सकते हैं कि दूधकी एक धारा कितनी होती है। हिसाब करनेपर मालूम होगा कि वैदिक गायका दूध चालीस-पचास रतल होता था। इसपरसे आप समझ लेंगे कि उनकी मंशा क्या थी और गायोंसे वे क्या अपेक्षा रखते थे। आजकल गायका दूध नहीं मिलता ऐसी शिकायतें आती हैं। वैदिक ऋषियोंने गो-सेवाकी दिशा भी बतलाई है।

अक्सर सुना जाता है कि दूध तो गायमें ज्यों-त्यों मिल सकता है, परन्तु घीके लिए तो भैंसकी शरण लेनी पड़ती। लेकिन हमारे प्राचीन वैदिक ऋषि यह नहीं मानते। वे कहते हैं—

पूर्ण गावो मेदसा वर्धा चित्।

हे गायो जिनका शरीर (स्नेहके अभावसे) कृश बना हो उन्हें तुम अपने मेदसे भर देती हो। यहां मेदसा यानी चरबी शब्द का इस्तेमाल किया गया है। मेद कहते हैं चरबीको, स्नेहको जिसे हम 'घी' कहते हैं। इसका मतलब यह है कि दुबले-पतलेको मोटा-ताजा बनाने लायक चरबी गायके दूधमें पर्याप्त मात्रामें होनी चाहिए और अगर आज गायके दूधमें

गौकी माता कम मालूम होती है तो उसे बढ़ाना हमारा काम है। यह कसूर गायका नहीं बल्कि हमारी कोशिशका है।

उसकी पुष्टिमें उन्होंने गायका वर्णन यों किया है—

अधीरं चित् वपुषा सुप्रतीकम्।

जो शरीर से अ-धीर है उसे गाय धीर बनाती है। 'धीर' का अर्थ शोभन है और 'अधीर' का अर्थ 'शोभाहीन'। 'अधीर' से ही 'अश्लील' शब्द बना है। इसपरसे आप समझेंगे कि हमको गो-सेवाका पहला पाठ वैदिक ऋषियोंने पढ़ाया है, उसके विकासकी दिशा भी बतला दी है और वह दिशा अनुचित भावुकताकी नहीं बल्कि शुद्ध वैज्ञानिकताकी है। यानी परम उपयोगिता की है।

सेवामें मतलब उपयोगहीन सेवा नहीं है। उपयोगके साथ-साथ उपयोगी जानवरकी यथासम्भव अधिक-से-अधिक सेवा करना ही उसका अर्थ है। उसका यह भाव है कि उपयोगी जानवरको हम अधिकाधिक उपयोगी बनाना है और इसी तरह हम उसकी अधिक-से अधिक सेवा कर सकते हैं जैसाकि हम अपने काम अपने निजके लिए करते हैं। इस तरह हमारे लिए सेवाका उपयोग मात्र निजी मतलब है। अब मैं जरा और आगे बढ़ता। जैसे हम उपयोगहीन सेवा नहीं कर सकते वैसे ही सेवा-हीन उपयोग भी हमें नहीं करना चाहिए। गो-सेवा शब्दमें 'सेवा' शब्दका यही अर्थ है। यानी

था। इसलिए वह भी दूध नहीं पी सका होगा। निदान नामदेवने पूछा "किसीने उसे मारा-पीटा तो नहीं?" एकने कहा "हां मारा तो था।" नामदेवने कहा "बस तो वह इसीलिए दूध नहीं देती।" फिर नामदेव गायके पास पहुंचा उसने उसके शरीरपर हाथ फेरा उसे पुचकारा। तब गाय खुश होके बाद दूध देनेके लिए तैयार होगई। यह किस्सा इसलिए कहा कि हमें समझना चाहिए कि जब हम नामदेवकी तरह सेवा करेंगे तो उसीसे गो-सेवाका रहस्य धीरे धीरे स्पष्ट हो जायगा और गो-सेवाका शास्त्र बनेगा।

कालिदासने जो कि हिंदू संस्कृतिका अनुपम प्रतिनिधि है हमारे सामने उस सेवाका कितना सुन्दर आदर्श पेश किया है! महाराज दिलीप ऋषिके आश्रम रहनेको जाता है। यद्यपि उसे गायकी सेवाका काम रहते है क्योंकि आश्रममें कोई बिना सेवाके रह ही नहीं सकता। आश्रम तो सेवाकी ही भूमि है। हां तो वह गो-सेवाका काम कितनी लगनसे करता है? उसकी कैसी सेवा-टहल करता है? उसके पीछे-पीछे कैसे रहता है?—स्वयं कवि रघुवंशमें एक श्लोकमें यों कहता है—

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां
निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां
छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥

शरीरकी छायाकी नाईं राजा गायका अनुचर बन गया था। जब वह गाय खड़ी होती थी तब वह भी खड़ा हो जाता था। जब वह चलती तो वह भी चलता वह बैठ जाती तब वह बैठता वह पानी पीती तभी वह भी पानी पीता गायको खिलाये-पिलाये बिना कुछ नहीं खाता-पीता था।

गाय एक उदार प्राणी है। वह हमारी सेवा और प्रेमको पहचानती है और अधिक-से अधिक लाभ देनेके लिए तैयार रहती है। 'सेवा' शब्दका दोहन करके मैंने यह दूध आपके सामने रख दिया है। एक तो हम बिना उपयोगके किसीकी सेवा नहीं कर सकते और दूसरे सेवा किये बिना यदि हम उपयोग करेंगे तो वह भी गुनाह होगा। हमें यह दुर्व्यवहार नहीं करना है।

यह एक बात और। गाय और भैंसके विषयमें बहुत-कुछ कहा गया है।

दोनों मनुष्योंको दूध देनेवाले जानवर हैं। दोनोंमें कोई मौलिक विरोध तो नहीं होना चाहिए। फिर भी हम गायका ही दूध बरतनेकी प्रतिज्ञा लेते हैं तो उसका तत्त्व हम लोगोंको जान लेना चाहिए। हिंदुस्तानका कृषि-देवता बैल है। और यह तो सब जानते ही हैं कि हिंदुस्तान कृषि प्रधान देश है। बैल तो हमें गायके द्वारा ही मिलता है। यही गायकी विशेषता है। उसके साथ-साथ गायकी अन्य उपयोगिता हम जितनी बढ़ा सकते हैं जरूर बढ़ायें। लेकिन उसका मुख्य उपयोग तो बैलकी जननीके नाते है। बिना बैलके हमारी खेती नहीं होगी। इसलिए हमें गायकी तरफ विशेष ध्यान देना चाहिए और उसकी सार-सम्हाल करनी चाहिए। ऐसा अगर हम नहीं करते तो हिंदुस्तानकी खेतीका भारी नुकसान करते हैं। जब हम इस दृष्टिसे सोचते हैं तो भैंसका मामला सुलझ जाता है और यह सहज ही समझमें आ जाता है कि गायको ही प्रोत्साहन देना हमारा प्रथम कर्तव्य हो जाता है।

मुझे याद आता है एक बार मेरे एक मित्रने उनके ग्राम प्रवासके समय जानवर किस ढंगसे मरे उसका हाल सुनाया था। उन्होंने कहा सबसे पहले भैंसा मरता है क्योंकि हम भैंसेकी उपेक्षा करके उसे मार डालते या मरने देते हैं। जबकि बाजारमें भैंसें ऐसी अवस्थामें लाई जाती हैं जबकि वे एक-दो दिनमें ही ब्यानेको होती हैं। हेतु यह होता है कि लोग उन्हें तुरन्त खरीद लें। एक बार एक आदमी ऐसी एक भैंस बाजारको ला रहा था। उसी समय मनोहरजीने जोकि उन दिनों देशसेवी थे महारोगी सेवा-मण्डल द्वारा महारोगियोंकी सेवा करते थे उसे देखा। रास्तेमें ही वह भैंस ब्यायी—पुत्र जन्म हो गया। लेकिन उस आदमीको उस पुत्रजन्मसे बड़ी झुंझलाहट हुई। उसने सोचा यह पुत्र कैसा? यह तो एक बला आ गई। मनुष्यको तो पुत्र जन्मसे आनन्द होता है लेकिन भैंसके पुत्रको वह सहन नहीं करता। उसने उस पुत्रको वहीं छोड़ दिया और भैंसको दबाकर जबकि बाजारमें बेच दिया और जो पुत्र छोड़ दिया था वह लेकर अपने घर चलता बना बेचारा भैंस-पुत्र वहीं पड़ा रहा। मनोहरजी तो थे दयालु ठहरे। फिर वे सोचे कि अब इसका क्या किया जाय। जिस कैंपमें वह रहते थे उस केन्द्रके बालिकाके पास गये और उनसे पूछा "बोला इसको अपनाओगे?" बालिकाने कहा "यह क्या करेगा आगे? मैं इसको कैसे रखूं?" आखिर उसका जवाब ही

क्या है ? मैं उसकी परवरिश क्यों करूं ? उसको आखिर कसाईके घर कत्ल होनेके लिए ही बेचना होगा। इसके सिवा और दूसरा कोई रास्ता नहीं है।

मैंने यह एक नित्यकी घटना आपके सामने रखी। तो, सबसे पहले बेचारा भैंसा मरता है। फिर उसके बाद गाय मरती है। उसके पश्चात भैंस मरती है और सबसे अखिरमें बैल। बैल सबसे उपयोगी है और इसी-लिए उसकी हिफाजत करनेकी विशेष कोशिश की जाती है। लोग किसी-न-किसी तरह उसको खिलाते रहते हैं और उसे खिलानेकी कोशिश करते हैं। यह तो हुई उपयोगिताकी बात। बैल इनसब जानवरोंमें सबसे ज्यादा उपयोगी तो साबित हुआ। लेकिन सवाल यह है कि गायकी सेवाके बिना अच्छे बैल कहांसे आयेंगे ? हिन्दुस्तानका आदमी बैल तो चाहता है लेकिन गायकी सेवा करना नहीं चाहता। वह उसे धार्मिक दृष्टिसे पूजनेका स्थान रखता है। दूधके लिए भैंसको कष्ट करता है। भैंस और गाय दोनोंका पालन हिन्दुस्तानके लिए आज-बड़ी मुश्किल बात हो गई है।

लेकिन हम यह समझ लेना चाहिए कि गो-सेवामें गायकी ही सेवाको महत्व देना पड़ता है। बापूने कहा कि अगर हम गायको बचा लेंगे तो भैंस-का भी मामला तय हो जायगा। इसका पूर्ण वर्णन तो अभी मुझे भी नहीं हुआ है और शायद उसकी अभी जरूरत भी नहीं है।

गाय और भैंसको एक-दूसरेका विरोधी माननेकी जरूरत नहीं है। लेकिन हम तो गो-सेवासे आरम्भ कर देना है और यही हो भी सकता है। हमें समझना चाहिए कि आज हम दरअसल भैंसकी सेवा भी नहीं करते। आज हम जो भैंसकी सेवा करते हैं, वह दरअसल न तो गो-सेवा है और न भैंसकी सेवा ही है। हम उसमें केवल अपना स्वार्थ देखते हैं। हम भैंसका केवल सेवाहीन उपयोग करते हैं। जिस प्रकार उपयोग-हीन सेवा हम नहीं कर सकते उसी प्रकार सेवा-हीन उपयोग भी हमें नहीं करना है।

जैसाकि मैं बता चुका हूं आज भैंसेकी हर तरहसे उपेक्षा की जाती है। वस्तुस्थिति यह है कि हिंदुस्तानके कुछ भागोंमें भैंसेका उपयोग भले ही किया जाता हो लेकिन साधारणतः हिंदुस्तानकी गरम हवामें भैंसा ज्यादा उपयोगी नहीं हो सकता भैंसका हम केवल लोभसे पालन कर रहे हैं। नागपुर-बरारमें

गरमियोंमें गर्मीका मान एकसौ पांच तक चला जाता है। खासकर उन दिनोंमें भैंसको पानी जरूर चाहिए। मगर यहां तो पानीकी कमी है। पानीके बगैर उसको बेहद तकलीफ होती है क्योंकि भैंस पूरी तरह जमीनका जान-वर नहीं है। वह आधा जमीनका और आधा पानीका प्राणी है। गाय तो पूरी तरह थलचर है। और अक्सर देखा जाता है कि जो पानीवाला जान-वर हो उसके शरीरमें स्वभावसे चरबीकी अधिकता रहती है, क्योंकि ठंड और पानीसे बचनेके लिए उसको उसे जरूरत होती है। मछलीके शरीरमें स्नेह भरा हुआ रहता है। पानीके बाहर निकालते ही वह धूपके तापसे मर जाती है। वैसी ही कुछ-कुछ हालत भैंसकी भी है। उसे धूप बरदाश्त नहीं होती। इसीलिए लोग गर्मीके दिनोंमें उसीके मलमूत्रका उसकी पीठपर लेप करते हैं ताकि कुछ ठंडक रहे। वे जानते हैं कि उस जानवरको उस समय कितनी तकलीफ होती है। देहातोंमें जाकर आप लोगोंसे पूछेंगे कि आपके गांवमें कितनी भैंस और कितने पाड़े हैं तो वे कहेंगे कि भैंसें हैं करीब सौ-डेढ़सौ और पाड़े हैं कुल दस या बहुत तो बीस। अगर हम उनसे पूछें कि इन स्त्री-पुरुषों या नर-मादाओंकी संख्यामें इतनी विषमता क्यों है तो हमारे देहातोंके लोग जवाब देंगे "क्या करें? भगवान्‌की करतूत ही ऐसी है कि भैंसा ज्यादा दिन जीता ही नहीं।" आखिर यहां भी भगवान्‌की करतूत था ही नहीं! यह हमारे बुद्धिनाशका लक्षण है। हम उसकी तक-लीफका ध्यान न रखते हुए भैंसेका उपयोग करते हैं कि भैंसे जिंदा ही नहीं रहते और नहीं रहेंगे। मतलब हम भैंसकी सेवा करते हैं ऐसी बात नहीं है। उसमें हम सिर्फ भैंसका उपयोग ही करते हैं। बाकी उसकी सेवा कुछ भी नहीं करते। इसलिए आपकी समझमें आ गया होगा कि सेवा-संघकी स्थापना हम किसलिए करते हैं।

अन्य लोग पूछते हैं कि हिंदुस्तान एक कृषि-प्रधान देश है, इसलिए खेती-के वास्ते बैल चाहिए और बैल चाहिए तो गाय भी चाहिए, इत्यादि विचार अभी तो ठीक है मगर क्या हिंदुस्तानका यही एक अर्थशास्त्र हो सकता है? क्या दूसरा कोई अर्थशास्त्र हो ही नहीं सकता? समय आनेपर हम खेतीका काम ट्रैक्टरसे क्यों न करें?

उसके जवाबमें मैं यह पूछता हूं कि ट्रैक्टर चलानेसे तो बैलका क्या

होगा ? जवाब मिलता है "बैलको हिंदुस्तानके लोग खा जायं। हिंदुस्तानके लोग दूसरे कई जानवरोंका मांस बराबर खाते हैं। उसी तरह बैलका मांस भी खा सकते हैं। यह रास्ता क्यों न अपना लिया जाय ?" इस तरह जब बैलोंके खा जानेकी व्यवस्था होगी तभी ट्रैक्टर द्वारा जमीनको जोतनेकी योजना हो सकती है। कहा जाता है कि बैलों को अगर हिंदू नहीं खायेंगे तो गैर-हिंदू खायं। आज भी हिंदू गायको बेचते ही हैं। खुद तो कसाईसे पैसा लेते हैं और गो-हत्याका पाप उसे दे देते हैं। ऐसी सुंदर आर्थिक व्यवस्था उन्होंने अपने लिए बना ली है ? वह कहता है कि अगर मैं कसाई को गाय मुफ्तमें देता तो गो-हत्याके पापका भागी होता। लेकिन मैं तो उसे बेच देता हूं—इसलिए पापका हिस्सेदार नहीं बनता। उस व्यवस्थाको आगे बढ़ायेंगे तो सब ठीक हो जायगा। हम भैंससे दूध लेंगे, बैलोंको खा जायंगे और यंत्रोंके द्वारा खेती करेंगे—इस तरह तीनोंका सवाल हल हो जायगा।

इसके जवाबमें मैं आप लोगोंको यह समझाना चाहता हूं कि बैलोंको क्यों नहीं खाना चाहिए ? पूर्वपक्षकी दलील यह है कि कुछ पूर्वग्रह-दूषित (प्रेज्युडिस्ड) लोग बैलका मांस ही न खायं, लेकिन बाकीके तो खायेंगे और हम यंत्रके द्वारा अच्छेसे खेती करेंगे। इस विषयमें हमारे विचार साफ होने चाहिए। मैं मानता हूं कि हिंदुस्तानकी आजकी जो हालत है और आगे उसकी जो हालत होनेवाली है उस हालतमें अगर हम मांसका प्रचार करेंगे और यंत्रसे खेती करेंगे तो हिंदुस्तान और हम जिंदा नहीं रह सकेंगे। यह समझनेकी जरूरत है। हिंदुस्तानके लोग भी अगर गाय-बैल खाने लगेंगे तो कितने प्राणियोंकी जरूरत होगी ? उतने बैलोंकी पैदाइश हम यहां नहीं कर सकेंगे। सिर्फ मांस या गोश्त खानेका लोप तो नहीं करना है। मांस अगर खाना है तो वह हमारे भोजनका नियमित हिस्सा होना चाहिए। तभी तो उससे अपेक्षित लाभ होगा। लेकिन हम जानते हैं कि लोग खा लें इतने बैल पैदा नहीं हो सकते। अगर हम इस तरह करने लगे और खेती ट्रैक्टरके द्वारा होने लगी तो ट्रैक्टरका खर्च बढ़ेगा और गोश्त भी पूरा नहीं पड़ेगा और आखिरमें गाय और बैलका वंश ही नष्ट हो जायगा और उसके साथ मनुष्य भी।

यूरोप और अमरीकाकी क्या स्थिति है ? दक्षिण अमरीकाके अर्जेन्टा

इसके बदलेमें ब्यूलाक-मायरिसम राज करीब-करीब दस हजार बैल मरते हैं और वहांसे मांसके पीपे दूर-दूरके देशोंमें भेजे जाते हैं। अब तो यह व्यवस्था पुरानेके कामकी नहीं रही। लेकिन वैसे भी अगर यह सिलसिला जारी रहा तो आगे चलकर लोगोंको गोश्त मिलना कठिन हो जायगा। इसलिए यूरोपके डाक्टरोंने अब यह खोज की है और बहुत सोच-विचारकर निर्णय किया है—शायद ही इसमें मतभेद होगा क्योंकि डाक्टरोंमें मतभेद तो हुआ ही करता है—कि मांसके मुकाबलेमें दूधमें गुण अधिक हैं। यह खोज हमारे आयुर्वेदिक वैद्यों और हकीमोंने बहुत पहले की है। मैं मानता हूं कि आज यूरोपके लोग जिस तरह मांसाहार करते हैं उसी तरह हिंदुस्तान-के लोग भी पुराने जमानेमें मांसाहार करते थे। आखिर वे इस नतीजेपर पहुंचे कि अगर हम मांसके बजाय दूधका व्यवहार करेंगे तो हम भी जिंदा रहेंगे और जानवर भी जिंदा रहेंगे। इसलिए ट्रैक्टरका उपयोग हमारा सवाल हल नहीं कर सकता और हमें यह समझना चाहिए कि गोश्तके बजाय दूधपर भरोसा रखना एक तरहसे लाजिमी होगा।

मेरी यह भविष्यवाणी है कि जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती जायगी वैसे-वैसे दुनियामें गोमांसकी महिमा कम होगी और दूधकी बढ़ेगी। पूछा जाता है कि आखिर दूध भी तो प्राणिजन्य वस्तु है? हां है तो सही। फिर दूधको पवित्र क्यों माना गया? उसका जवाब अभी मैंने जो कुछ कहा उसीमें मिल सकता है। जैसाकि अभी मैंने कहा, एक समय था जब कि हिंदुस्तानमें मांसाहार ही चलता था। उस वक्त उसमेंसे बचनेके लिए क्या किया जाय यह सवाल उत्पन्न हुआ। योगियों और वैद्योंने जब लोगोंके सामने मांसकी जगह दूधकी महिमा रखी तब दूध ऐसी चीज होगई जिसने लोगोंको मांसाहारसे छुड़ाया। इसलिए दूध पवित्र माना गया। इसके सबूत ग्रन्थमें करीब मिल सकते हैं। उपनिषदमें यह वचन पाया जाता है।

गोभिर्यज्ञेन प्रयान्ति पूर्वे,
यजन्ति दुग्धे पुरुषा विशालाम्।

इस वचनका अर्थ मैंने स्पष्ट किया है— यज्ञको जो हम गायके द्वारा सिद्ध करते हैं। लेकिन अगर धर्मका यह बात दुर्भाग्यसे मैं जानेवाली दुनिया समझ सकती तो जानवरोंकी अहिंसा गायके दूधके द्वारा

ही हम निवारण कर सकते हैं। सब तरहकी अशुद्धि मिटानेके लिए और उसमेंसे बाहर निकालनेके लिए गायका दूध हमारे काम आता है। इसीलिए गायका दूध पवित्र माना गया है। मतलब यह कि कुछ मिला कर यंत्रवादी जो ट्रैक्टरपर आधार रखनेकी बात कहते हैं, वह गलत है।

३५

भिक्षा

मनुष्यकी जीविकाके तीन प्रकार होते हैं (१) भिक्षा (२) धंधा और (३) चोरी।

भिक्षा अर्थात् समाजकी अधिक-से-अधिक सेवा करके समाजसे सिर्फ शरीर-धारण भरको कम-से-कम लेना और वह भी विनम्र होकर और उपकृत भावसे।

धंधा अर्थात् समाजकी विशिष्ट सेवा करके उसका उचित बदला मांग लेना।

चोरी अर्थात् समाजकी कम-से-कम सेवा करके या सेवा करनेका नाटक करके या बिल्कुल सेवा किये बिना और कभी-कभी तो प्रत्यक्ष नुकसान करके भी समाजसे ज्यादा-से-ज्यादा भोग लेना।

प्रत्यक्ष चोर-लुटेरे, खूनी और इन्हीं-जैसे वे 'व्यवस्थापक' पुलिस सैनिक हाकिम वगैरा सरकारी कानूनी सहायक व्यवस्थाके बाहरके वकील वैद्य शिक्षक धर्मोपदेशक वगैरा उच्च-उद्योगी और अन्यायपूर्ण व्यापार करनेवाले — ये सब तीसरे वर्गमें आते हैं।

मातृभूमिपर मेहनत करनेवाले किसान और जीवनकी प्राथमिक आवश्यकताएं पूरी करनेवाले मजदूर, ये दूसरे वर्गमें आनेके अभिलाषी हैं पानेवाले नहीं। कारण उनकी उचित पारिश्रमिक पानेकी इच्छा होते हु

भी तीसरे वर्गकी करतूतके कारण आज उत्पादक मजदूरोंको उचित पारिश्रमिक नहीं मिलता और वे निरुपाय होकर तीसरे वर्गमें दाखिल हो जाते हैं।

पहले वर्गमें दाखिल हो सकनेवाले बहुत ही थोड़े सच्चे मानीमें साधु पुरुष हैं। बहुत ही थोड़े हैं पर हैं, और उन्हींके बलपर दुनिया टिकी है। वे थोड़े हैं पर उनका बल अद्भुत है।

'भिक्षावृत्तिका लोप हो रहा है, उसका पुनरुद्धार होना चाहिए।" जब समर्थ यह कहते हैं तो उनका उद्देश्य इसी पहले वर्गको बढ़ाना है।

इसीको गीतामें 'यज्ञ-शिष्ट' अमृत खाना कहा है, और गीताका आश्वासन है कि यह अमृत खानेवाला पुरुष मुक्त हो जाता है।

आज हिन्दुस्तानमें लाखों 'भीख मांगनेवाले' हैं। समर्थके समयमें भी बहुत भिक्षुक थे फिर भी भिक्षा-वृत्तिका जीर्णोद्धार करनेकी जरूरत समर्थको क्यों जान पड़ी?

इसका जवाब भिक्षाकी व्याख्यामें है। आजकल आमतौरपर भिक्षाका जो अर्थ है वह तो चोरीका ही एक प्रकार है।

भिक्षाका मतलब है शक्ति-भर शारीरिक परिश्रम और कम-से-कम लेना। इतना भी न लिया होता पर शरीर-निर्वाह नहीं होता इसलिए उतने भरके लिए लेना पड़ता है पर हक मानकर नहीं। समाजका उपकार मानकर यह उपकार है इस भावनासे। भिक्षामें परावलम्बन नहीं है, ईश्वरावलम्बन है, समाजकी सद्भावनापर श्रद्धा है, यथालाभ सन्तोष है, कर्तव्यपरायणता है, फलनिरपेक्ष वृत्तिका प्रयत्न है।

आज-कल शरीर-मजदूरी एक सामाजिक कार्य समझना चाहिए। विशिष्ट सामाजिक कामके लिए यदि किसीको कोई निश्चित रकम दी जाय तो उस रकमका विनियोग उचित रीतिसे हिसाब रखकर, उसी कार्यके लिए वह करता है। मैं यह मानता हूँ इसलिए मेरा शरीरधारण कार्य भी सामाजिक कार्य है ऐसा समझकर उसके लिए मुझे, आवश्यकतानुसार समाज देता है। उस रकमका उपयोग मुझे उसी कामसे करना चाहिए, उचित समय करना चाहिए उसका हिसाब रखना चाहिए, और वह हिसाब समाजके जांचनेके लिए खुला रखना चाहिए। अर्थात् सब दृष्टिसे एक तप

जैसी संचालन-व्यवस्था करेगा वैसे 'निर्मम' भावनासे मुझे अपने शरीरकी संचालन-व्यवस्था करनी चाहिए। यह भिक्षावृत्ति है।

कुछ भक्तोंको कहते सुना जाता है—अपने पैसेको हम चाहे जैसे खर्च करें, सामाजिक पैसेका हिसाब ठीक रखेंगे, साथियोंको दिखायेंगे, उनसे आलोचना चाहेंगे, उन्हें होगा तो उत्तर देंगे, नहीं तो क्षमा मांगेंगे। पर हमारे अपने पैसेका हिसाब ठीक रखनेको हम बंधे नहीं हैं, और दिखानेकी तो बात ही नहीं। यदि सफाईसे व्यवस्था करनेवाला कोई आदमी यह कहे तो उसकी सेवा 'पेशा' बन गई। पेशा ईमानदार सही, पर है 'पेशा', भिक्षावृत्ति नहीं।

भिक्षा कहती है—'तेरा' पैसा कैसा? जैसे खादीके कामके लिए खादीका खाता मानकर तुझे पैसा सौंपा गया, उसी तरह तेरे शरीरके कामके लिए तुझे उसका खाता समझकर, पैसा दिया गया। खादीके लिए दिया हुआ पैसा जब तेरा नहीं है, तब तेरे शरीरके लिए दिया हुआ पैसा तेरा कैसे हुआ? दोनों काम सामाजिक ही हैं।

एक खादी प्रचारकसे पूछा गया, "तुम्हें कितनेकी जरूरत है?"

"तीस रुपये महीनेकी।"

"तुम तो अकेले हो। फिर इतनेकी जरूरत क्यों है?"

"दो-तीन गरीब विद्यार्थियोंको मदद देता हूं।"

"हम यह मान लेते हैं कि गरीब विद्यार्थियोंको इस तरह मदद देना अनुचित नहीं है। पर मान लो कि खादीके कामके लिए तुम्हें पैसे दिये गए तो उसमेंसे राष्ट्रीय शिक्षाके काममें लगाओगे क्या?"

"ऐसा तो नहीं किया जा सकता।"

"तब तुम्हारे शरीरका पोषण, जो एक सामाजिक काम है, उसके लिए तुम्हें दी गई रकममेंसे गरीब विद्यार्थियोंको मदद देना, जो दूसरा सामाजिक काम है, इसका करनेका क्या मतलब?"

यह भी भिक्षा-वृत्तिका महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। भिक्षा-वृत्तिवाले मनुष्यको दानका अधिकार नहीं है। दान हो या भोग, दोनोंका कर्ता 'मैं' ही हूं। और भिक्षामें 'मैं' को जगह ही नहीं है। इसीसे दानका नहीं। न भोगका पक्ष, न त्यागका पक्ष—यह भिक्षावृत्तिका मर्म है। भिक्षावृत्तिके मानी हैं, 'पर

यज्ञ करना' यानी जिम्मेवारी सिरपर लेना। भिक्षा गैरजिम्मेवारी नहीं है।

भिक्षा मांगनेके मानी है, 'मांगना छोड़ देना।' बाइबिलमें कहा है, 'मांगो तो मिल जायगा।' उसका मतलब है भगवानसे मांगो तो मिलेगा। पर समाजसे 'मांगो मत तो मिलेगा।'

'भिक्षा मांगना' ये शब्द विसंवादी हैं। कारण भिक्षाके मानी ही है न मांगना। 'भिक्षा मांगना' शब्द पुनरुक्त है क्योंकि भिक्षा ही स्वतः सिद्ध मांगना है। भिक्षा मांगनी नहीं पड़ती। कर्तव्यकी कसौटीसे अधिकार पड़े ही हैं।

२६

युवकोंसे

तुम्हारे खेल देखकर आनन्द हुआ। देशका भविष्य तुम बाल-गोपालोंके हाथमें है। तुमने जो खेल दिखाये हैं वह किसलिए हैं? शक्ति प्राप्त करनेके लिए हैं। शक्ति किसलिए। गरीब लोगोंकी रक्षाके लिए। इसलिए कि गरीबोंके लिए हम उपयोगी हो सकें। शरीर निभानेके लिए तपस्या करना है। व्यायाम बार किसलिए लगाई जाती है? इसलिए नहीं कि वह बड़ा-बड़ा बन जाय बल्कि इसलिए कि वह काम आ सके। शरीरमें धार लगानी है उसे फुर्तीला चपल और मजबूत बनाना है। उद्देश्य यह है कि आगे चलकर हम हनुमानके समान सिद्ध बनें। बल सेवाके लिए है।

गीतामें श्रीभगवानने कहा है, 'बलं बलवतामस्मि कामराग-विवर्जितम्।' (बलवानोंमें मैं वैराग्य-युक्त निष्काम बल हूं।) शब्दोंपर खूब ध्यान दो। सिर्फ 'बल' नहीं कहा। वैराग्य युक्त निष्काम बल। इस वैराग्य युक्त निष्काम बलकी ही मूर्ति हम व्यायामशालाओंमें रखा करते हैं।

यह कौन-सी मूर्ति है—हनुमानजीकी पवित्र और सामर्थ्यवान् मूर्ति।

हनुमानजी वैराग्य-युक्त निष्काम बलके पुतले थे। इसलिए वाल्मीकिने उनके स्तुति-स्तोत्र गाये। रावण भी बड़ा बलवान था। लेकिन रावणमें वैराग्य नहीं था। रावणका बल भोगनेके लिए था, दूसरोंको सतानेके लिए था। रावण पहाड़ उठाता था, वज्र तोड़ डालता था, वह आदमियोंका वध मानो उस प्रकेममें था। इसलिए उसके दस मुंह और बीस हाथ दिखाये गये। इतना बलवान होते हुए भी उसका सारा बल धूलमें मिल गया। हनुमानका बल अजरामर होगया। वाल्मीकिने बलकी ये दो मूर्तियां ये दो चित्र उपस्थित किये हैं। रावणके बलमें भोग-वासना थी। रावण बलके द्वारा भोग प्राप्त करना चाहता था। हनुमान बलके द्वारा सेवा करना चाहता था। सेवाको अर्पण किया हुआ बल टिकेगा, अमर होगा। भोगको अर्पण किया हुआ बल अपने और संसारके नाशका कारण होगा।

समुद्रके तीरपर सारे वानर बैठे थे। लंकामें कौन जायगा, इसकी चर्चा हो रही थी। हनुमान एक तरफ राम-राम जपते बैठे थे। जामवंत हनुमानके पास जाकर बोला "हनुमान तुम जाओगे?" हनुमान बोला "आपका आशीर्वाद हो तो जाऊंगा।"

यह अकेला वानर किस शक्तिके बूते उस बलवान रावणके निर्भय होकर चला गया? हनुमानसे जब यह सवाल पूछा तब उसने क्या यह जवाब दिया कि मैं अपने बाहुबलके जोरपर आया हूं? हनुमान बोला "मैं रामके भरोसे यहां आया हूं। मेरे बाहुओंमें जोर है या नहीं यह मुझे नहीं मालूम परन्तु रामका बल अवश्य मेरे पास है।

और जरा गहराईमें जाओ तो बाहुबलका भी क्या अर्थ है? बाहुबलके मानी हैं शारीरिक श्रम करनेकी शक्ति। रक्षाके लिए ये हाथ हैं। सेवाके लिए ही हम हस्तवान् हैं। भक्षक हाथ नहीं हैं। भुजाओंके बलके प्रभावसे हम धर्मका निर्माण कर, सेवा करें। हमारी भुजाओंमें यह जो सेवा करनेकी शक्ति है वह किसकी शक्ति है? हनुमान जानता था कि वह आत्माकी शक्ति है, रामकी शक्ति है।

जिस बलको आत्मामें श्रद्धा न हो, रामपर श्रद्धा न हो, वह बल निकम्मा होता है। जिसने रामका बल पहचान लिया, वह धर्मकालमें भी नहीं

बड़ा करता। शरीरबल रामके लिए है। वह सत्ताके लिए है, भोगके लिए नहीं है।

दूसरी बात यह है—बुद्धिमें जो बल है, वह तुच्छ वस्तु है। वह केवल बल निराधार है। वह बल आत्मबलपर सुप्रतिष्ठित होना चाहिए। निर्बलों में भी आत्मबलसे बल पैदा हो जाता है। उपनिषद् कह रहा है कि विषय सत्ताका बल है, वह दूसरेको धार्मिकताको क्या देगा। इसलिए आध्यात्मिक बलकी उपासना चाहिए।

हनुमानजैसा पहलवान नहीं था। हनुमानका जो स्तुतिश्लोक है उसमें दूसरे सारे बलोंका वर्णन है, परन्तु शरीर-बलका उल्लेख कहीं नहीं है। यथा—

मनोजवं मारुततुल्यवेगम्
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शरणं प्रपद्ये॥

—मनके समान वेगवान, वायुके समान वेगवाले, जितेन्द्रिय, बुद्धिमानों-में वरिष्ठ, पवनपुत्र, वानरोंके सेनापति, रामदूतकी मैं शरण जाता हूं।

हनुमान मन और पवनके समान वेगवान थे। वह जितेन्द्रिय थे, वह अत्यन्त बुद्धिमान थे, वह नायक थे, वह रामदूत थे—इन सारी बातोंका वर्णन है। हनुमान बलवान था। लेकिन इस स्तुतिमें उसका जिक्र तक नहीं। क्या यह आश्चर्यकी बात नहीं है? परन्तु ये गुण ही वास्तविक बल हैं। ये गुण ही यथार्थ कार्य-शक्ति हैं।

मनुष्यमें बल चाहिए, शक्ति चाहिए, मनका सामर्थ्य चाहिए, उसके साथ उसमें भी उस आत्मबलका सामर्थ्य आनी चाहिए। विलक्षण प्रकार कल्पना करता, मान भी तानाजी बन सका। नहीं तो मनमें मराठी गुरूर है लेकिन शरीर उतना बल नहीं होता। यह आत्मबल ओत-प्रोत हो रहा है तब शरीर किस कामका? [illegible] बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। 'मन कैसा चाहिए? आकाशसे बड़ा है? आप मनाकुरें वे दौड़ें'—शरीर मनके साथ साथ दौड़ता है। कोई काम मनमें आते पहले ही शरीर दौड़ने लग जाता है।

शरीरमें इस तरहका वेग होनेके लिए ब्रह्मचर्य चाहिए। जितेन्द्रियत्व चाहिए, इंद्रियोंपर काबू चाहिए। संयमके बिना यह बल नहीं मिल सकता। बल और संयमके साथ-साथ बुद्धि भी चाहिए, कर्म-कुशलता भी चाहिए, कल्पना-शक्ति चाहिए और और चाहिए प्रतिभा। सिर्फ फरमाबरदारी ही काफी नहीं है। इसके अलावा रामकी सेवाकी भावना चाहिए। जहां राम कहें वहां जानेके लिए दिन रात तैयार रहना चाहिए।

हिंदुस्तानके करोड़ों देवता तुम्हारी सेवाके इच्छुक हैं। उन्हें तुम्हारी सेवाकी जरूरत है। उस सेवाके लिए तैयार रहो। वेगवान बुद्धिमान संयमी सेवाके शौकीन तरुण बनो। शारीरिक बल कमाओ प्रेम कमाओ। अभी मैंने इस व्यायामशालाके अखाड़ेमें कुश्तियां देखीं। एक कुश्ती एक हरिजन और ब्राह्मणमें हुई। मैंने उसमें समभाव पाया। अगर हम इसी समभावसे आपसमें व्यवहार करें तो समाज बलवान होगा। अगर तुम इस समभावको पोषण करोगे तो तुम जो खेल खेलोगे या कुश्तियां लड़ोगे उनमें कल्याण ही होगा।

अखाड़ेमें हम समभाव सीखते हैं? डिसिप्लिन (अनुशासन) व्यवस्थाका महत्त्व सीखते हैं। इन चीजोंके अलावा दूसरे भी अच्छे सबक सीखे जा सकते हैं। किसानी जमीन जोतना भी एक सबक ही है। एक साथ कुदालियां ऊपर उठती हैं एक साथ जमीनमें धंस रही हैं — कैसा सुन्दर दृश्य दिखता। इस अखाड़ेमें आदर्श व्यायाम होता। उसमें बुद्धिके प्रयोगकी भी गुंजाइश है। व्यायाममें बुद्धिको भी शक्ति मिलनी चाहिए। इसलिए मेरे मतसे व्यायाम भी कुछ-न-कुछ उत्पादन करनेवाला होना चाहिए।

यहांके समान तुम्हारे अन्दर शक्ति और प्रेम दोनों पैदा हों। सब तरहके सब जातियोंके लड़के एकत्र होते हैं एक साथ खेलते हैं। इससे प्रेम होता है। ये सबक बहुत जीवनमें उपयोगी होते हैं। इस साथ-साथ [illegible] बढ़ाओगे तो हाथ मिलाओगे [illegible] अखाड़ेमें [illegible] और [illegible]

तुम क्षत्रिय (अहिंसा) धर्म ग्रहण करो। उसका [illegible] भी [illegible] होता है। [illegible] तुम [illegible]

वे भी मुर्दोंके समान हैं, हमको सर्वत्र सचेत रहना चाहिए। भूख-भूखसे ही मरा करता है। राष्ट्रमें सब तरफ भुखमरी-ही-भुखमरी हो गयी है। सर्वत्र हाहाकार बाहर आ रही है। उसकी तरफ ध्यान दो।

तुमने कसरत की। लेकिन दूध और रोटी न मिली तो कैसे काम चलेगा? अगर तुम्हें दूध चाहिए, तो गोरक्षण भी होना चाहिए। गोरक्षणके लिए गायके—मरी हुई गायके मारी हुई गायके नहीं—चमड़ेसे बनी हुई चीज ही बरतनी चाहिए। रोटीके लिए किसानको जिलाना चाहिए। खादी खरीदकर हम उनकी थोड़ी-सी मदद करेंगे तो वे जियेंगे और हमें रोटी मिलेगी। तुम्हें अगर घरपर रोटी नहीं मिलती तो यहां आकर कितनी उछल-कूद करते? तुम जानते हो कि घरपर रोटी तैयार है, इसलिए यहां कूद-फांद। अन्न कूदने-फांदने की शक्ति देता है। इसलिए उपनिषद् कहता है—अन्नं वाव बलाद् भूयः (अन्न बलसे श्रेष्ठ है) राष्ट्रमें अगर अन्न न होगा तो बल कहांसे आयेगा? पहले अन्नका इन्तजाम करोगे तब यहां अखाड़े चलेंगे। पहले अन्नका प्रबन्ध होगा तब व्यायामका प्रबन्ध हो सकेगा।

एक बार भगवान् बुद्धका एक प्रचारक घूम रहा था। उसे एक भिखारी मिला। वह प्रचारक उसे धर्मका उपदेश देने लगा। उस भिखारीने उसकी तरफ ध्यान नहीं दिया। उसमें उसका मन ही नहीं लगता था। प्रचारक नाराज हुआ। बुद्धके पास जाकर बोला "यहां एक भिखारी बैठा है। मैं उसे इतने अच्छे-अच्छे सिद्धान्त दे रहा था तो भी वह सुनता ही नहीं।" बुद्धने कहा "उसे मेरे पास लाओ।" वह प्रचारक उसे बुद्धके पास ले गया। भगवान् बुद्धने उसकी दशा देखी। उन्होंने ताड़ लिया कि यह भिखारी तीन चार दिनोंसे भूखा है। उन्होंने उसे भरपेट खिलाया और कहा "अब जाओ।" प्रचारकने कहा "आपने उसे खिला तो दिया लेकिन उपदेश कुछ भी नहीं दिया।" भगवान् बुद्धने कहा "आज इसके लिए अन्न ही उपदेश था। आज उसे अन्नकी ही सबसे ज्यादा जरूरत थी। वह उसे पहले देना चाहिए। अगर वह जीयेगा तो फिर सुनेगा।"

हमारे राष्ट्रकी आज यही दशा है। आज राष्ट्रमें अन्न ही नहीं है। रामदासके जमानेमें अन्न भरपूर था। आजकी तरह उस समय हिंदुस्तानकी

संपत्तिका छोटा सूझा नहीं था। इसलिए उन्होंने गायका बलका उपासना का उपदेश दिया। आज देहातोंमें सिर्फ अखाड़े खोल देनेसे काम नहीं चलेगा।

जब राष्ट्रमें अन्नकी उपज और गोसेवा होगी तभी राष्ट्रका संवर्धन होगा। बलवान तरुणोंको राष्ट्रमें अन्न और दूधकी अभिवृद्धि करनी चाहिए। हिंदुस्तानको फिरसे 'गोकुल' बनाना है। यह जब बनाओगे तब बनाओगे। परन्तु आज तो खादीकी पतलून पहनकर और मरे हुए—मारे हुए नहीं—जानवरके चमड़ेका पट्टा बाँधकर बलवान और गोपालनमें हाथ बटाओ।

खाकी पोशाक करो। लेकिन यह पोशाक करके गरीबोंके पेट मत मारो। तुम गरीबोंके संरक्षणके लिए कवायत करोगे। लेकिन गरीब जब जीयेंगे तभी तो उनकी रक्षा करोगे न? तुम खाकी परिधान करके देशके बाहर पैसे भेजोगे और इधर गरीब मरेंगे। फिर संरक्षण किसका करोगे? तुम पैसे तो विदेश भेजोगे और दूध-रोटी माँगोगे देहातियोंसे? वे तुम्हें कहाँसे देंगे? इसलिए खाकी ही पहननी हो तो खादी खाकी पहनो।

तुम्हारे गणवेश (वर्दियाँ) खाकीके हैं, तुम्हारी संस्था में हरिजन भी आते हैं, ये बातें बड़ी अच्छी हैं। लेकिन मुसलमानोंको मुमानियत क्यों? हिंदू-मुसलमानोंको एकत्र होने दो। कम-से-कम मुमानियत तो न करो। उन्हें यहां लानेकी कोशिश करो। तुम हिंदू-मुसलमान एक ही देशके हो। एक ही देशके हवा-पानी अन्न-धान्यपर पल रहे हो। अगर हिंदू यहाँके हैं तो मुसलमान बाहरके कैसे? और अगर मुसलमान बाहरके हैं, तो हिन्दू भी बाहरके हैं। लोकमान्य कहते हैं कि हिंदू लोग उत्तर ध्रुवकी तरफसे आये। हिंदू अगर पाँच-दस हजार साल पहले आये तो मुसलमान हजार साल पहले आये। परन्तु आजकी भाषामें तो यहींके कहे जायँगे। दोनों भारत-माताके ही लाल हैं।

सब धर्मोंके विषयमें उदार भावना रखो। जो सच्चा मातृ-भक्त है, वह सभी माताओंको पूज्य मानेगा। वह अपनी माताकी सेवा करेगा लेकिन दूसरेकी माताका अपमान नहीं करेगा। हरेक अपनी माको सुन्दर समझता है।

धर्म-माताके समान हैं। मुझे मेरी धर्म-माता प्रिय है। मैं मातृपूजक हूं। इसलिए मैं दूसरेकी माताकी निंदा तो हरगिज नहीं करूंगा। उलटे उस माताका भी वंदन करूंगा।

दिलमें यह भाव पैदा होनेके लिए यथार्थ हरिभक्तिकी जरूरत है। दिलमें यथार्थ भक्ति प्राप्त होनेपर यह सब होगा। बाहर उपासना और अंदर उपासना—दोनों चाहिए। बाहर सेवा चाहिए, भीतर प्रेम चाहिए। सेवाके द्वारा शरीर फुर्तीला और सुगम बनाकर आत्माको सौंपना है। शरीर आत्माका हथियार है। हथियार अच्छी भांति उपयोगी होनेके लिए स्वच्छ चाहिए। शरीर ब्रह्मचर्यके द्वारा स्वच्छ करके आत्माके हवाले करो।

शरीर स्वच्छ रखो उसी प्रकार मनको भी प्रसन्न प्रेममय निर्मल और सम रखो। बाहरकी बाह्य क्रियासे शरीर स्वच्छ रहेगा। उपासनासे भीतरी शरीर यानी मन निर्मल रहेगा। अंदर-बाहर शुचि बनो जैसा वह हनुमान है—बलवान् और भक्तिवान सेवाके लिए निरंतर तत्पर। तुम उमरसे तरुण होते हुए भी अगर चपल न होगे सेवाके लिए शरीर चटसे उठता न होगा तो तुम बूढ़े ही हो। जिसके शरीरमें वेग है वह तरुण है, चाहे उसकी अवस्था बूढ़े की हो। हनुमान कभी बूढ़े नहीं हो सकते। वह चिर-तरुण हैं। चिरंजीव हैं।

ऐसे चिरतरुण तुम बनो। तुम दीर्घायु होकर उमरसे वृद्ध होने पर मन भी तरुण रखो। वेग बनाए रखो। बुद्धि जागृत रखो। मैं ईश्वरसे प्रार्थना करता हूं कि हमारे तरुण इस प्रकार तन्मय बुद्धिसे जनताकी और उसके द्वारा परमेश्वरकी सेवा करनेमें जुट जाएं।

३७

गृत्समद

यह एक मन्त्रद्रष्टा वैदिक ऋषि था। वर्तमान यवतमाल जिलेके कलंब गावका रहनेवाला था। गणपतिका महान् भक्त था। 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' (हम गणपका जो कि समूहोंके अधिपति हैं, आवाहन करते हैं) यह सुप्रसिद्ध मन्त्र इसीका देखा हुआ है। ऋग्वेदके दस मण्डलोंमें द्वितीय मण्डल समूचा इसीका है। इस मण्डलमें तयालीस सूक्त हैं और मन्त्रसंख्या चारसौसे ऊपर है। ऋग्वेद समग्र अतिप्राचीन और पहला ग्रन्थ माना जाता है। ऋग्वेदके भी कुछ भाग प्राचीनतर हैं। इस प्राचीनतर भागमें द्वितीय मण्डलकी गणना होती है। इसपरसे इतिहासज्ञ इस परिणामपर पहुंचे हैं कि गृत्समद करीब बीस हजार वर्ष पहले हुआ। गृत्समदका यह मण्डल सूक्तसंख्या और मन्त्र-संख्याकी दृष्टिसे ऋग्वेदके करीब पच्चीसवें हिस्सेके बराबर होगा।

गृत्समद हरफनमौला आदमी था। ज्ञानी भक्त और कवि तो यह था ही लेकिन इसके अलावा अधिकारी विज्ञान-वेत्ता, कृषि-संशोधक और मजा हुआ बुनकर भी था। जीवनके छोटे-बड़े किसी भी क्षेत्रमें उपेक्षा यह सहन नहीं कर सकता था। यह हमेशा कहा करता था 'प्राये प्राये जिगीवांसः स्याम' — हम हरेक व्यवहारमें विजयी होना चाहिए। और उसके व्यक्तिगत उदाहरणके कारण आसपास रहनेवाले आदमियोंमें उत्साहका जाग्रत वातावरण बना रहता था।

गृत्समदके जमानेमें समग्र भारतवर्षका सारा भूप्रदेश जंगलोंसे भरा हुआ था। पाच-पचास मीलोंके अन्तरपर एकाध छोटी-सी बस्ती हुआ करती थी। बाकी सारा प्रदेश निर्जन। आसपासके निर्जन जंगलमें बसी हुई गृत्समदकी एकमात्र यही बस्ती थी। इस बस्तीने भारतको कपासकी खेतीका सबसे पहला सफल प्रयोग दिया। आज तो वरार कपासका भण्डार बन गया है। गृत्समदके जमानेमें वरारमें आजकी अपेक्षा बारिशका परिमाण ज्यादा था। उतना पानी सह सकनेवाला कपासका पौधा गृत्समदने तैयार

किया और उसे एक छोटे-से प्रयोगक्षेत्रमें लगाकर उससे दस सेर कपास प्राप्त किया। गृत्समदकी इस नई पैदावारको लोगोंने 'कार्पासम्' नाम दिया। क्या इसीका ही लैटिन रूप 'गॉसिपियम्' हो सकता है ?

उसकी बस्तीके लोग ऊन कातना-बुनना अच्छी तरह जानते थे। यह कार्य मुख्यतः स्त्रियोंके सिपुर्द था। आज बुननेका काम पुरुष करते हैं और स्त्रियाँ कूकड़ी भरने, माड़ी लगाने आदिमें उनकी मदद करती हैं। किन्तु वैदिक कालमें बुनकरोंका एक स्वतन्त्र वर्ग नहीं बना था। खेतीकी तरह बुनना भी उद्योगका काम था। उस युगकी ऐसी व्यवस्था थी कि सारे पुरुष खेती करते थे और सारी स्त्रियाँ घरका काम-काज सँभालकर बुनती थीं। 'आकाशमें सूर्य जब अपनी किरणें समेट लेता है, तब बुननेवाली भी अपना अधूरा बुना हुआ ताना समेट लेती है'—'पुनः समव्यत् विततं वयन्ती'—इन शब्दोंमें गृत्समदने बुननेवालीके जीवन-कार्यका वर्णन किया है।

गृत्समदके प्रयोगके फलस्वरूप कपास तो मिल गया, लेकिन 'कपड़ा कैसे बनाया जाय' यह महान् प्रश्न खड़ा हुआ। ऊन कातनेकी जो लकड़ी की तकली होती थी उसीपर उसने मिलकर कपासका सूत कात लिया। यद्यपि बुनाई स्त्रियोंके ही सिपुर्द थी, तो भी कातनेका काम तो स्वयं पुरुष मालिक गृहस्वामी किया करते थे। सूत तो निकाला लेकिन बिल्कुल कच्चा। अब उसे कोई बुने भी कैसे ?

गृत्समद हिम्मत हारनेवाला व्यक्ति नहीं था। उसने खूब चिन्तन शुरू किया। बुननेकी कलाकी सारी प्रक्रियाओंका आद्योपान्त अभ्यास किया। ताना सूत दोष-सम्पन्न पाया। लेकिन उसमेंसे जो थोड़ा पक्का था उससे उसने 'तन्तु' बनाया। 'तन्तु' के माने वैदिक भाषामें ताना है। बाकी बचे हुए कच्चे सूतको 'ओतु' कहकर रख लिया। लेकिन साड़ी बनानेमें खटाखट तार टूटने लगे। गृत्समद गणितज्ञ होनेके कारण टूटे हुए फिरसे तारोंको जोड़ता गया, इसका हिसाब भी करता था। पहली बारके साड़ी बनानेमें टूटे हुए तारोंकी संख्या चार सहस्रोंकी (हजार) की थी। बादमें ताना करघेपर चढ़ाया गया। इसकी पहली जोड़के साथ चार-पाँच तार टूटे। उन्हें जोड़कर फिरसे ठोका, फिरसे टूटा। इसी तरह कितने ही

इसीके बाद पहला तार कता गया। उसके बाद सूत धीरे-धीरे सुधरता गया। लेकिन फिर भी पूनीके बारह बरसोंमें कताईका काम बड़ा ही कष्टकर हो गया था। सूत्रयज्ञकी आयुके ये बारह वर्ष यथार्थ तपश्चर्याके वर्ष थे। वह इतना उत्साही और तनु-बद्ध योग-बद्ध ढीले-बद्ध और टूट-बद्धकी सद्भावपूर्ण वृत्तिसे कताईका काम करनेवाला होता हुआ भी जब सूत लगातार टूटने लगता था तो वह भी कभी-कभी पस्त-हिम्मत हो जाता था। ऐसे ही एक अवसरपर उसने ईश्वरकी प्रार्थना की थी 'देवा मातगुरुदेव बचा'—सूतका तनु टूटने न दे। लेकिन ऐसी गलत प्रार्थना करनेके लिए वह तुरन्त ही पछताता था। इसलिए उस प्रार्थनामें "मेरा म" यानी 'मेरा ध्यान' ये दो शब्द मिलाकर उसे सुधार लिया। "जब मैं अपना ध्यान बुनता होऊँ तो उसका तनु टूटने न दे"—ऐसा उस सुशोभित और परिष्कृत प्रार्थनाका सुशोभित अर्थ निकला। उसका यथार्थ इस प्रकार है— मैं जो खादी बुना करता हूँ वह मेरी बुद्धिका केवल एक बाह्य क्रिया नहीं है। वह तो मेरी उपासना है। वह ध्यानयोग है। बीच बीचमें धागेके टूटने पड़नेसे मेरा ध्यान-योग भंग होने लगता है इसका दुःख है। इसलिए यह इच्छा होती है कि धागे न टूटने चाहिए। लेकिन यह इच्छा उचित होते हुए भी प्रार्थनाका विषय नहीं हो सकती। उसके लिए प्रयत्न उन्नति करनी चाहिए। और वह कर सूता। लेकिन जबतक पूनी कच्ची रहेगी तबतक वह टूटता तो रहेगा ही। इसलिए अब यही प्रार्थना है कि सूतके साथ-साथ मेरी सावधानता, मेरे ध्यानका धागा न टूटे।

सूत्रयज्ञ प्रायः सम्पूर्ण वृत्ति रखनेका प्रयत्न करता हुआ भी प्रतिदिन [illegible] अभिप्रायात्मक और उत्पादक काम करता ही रहता था। [illegible] —मैं दूसरोंके [illegible] प्रधान योग [illegible] —यही उसका जीवन-सूत्र था। वह मोह-मेरा-अपना था। इसलिए उसके साथ सबको [illegible] । लेकिन यह [illegible] नहीं [illegible] कि [illegible] हूँ [illegible] हूँ? और उसमें भी [illegible] उत्पादकता कोई भाग होता है?

इसी चिंतनके फलस्वरूप ही मानो एक दिन उसे अचानक गुणाकारकी कल्पना स्फुरित हुई। गणितशास्त्रको लोक-व्यवहार-सुलभ बनानेकी दृष्टि से वह फुरसतके समय उसमें आविष्कार करता रहता था। उसके समयमें पर्वतनिवासियोंमेंसे लोग सिर्फ जोड़ना और घटाना ही जानते थे। जिस दिन गृत्समदने गुणन-विधिका आविष्कार किया उस दिन उसके आनन्दका पारावार ही नहीं रहा। उसने दोसे लेकर नौ तकके पहाड़े बनाये और फिर तो वह मानो पगलाने लगा। पहाड़े रटनेवाले बालकोंको कहीं इस बातका पता लग जाय तो वे गृत्समदको बिना पत्थर मारे नहीं रहेंगे। लेकिन गृत्समदने आनन्दके आवेशमें आकर इन्द्रका आवाहन पहाड़ोंसे ही करना शुरू किया—"हे इन्द्र! तू दो घोड़ोंके आठ घोड़ोंके और दस घोड़ोंके रथमें बैठकर आ। जल्दी-से-जल्दी आ। इसके लिए तेरी मर्जी हो तो दोके पहाड़ेके बदले दसके पहाड़ेसे काम ले। दस घोड़ोंके बीस घोड़ोंके तीस घोड़ोंके और चालीस घोड़ोंके,, और सौ घोड़ोंके रथमें बैठकर आ।

गृत्समद [illegible] आविष्कारक था। पौराणिकोंने उसके इस महान् आविष्कारका लेखा किया है कि चंद्रमाका गर्भकी वृद्धिपर विशेष परिणाम होता है। वैदिक मन्त्रोंमें भी इसकी ध्वनि पाई जाती है। [illegible] मातृ वृत्ति रम गई है और [illegible] तो गए हैं ही। इसलिए पूर्णिमा आनन्दमय प्रहर स्त्रियोंको जगाकर और उन्हें आनन्दमय सौम्य धन देकर उन माताओंके उदरमें रहनेवाले कोमल गर्भ तक उस जीवनामृतको पहुँचानेका प्रेमपूर्ण और कुशल कार्य वह कर सकता है और वह उसे निरंतर करता रहता है—यह गृत्समदका आविष्कार है।

३८

लोकमान्यके चरणोंमें

११२ लो० तिलक शरीर-रूपसे हमारे बीच नहीं रहे। उस समय मैं बम्बई गया था। चार-पांच दिन पहले ही पहुंचा था, परंतु डाक्टरने कहा "अभी कोई डर नहीं है।" इसलिए मैं एक कामसे साबरमती जानेको रवाना हुआ। मैं आधा रास्ता भी पार न कर पाया होऊंगा कि मुझे लोकमान्यकी मृत्युका समाचार मिला। मेरे अत्यंत निकटके आत्मीय सहयोगी और मित्रकी मृत्युका जो प्रभाव हो सकता है, वही लोकमान्यके निधनका हुआ। मुझपर बहुत गहरा असर हुआ। उस दिनसे जीवनमें कुछ नयापन-सा आ गया। मुझे ऐसा लगा मानो कोई बहुत ही प्रेम करनेवाला कुटुंबी कम हुआ हो। इसमें जरा भी अत्युक्ति नहीं है। आज दस बरस हो गये। आज फिर उनका स्मरण करता हूं। लोकमान्यके चरणोंमें अपनी यह पुष्प श्रद्धांजलि मैं अपनी गहरी श्रद्धाके कारण चढ़ा रहा हूं।

तिलकके विषयमें जब कुछ कहना चाहता हूं तो मुझसे शब्द निकालना कठिन हो जाता है। गद्गद् हो उठता हूं। बापू-जवाहरका नाम लेते ही मेरी जो स्थिति होती है, वही इस नामसे भी होती है। मैं अपने विचार भाव ही प्रकट नहीं कर सकता। उलटे भावनाओंका उद्वेग व्यक्त करना कठिन होता है। गीताका भी नाम लेते ही मेरी ऐसी स्थिति हो जाती है, मानो स्फूर्तिका संचार हो जाता है। भावनाओंकी प्रबल बाढ़ आ जाती है। वृत्ति उमड़ने लगती है परन्तु यह लक्षण मेरा नहीं है। लक्षण गीताका है। यही हाल तिलकके नामका है। मैं गुणगान नहीं करता, क्योंकि गुणगानमें अक्सर दोष आ जाते हैं परन्तु जिनके नामके स्मरणसे ऐसी स्फूर्ति देनेकी शक्ति है उन्हींमेंसे तिलक भी हैं, मानो उनके स्मरणमें ही शक्ति संचित है। रामनामको ही देखिये। कितने ही जीवोंका इस नामके स्मरणसे उद्धार हो गया, उनकी गिनती कौन करेगा? अनेक शास्त्रोंमें अनेक ग्रंथ इतिहास पुराण — इनमेंसे किसी भी ग्रंथका उतना प्रभाव न हुआ होगा जितना कि

रामनामका हुआ है और हो रहा है। राज्योंका उदय हुआ और अस्त हुआ। राज्योंका विनाश हुआ और क्षय हुआ। किंतु रामनामकी सत्ता अबाधित रूपसे विद्यमान है। तुलसीदासजीने कहा है, "कहउं नाम बड़ राम तें।" —हे राम मुझे तुमसे तेरा नाम ही अधिक प्रिय है। तेरा रूप तो उस समय के अयोध्यावासियोंने और उस जमानेके नर-नारियोंने देखा। हमारे सामने तेरा रूप नहीं केवल तेरा नाम है। जो महिमा तेरे नाममें है, वह तेरे रूपमें नहीं। हे राम तूने शबरी जटायु आदिका उद्धार किया। लेकिन वे तो मुट्ठीभर थे। इसमें तेरा बड़प्पन कुछ नहीं परन्तु तेरे नामने अनेक खलजनोंका उद्धार किया यह वेद कहते हैं।

"शबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल वेद-विदित गुणगाथ॥"

तुलसीदासजी कहते हैं रामकी महिमा गानेवाले मूक हैं। रामने तो बड़े-बड़े सेवकोंका उद्धार किया। परन्तु नामने? नामने असंख्य खल-मूढ़ोंका उद्धार किया। शबरी तो तपस्विनी स्त्री थी। उसका वैराग्य और उसकी भक्ति कितनी महान् थी। वैसा ही वह जटायु था। इन श्रेष्ठ जीवोंका इन सज्जनोंका रामने उद्धार किया। कौन बड़ी बात हुई? परन्तु रामनाम तो दुर्जनोंको भी उबारता है। और वास्तवमें मुझे इसका अनुभव हो रहा है मुझसे बड़ा खल दूसरा कौन हो सकता है। मेरे समान दुष्ट मैं ही हूं। मुझे इस विषयमें दूसरोंका मत जाननेकी जरूरत नहीं। नामसे उद्धार होता है। जिन्होंने पतित कर्म किये अथवा अघोर पातकोंमें करनेवाला उनके नाममें ऐसा सामर्थ्य आ जाता है।

इसीमें मनुष्यकी विशेषता है। आहार विहारादि दूसरी बातोंमें मनुष्य और पशु समान ही हैं। परन्तु जिस प्रकार मनुष्य पशु या पशुसे भी नीच बन सकता है उसी प्रकार नरतनमें पौरुषसे वह परमात्माके निकट भी जा सकता है। मनुष्यमें ये दोनों शक्तियां हैं। खूब मांस और अंडे वगैरा खाकर दूसरे प्राणियोंका भक्षण कर वह भेड़िये समान हृष्ट-पुष्ट भी बन सकता है या दूसरोंके लिए अपना शरीर भी फेंक सकता है। मनुष्य अपने लिए दूसरोंका नाश करके पशु बन सकता है या अनेकोंके लिए अपना बलिदान कर परमात्मा भी बन सकता है। पशुकी शक्ति

मर्यादित है। उसकी बुराईकी भी मर्यादा है। लेकिन मनुष्यके पतनकी या ऊपर उठनेकी कोई सीमा नहीं है। वह पशुसे भी नीचे गिर सकता है और इतना ऊपर चढ़ सकता है कि देवता ही बन जाता है। जो गिरता है वही चढ़ भी सकता है। पशु अधिक गिर भी नहीं सकता इसलिए चढ़ भी नहीं सकता। मनुष्य दोनों बातोंमें पराकाष्ठा कर सकता है। जिन लोगोंने अपना जीवन सारे संसारके लिए अर्पण कर दिया उनके नाममें बहुत बड़ी पवित्रता आ जाती है। उनका नाम ही तारेके समान हमारे सम्मुख रहता है। हम नित्य तर्पण करते हुए कहते हैं 'वसिष्ठं तर्पयामि' 'भारद्वाजं तर्पयामि' 'अत्रिं तर्पयामि' इन ऋषियोंके बारेमें हम क्या जानते हैं? क्या सात या आठसौ पन्नोंमें उनकी जीवनी लिख सकते हैं? शायद एकाध सफा भी नहीं लिख सकेंगे। लेकिन उनकी जीवनी न हो तो भी वसिष्ठ—यह नाम ही काफी है। यह नाम ही तारक है। और कुछ शेष रहे या न रहे, केवल नाम ही तारेके समान मार्ग-दर्शक होगा प्रकाश देगा। मेरा विश्वास है कि सैकड़ों वर्षोंके बाद तिलकका नाम भी ऐसा ही पवित्र माना जायगा। उनका जीवन-चरित्र आदि बहुत-सा नहीं रहेगा किन्तु इतिहासके आकाशमें उनका नाम तारेके समान चमकता रहेगा।

हम महापुरुषोंके चारित्र्यका अनुसरण करना चाहिए, न कि उनके चरित्रका। दरअसल महत्त्व चारित्र्यका है। शिवाजी महाराजने छोटे-मोटे किले बनवाकर स्वराज्य प्राप्त किया। इसलिए आज यह नहीं समझना चाहिए कि उसी तरह किले बनानेसे स्वराज्य प्राप्त होगा। किन्तु जिस वृत्तिसे उन्होंने अपना जीवन बिताया और लड़ाई की वह वृत्ति व गुण हमें चाहिए। जिस वृत्तिसे शिवाजीने काम किया उस वृत्तिसे हम आज भी स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए मैंने कहा है कि उस समयका रूप हमारे कामका नहीं है उसका भीतरी रहस्य उपयोगी है। चरित्र उपयोगी नहीं चारित्र्य उपयोगी है। काम करते हुए उनकी जो वृत्ति थी वह हमारे लिए आवश्यक है। उनके गुणोंका स्मरण आवश्यक है। इसीलिए तो हिंदुधर्मने चरित्रका बोझ छोड़कर नाम-स्मरणपर जोर दिया। इन महान् व्यक्तियोंका सारा चरित्र दिमागमें रखनेकी कोशिश करें तो उसीके भार तले दब मरें। इसीलिए केवल नामोंका स्मरण करना है, चरित्रका अनुकरण नहीं।

एक कहानी मशहूर है। कुछ बालकोंने 'साहसी यात्री' नाम की एक पुस्तक पढ़ी। फौरन यह तय किया गया कि जैसा उस पुस्तकमें लिखा है वैसा ही हम भी करें। उस पुस्तकमें बीस-पच्चीस युवक थे। ये भी वहां बीस-पच्चीस इकट्ठे हुए। पुस्तकमें लिखा था कि वे एक जंगलमें गये। फिर क्या था? ये भी एक जंगलमें पहुंचे। पुस्तकमें लिखा था उन लड़कोंको जंगलमें एक शेर मिला। अब ये बेचारे शेर कहांसे लावें? आखिर उनमें जो एक बुद्धिमान् लड़का था वह कहने लगा "अरे भाई, हमने तो पुस्तक आखिरतक पढ़ी ही थी। हम उन लड़कोंकी नकल उतारना चाहते हैं। लेकिन यहां तो सबकुछ उलटा ही हो रहा है। वे लड़के कोई पुस्तक पढ़कर थोड़े ही निकले थे मुसाफिरी करने! इसमें तो शुरूमें ही गलती हुई।

तात्पर्य यह कि हम चरित्र की सारी घटनाओंका अनुकरण नहीं कर सकते। चरित्रका तो विस्मरण होना चाहिए। केवल गुणोंका स्मरण पर्याप्त है। इतिहास तो भूलनेके लिए ही है और लोग उसे भूल भी जाते हैं। क्योंकि ध्यानमें वह उस-का-उस रहता भी नहीं है। इसके लिए उनपर चिन्तन भार भी पड़ती है। इतिहासमेंसे हमें सिर्फ गुण ही लेने चाहिए। जो गुण हैं उन्हें कभी भूलना नहीं चाहिए, श्रद्धापूर्वक याद रखना चाहिए। पूर्वजोंके गुणोंका श्रद्धापूर्वक स्मरण ही श्राद्ध है। यह श्राद्ध पावन होता है। आपका श्राद्ध मुझे पावन प्रतीत होता है। इसी प्रकार आपको भी प्रसन्न होना होगा।

देना चाहिए। इस अवसरपर मुझे अहल्याकी कथा याद आरही है। रामायण में मुझे अहल्याकी कथा बहुत सुहाती है। रामका सारा चरित्र तो श्रेष्ठ है और उसमें यह कथा बहुत ही प्यारी है। आज भी यह बात नहीं कि हमारे अंदर राम (सत्त्व) न रहा हो। आज भी राम है। राम-जन्म हो चुका है चाहे उसका किसीको पता हो या न हो। परंतु आज राष्ट्र में राम है क्योंकि अन्यथा यह जो थोड़ा-बहुत देशका उभार दीख पड़ता है वह न दिखाई देता। महाराष्ट्रमें देखें तो आज रामका अवतार हो चुका है। यह जो राम लीला हो रही है इसमें कौनसा हिस्सा लूं किस पात्रका अभिनय करूं यह मैं सोचने लगता हूं। रामकी इस लीलामें मैं क्या बनूं? लक्ष्मण बनूं? नहीं नहीं। उनकी वह जागृति वह भक्ति कहांसे लाऊं? तो क्या भरत बनूं? नहीं भरतकी कर्तव्य-दक्षता उत्तरदायित्वका बोध उनकी दयालुता और त्याग कहांसे लाऊं। हनुमानका तो नाम भी मानो रामका हृदय ही है। तो फिर पात्रमें पुण्य नहीं है इसलिए क्या रावण बनूं? उहूं। रावण भी नहीं बन सकता। रावणकी उत्कटता महत्त्वाकांक्षा मेरे पास कहां है? फिर मैं कौनसा स्थान लूं? किस पात्रका अभिनय करूं? क्या कोई ऐसा पात्र नहीं है, जो मैं बन सकूं? जटायु, शबरी?—ये तो सुसेवक थे। अतमें मुझे अहल्या नजर आई। अहल्या तो पत्थर बनकर बैठी थी।

सोचा मैं अहल्याका अभिनय करूं। अब पत्थर बनकर बैठूं। इतनेमें वह अहल्या बोल उठी "सारी रामायणमें सबसे तुच्छ जड़-मूढ़ पात्र क्या मैं ही ठहरी? अरे बुद्धिमान क्या अहल्याका पात्र सबसे निकृष्ट है? मुझमें क्या कोई योग्यता ही नहीं? अरे, रामकी यात्रामें तो अयोध्यासे लेकर रामेश्वरतक हजारों पत्थर थे उनका उद्धार क्यों नहीं हुआ? मैं कोई सामान्य पत्थर नहीं हूं। मैं भी गुणी पत्थर हूं।" अहल्याकी बात मुझे जच गई। परंतु अहल्याके पत्थरमें गुण थे तो भी यह सारी महिमा केवल उस पत्थरकी नहीं। उसी प्रकार सारी महिमा रामके चरणोंकी भी नहीं। अहल्याके समान पत्थर और रामके चरणों-जैसे चरण दोनोंका संयोग चाहिए। न तो रामके चरणोंसे दूसरे पत्थरका ही उद्धार हुआ और न किसी दूसरेके चरणोंसे अहल्याका ही।

इसे मैं अहल्या राम-न्याय कहता हूं। दोनोंके मिलापसे काम होता है।

यही न्याय तिलकके पुण्यतापर घटित होता है। तिलकका ब्राह्मणत्व महाराष्ट्रीयत्व आदि सब भूलकर सारा हिंदुस्तान उनकी पुण्य-स्मृति मानता है। इस चमत्कारमें तिलकके गुण और जनताके गुण, दोनोंका स्थान है। इस चमत्कारके दोनों कारण हैं। कुछ गुण तिलकका है और कुछ उन्हें माननेवाली साधारण जनताका। हम उन गुणोंका जरा पृथक्करण करें।

तिलकका गुण यह था कि उन्होंने जो कुछ किया उसमें सारे भारतवर्ष का विचार किया। तिलकके फूल समुद्रमें गिरे, इसलिए वहां उनके स्मारक मंदिर होंगे। उन्होंने मराठीमें लिखा इसलिए मराठी भाषामें उनके स्मारक होंगे। लेकिन तिलकने यहां कहीं जो कुछ किया—चाहे जिस भाषामें क्यों न लिखा हो वह सब भारतवर्षके लिए किया। उन्हें यह अभिमान नहीं था कि मैं ब्राह्मण हूं। मैं महाराष्ट्रका हूं। उनमें पृथक्त्वकी भावना नहीं थी। वह महाराष्ट्रीय थे तो भी उन्होंने सारे भारतवर्षका विचार किया। जिन अर्वाचीन महाराष्ट्रीय विभूतियोंने सारे भारतवर्षका विचार किया तिलक उनमेंसे एक थे। और दूसरे जो मेरी दृष्टिके सामने आते हैं वह थे महर्षि न्यायमूर्ति रानडे। तिलकने महाराष्ट्रको अपनी जेबमें रखा और सारे हिंदुस्तानके लिए लड़ते रहे। हिंदुस्तानके हितमें मेरे महाराष्ट्रका भी हित है इसीलिए पूनेका हित है, पूनेमें रहनेवाले मेरे परिवारका हित है और परिवारमें रहनेवाले मेरा भी हित है। हिंदुस्तानके हितका विचार करनेसे उसीमें महाराष्ट्र, पूना, मेरा परिवार और मैं सबके हितका विचार आ जाता है। यह तत्त्व उन्होंने ध्यान लिया था और उसीके अनुसार उन्होंने काम किया। ऐसी विशाल उनकी व्याख्या थी। जो सच्ची सेवा करना चाहता है उसे वह सेवा किसी मर्यादित स्थानमें करनी पड़ती। लेकिन उस मर्यादित स्थानमें रहकर भी आसपासकी प्रजाके बीच जो वृत्ति रहेगी वह विशाल व्यापक और अमर्यादित होनी चाहिए।

ग्रामधाम मर्यादित हैं। लेकिन उसमें मैं जिस भगवान्के दर्शन करता हूं वह ब्रह्माण्डव्यापी चर अचर सब चेतन सबमें निवास करनेवाला ही है। तभी तो वह वास्तविक पूजा हो सकती है। 'अभिरूपे तथा व्याप्ते विष्णु पवनमूर्तये।' उस त्रिभुवन व्यापक विष्णुको यदि वह पुजारी

भावनामें न देखेगा तो उसकी पूजा निरा पागलपन होगी। सेवा करनेमें भी खूबी है, रहस्य है। अपने आश्रम रहकर भी मैं विश्वेश्वरकी सेवा कर सकता हूं। दूसरेको न भूलते हुए जो सेवा की जाती है वह अनमोल हो सकती है, होती भी है।

तुकारामने अपना देहू नामक गांव नहीं छोड़ा। रामदास दस गांवोंमें विचरे और सेवा करते रहे। फिर भी दोनोंकी सेवाका फल एक है अनन्त है। यदि बुद्धि व्यापक हो तो अल्प कर्मसे भी अपार मूल्य मिलता है। सुदामा मुट्ठीभर ही तंदुल लेकर गये थे लेकिन उन तंदुलोंमें प्रचंड शक्ति थी। सुदामाकी बुद्धि व्यापक थी। बहुत बड़ा कर्म करनेपर भी कुछ लोगोंको थोड़ा फल मिलता है। लेकिन सुदामा छोटे-से कर्मसे बहुत बड़ा फल प्राप्त कर सके। जिसकी बुद्धि शुद्ध निष्पाप पवित्र तथा समत्वयुक्त है, भक्तिमय और प्रेममय है, वह छोटी-सी भी क्रिया करे तो भी उसका फल महान् होता है मूल्य बहुत बड़ा होता है। यह एक महान् आध्यात्मिक सिद्धांत है। आंकड़ा एक भले ही छोटा क्यों न हो विलक्षण प्रभाव डालता है। वह प्रभुकी स्याहीसे पवित्रताके स्वच्छ कागजपर लिखा होता है। दूसरा कोई पोथा कितने ही सफेद कागजपर क्यों न लिखा हुआ हो यदि उसके मूलमें शुद्ध बुद्धि न हो निर्मल बुद्धि न हो जो कुछ लिखा गया है, वह प्रेममें रंगा हुआ न हो तो सारा पोथा बेकार है।

परमात्माके यहां कितनी सेवा यह पूछा नहीं है। 'कैसी सेवा' यह पूछा है। निरक्षर सायण बुद्धिमान विद्वान नाना शास्त्रोंके पंडित न इसलिए उनकी सेवा अनजानी और तुच्छ नहीं है। परन्तु जिसकने जितनी कीमती सेवाकी उतनी ही कीमती सेवा एक देहाती भी कर सकता है। जिनकी सेवा विपुल और बहुमूल्य थी उनकी उसका मूल्य और एक स्वच्छ सेवककी नन्ही सेवाका मूल्य बराबर हो सकता है। एक थालीभर ज्वार रास्तेमें जा रही हो। अतिथि उसकी आंगनमें अपनी छोटी-सी जगहमें रख सकता हूं। उस ज्वारका भाव अपनी जगहमें रख सकता हूं। उसपर अपनी मुहरभर लगी हो। अतएव सेवापर व्यापकताकी मुहर लगी होनी चाहिए। अगर कोई सेवा तो बहुत करे पर व्यापक दृष्टि और वृत्तिसे न करे तो उसकी कीमत व्यापक दृष्टिसे की हुई छोटी-सी सेवाकी अपेक्षा कम हो जायगी।

व्यापक दृष्टिसे की हुई अल्प सेवा अनमोल हो जाती है, यह उसकी खूबी है। आप और मैं सब कोई सेवा कर सकें इसीलिए परमात्माकी यह योजना है। चाहे जहां चाहे जो कुछ भी कीजिये पर संकुचित दृष्टिसे न कीजिये। उसमें व्यापकता भर दीजिये। यह व्यापकता आजके कार्यकर्ताओंमें कम पाई जाती है। कुशल कार्यकर्ता आज संकुचित दृष्टिसे काम करते हुए देख पड़ते हैं।

तिलककी दृष्टि व्यापक थी इसलिए उनके चारित्र्यमें विशुद्ध और प्रभाव है। हिंदुस्तानके ही नहीं बल्कि संसारके किसी भी समाजके वास्तविक हितका विरोध न करते हुए चाहे जहां सेवा कीजिये। चाहे वह एक गांवकी ही सेवा क्यों न हो वह अनमोल है परन्तु यदि बुद्धि व्यापक हो तो अपनी दृष्टि व्यापक बनाइये। फिर देखिये आपके कर्मोंमें कैसी स्फूर्तिका संचार होता है। कैसी शक्तिका संचार होता है। तिलकमें यही व्यापकता थी। मैं भारतीय हूं यह सबसे ही उनकी वृत्ति रही। बंगालमें आंदोलन शुरू हुआ। उन्होंने दौड़कर उसकी मदद की। बंगालका साथ देनेके लिए महाराष्ट्रको खड़ा किया। स्वदेशीका डंका बजवाया। "आज बंगाल लड़ाईके मैदानमें खड़ा है तो हमें भी जाना ही चाहिए। जो बंगालमें हुआ है वह महाराष्ट्रमें भी हुआ है।" ऐसी व्यापकता सार्वराष्ट्रीयता तिलकमें थी। इसीलिए पूनाके निवासी होकर भी वह हिन्दुस्तानके प्राण बन गये। सारे देशके प्रिय बने। तिलक सारे भारतवर्षके लिए पूजनीय हुए, इसका एक कारण यह था कि उनकी दृष्टि अखिलराष्ट्रीय थी व्यापक थी।

लेकिन इसका एक दूसरा भी कारण था। वह था जनता की विशेषता। जनताका यश बड़े कार्यकर्ताओंमें भी है क्योंकि वे भी तो जनताके ही हैं। लेकिन उनको शुरू हम जानना पता नहीं है। तिलकके पूजक साथ जनताके पूजका स्मरण भी करना चाहिए क्योंकि तिलक अपने-आपको जनताके चरणोंकी धूल समझते थे। जनताके साथ जनताकी दुर्बलता, सुविधा सम-झकर वे उसकी ही समझते थे। वे जनताके स्वरूप हो गये थे इसलिए जनताके गणेशका स्मरण तिलकके गणपति स्मरण ही है।

यह जो जनताका बल है यह ब्यापारा बनाया हुआ नहीं है। हमारे महान पुरखोंका विशाल अखिलांश पूर्वजोंकी यह देन है। यह पुण्य मानों

हमने अपनी माके दूधके साथ ही पिया है। उन श्रेष्ठ पूर्वजोंने हमें यह सिखाया कि मनुष्य किस प्रांतका किस जातिका है, यह देखनेके बदले इतना ही देखो कि वह भला है या नहीं वह भारतीय है या नहीं। उन्होंने हमें यह सिखाया कि भारतवर्ष एक राष्ट्र है। कई लोग कहते हैं कि अंग्रेजोंने यहां आकर हमें देशाभिमान सिखलाया तब कहीं हम राष्ट्रीयतासे परिचित हुए। पर यह गलत है। एक राष्ट्रीयता की भावना अगर हमें किसीने सिखाई है तो वह हमारे पुण्यवान पूर्वजोंने। उन्हींकी कृपासे यह अनूठी देन हमें प्राप्त हुई है।

हमारे राष्ट्रपिने हमें यह सिखावन दी है कि 'दुर्लभं भारते जन्म'। 'दुर्लभं वर्षेषु जन्म' 'दुर्लभं मुर्खेषु जन्म' ऐसा उन्होंने नहीं कहा। ऋषिने तो यही कहा कि 'दुर्लभं भारते जन्म'। काशीमें गंगाके तटपर रहनेवालेको किस बातकी तड़प होती है। वह इसके लिए तड़पता है कि काशीकी गंगाकी बहंगी या कावड़ भरकर कब रामेश्वरको चढ़ाऊं? मानो काशी और रामेश्वर उसके मकानका आंगन और पिछवाड़ा हो। वास्तवमें तो काशी और रामेश्वरमें पन्द्रहसौ मीलका फासला है परन्तु आपको आपके श्रेष्ठ ऋषियोंने ऐसा वैभव दिया है कि आपका आंगन पन्द्रहसौ मीलका है। रामेश्वरमें रहनेवाला इसलिए तड़पता है कि रामेश्वरके समुद्रका जल काशी-विश्वेश्वरके मस्तकपर चढ़ाऊं। वह रामेश्वरका समुद्र-जल काशी तक ले जायगा। कावेरी और गोदावरीके जलमें नहानेवाला भी 'जय गंगे' 'हरगंगे' ही कहेगा। गंगा सिर्फ काशीमें ही नहीं महाघर भी है। जिस बर्तनमें हम नहानेके लिए पानी लेते हैं उसे भी गंगाजल (गंगालय) नाम दे दिया है। कैसी व्यापक और पवित्र भावना है यह। यह भारतीय भावना है।

यह भावना आध्यात्मिक नहीं किन्तु राष्ट्रीय है। आध्यात्मिक मनुष्य 'दुर्लभं भारते जन्म' नहीं कहेगा। वह और ही कहेगा। जैसा कि तुकारामने कहा 'आमुचा स्वदेश। भुवनत्रयामध्यें वास।' (स्वदेशो भुवनत्रयम्) उन्होंने आत्माकी मर्यादाको व्यापक बना दिया। सारे दरवाजों सारे किलों को तोड़कर आत्माको प्राप्त किया। तुकारामके समान महापुरुषोंने जो आध्यात्मिक रसमें रमे हुए थे अपनी आत्माको स्वतंत्र संचार करने

दिया। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इस भावनासे प्रेरित होकर सारे देश-भाषोंको पारकर जो सर्वत्र अभिन्नताके दर्शन कर सके वे धन्य हैं। लोग भी समझ गये कि वे सारे विश्वके हैं, इनकी कोई सीमा नहीं है। परंतु 'कुलम् आरुह्य धर्म्यं' की जो कल्पना ऋषियोंने की वह आध्यात्मिक नहीं राष्ट्रीय है।

वाल्मीकिने अपनी रामायणके प्रारंभिक श्लोकोंमें रामके गुणोंका वर्णन किया है। रामका गुणगान करते हुए राम कैसे थे इसका वह यों वर्णन करते हैं कि 'समुद्र इव गाम्भीर्ये स्थैर्ये च हिमवानिव'—"स्थिरतामें उत्तरवाले हिमालय-जैसे और गाम्भीर्यमें पैरोंके निकटवाले समुद्र-जैसा।" देखिये कैसी विशाल उपमा है। एक सांसमें हिमालयसे लेकर कन्याकुमारीतकके दर्शन कराये। पांच मील ऊंचा पर्वत और पांच मील गहरा सागर एकदम दिखाये। तभी तो यह रामायण राष्ट्रीय हुई। वाल्मीकिके रोम रोममें राष्ट्रीयत्व भरा हुआ था, इसलिए वे सार्वराष्ट्रीय रामायण रच सके। उनकी रामायण संस्कृतमें है तो भी सबको आदरणीय है। वह जितनी महाराष्ट्रमें प्रिय है उतनी मद्रासकी तरफ केरलमें भी है। श्लोकके एक ही चरणमें उत्तर भारत और दक्षिणका समावेश कर दिया। विशाल और भव्य उपमा है।

हमसे कोई पूछे कि तुम कितने हो तो हम तुरत बोल उठेंगे हम पैंतीस करोड़ बढ़ गये हैं। अंग्रेजसे पूछा तो वह चार करोड़ बतलायेगा। फ्रांसीसी साढ़े चार करोड़ बतलायेगा। जर्मन ७ करोड़ बतलायेगा। बेलजियन साढ़े सात बतलायेगा। जापानी साढ़े [illegible] बतलायेगा। और हम पैं-तीस करोड़! [illegible] पैंतीस करोड़की [illegible]।

हमने भारतको एक खंड यानी देशोंका समुदाय न मानकर भारतवर्षके नामसे सारा एक ही देश माना, एक राष्ट्र माना।

इस प्रकारसे यूरोपवासियोंने सारा यूरोप एक नहीं माना। उन्होंने यूरोपको एक खंड (महाद्वीप) माना। उसके छोटे-छोटे टुकड़े किये। एक एक टुकड़ेको अपना मान लिया और एक-दूसरेसे घनघोर युद्ध किये। पिछले महासमरको ही ले लीजिये। लाखों लोग मरे। वे एक-दूसरेसे लड़े मगर आपसमें नहीं लड़े। यह कसूर उन्होंने नहीं किया। लेकिन हमने भारतको एक राष्ट्र मान लिया और हम आपसमें लड़े।

अक्सर या यूरोपीय इतिहासकार हमसे कहा करते हैं कि "तुम आपसमें लड़ते रहे, मत्स्य न्याय करते रहे। आपसमें लड़ना बुरा है यह तो मैं भी मानता हूं। लेकिन यह दोष स्वीकार करते हुए भी मुझे इस आरोपपर अभिमान है। हम लड़े लेकिन आपसमें। इसका अर्थ यह हुआ कि हम एक हैं, यह बात इन इतिहासकारोंको भी मंजूर है। उनके आक्षेपमें ही यह स्वीकृति आयी है। कहा जाता है कि यूरोपीय राष्ट्र एक-दूसरेसे लड़े लेकिन अपने ही देशमें आपसमें नहीं। लेकिन इसमें कौन-सी बड़ाई है। एक छोटे-से मानव-समुदायको अपना राष्ट्र कहकर यह शेखी बघारना कि हमारे अंदर एकता है आपसमें फूट नहीं है कौन-सी बहादुरी है? मान लीजिये कि मैंने अपने राष्ट्रकी 'मेरा राष्ट्र यानी मेरा शरीर' इतनी संकुचित व्याख्या कर ली तो आपसमें कभी युद्ध ही न होगा। हां मैं ही अपने मुंहपर चटसे एक थप्पड़ मार दूं तो अलबत्ता लड़ाई होगी। परन्तु 'मैं ही मेरा राष्ट्र हूं' ऐसी व्याख्या करके मैं अपने आड़े आये किसीसे भी लड़ूं तो वह भी आपसकी लड़ाई नहीं होगी क्योंकि मैंने तो अपने साढ़े तीन हाथके शरीरको ही अपना राष्ट्र मान लिया है। तात्पर्य हम आपसमें लड़े यह अभियोग सही है, परन्तु वह अभिमानास्पद भी है क्योंकि इस अभियोगमें ही अभियोग लगानेवालेने यह मान लिया है कि हम एक हैं हमारा एक ही राष्ट्र है। यूरोपके प्रभावोंने इस कल्पनाका विनाश किया। हम उसकी शिक्षा दी गई है। इतना ही नहीं वह हमारी रग-रगमें पैठ गई है। हम पुराने जमानेमें आपसमें लड़े तो भी यह एकराष्ट्रीयताकी भावना मात्र भी विद्यमान है। महाराष्ट्रने पंजाबपर, गुजरात और बंगालपर चढ़ाइयां

भी फिर भी यह एकराष्ट्रीयताकी आत्मीयताकी भावना नष्ट नहीं हुई।

जनताके इस गुणकी बदौलत तिलक सब प्रान्तोंमें प्रिय और पूज्य हुए। तिलक-गांधी तो अलौकिक पुरुष हैं। सब प्रान्त उन्हें पूजेंगे ही। परन्तु राजगोपालाचार्य जमनालालजी आदि तो साधारण मनुष्य हैं। लेकिन उनकी भी सारे प्रान्तोंमें प्रतिष्ठा है। पंजाब महाराष्ट्र कर्नाटक उनका आदर करते हैं। हमें उसका पता भले ही न हो लेकिन एकराष्ट्रीयताका यह महान् गुण हमारे खूनमें ही घुल-मिल गया है। हमारे यहां एक प्रान्तका नेता दूसरे प्रान्तमें जाता है लोगोंके सामने अपने विचार रखता है। क्या यूरोपमें यह कभी हो सकता है? जरा मान लीजिये मुसोलिनीको रूसमें व्याख्यानपर व्याख्यान दे। लोग उसे पत्थर मार-मारकर कुचल डालेंगे या फांसीपर लटका देंगे। हिटलर और मुसोलिनी जब मिलते हैं तो कैसा जबरदस्त बन्दोबस्त किया जाता है जैसी चुपचाप कुछ क्षणों मुलाकात होती है। मानो दो खूनी मानवी किसी षड्यन्त्रके लिए एक-दूसरेसे मिल रहे हैं! किन पत्थरोंकी दीवारें सब तरफ खड़ी करके सारे यूरोपमें द्वेष और मत्सर फैला दिया है इन लोगोंने। पर हिन्दुस्तानमें ऐसी बात नहीं है। तिलक-गांधीको छोड़ दीजिये। ये लोकोत्तर पुरुष हैं। किन्तु इतर साधारण लोगोंका भी सर्वत्र आदर होता है। लोग उनकी बातें ध्यानसे सुनते हैं। ऐसी राष्ट्रीय भावना ऋषियोंने हमें सिखाई है। पंजाब और बंगाल सर्वत्र इसका असर मौजूद है। अज्ञात रूपसे यह हमारी नस-नसमें विद्यमान है।

हम इस गुणका पता नहीं था। आइये अब ज्ञानपूर्वक हम उससे परिचय कर लें। आज तिलकका स्मरण सर्वत्र किया जायगा। उनके ब्राह्मण होते हुए भी महाराष्ट्रीय होते हुए भी सब जनता सर्वत्र उनकी पूजा करेगी क्योंकि तिलककी दृष्टि व्यापक थी। वह सारे भारतवर्षका विचार करते थे। वह सारे हिन्दुस्तानमें व्याप्त हो गये थे। यही तिलककी विशेषता है। भारतकी जनता भी प्रान्ताभिमान आदिका ख्याल न करती हुई गुणोंको पहचानती है। यह भारतीय जनताका गुण है। इन दोनोंके गुणोंका यह चमत्कार है कि तिलकका नाम सब लोग स्मरण कर रहे हैं। जैसे एक ही धानकी तहसील पर आम्ला और आम पैदा होते हैं उसी प्रकार एक ही

भारतमाताके बागमें जुदा जुदा फूल दिखाई देते हैं—कोई प्रेमी कोई स्नेही। फिर भी मीठे और मुलायम आम जिन गुठलीसे पैदा होते हैं उसीसे पेड़का कठिन तना भी पैदा होता है। इसी तरहसे हम ऊपरसे कितने ही भिन्न क्यों न दिखाई दें तो भी हम एक ही भारतमाताकी सन्तान हैं यह कदापि न भूलना चाहिए। इसे ध्यानमें रखकर प्रेम-भाव बढ़ाते हुए सेवकोंको सेवाके लिए तैयार करना चाहिए। जिसकने ऐसी ही सेवा की। माया है पार भी काय।

३९

भूदान-यज्ञ और उसकी भूमिका

हमारा यह मानव-समाज हजारों वर्षोंसे इस पृथ्वीपर जीवन बिता रहा है। पृथ्वी इतनी विशाल है कि पुराने जमानेमें इसपर मानवकी उपर के सामने वा पहचान नहीं रहती थी। हरेकको शायद इतना ही लगता था कि अपनी जितनी जमात है उतनी ही मानव-जाति है। पृथ्वीके ऊपर क्या क्या होगा इसका भान भी शायद उन्हें नहीं था। लेकिन जब-जैसे विज्ञानका प्रकाश फैलता गया मनुष्यका सम्पर्क पृथ्वीके साथ बढ़ता गया और सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक सभी दृष्टियोंसे मानवोंका आपसी सम्पर्क भी बढ़ता गया। जब कभी दो राष्ट्रोंका या दो जातियोंका सम्पर्क हुआ तो हर बार वह मीठा ही साबित हुआ हो ऐसी बात नहीं है। कभी वह मीठा होता था, कभी कड़वा, लेकिन युग बिताकर उसका फल मीठा ही रहा। इस बातकी मिसाल दुनियाभरमें मिल सकती है। लेकिन सारी दुनियाकी मिसाल हम छोड़ भी दें और केवल भारतका ही बयान करें तो मालूम होता कि बहुत प्राचीन जमानेमें यहाँ जो आर्य लोग रहते थे उनकी [illegible] थी और दक्षिणमें जो द्रविड़ लोग रहते थे [illegible] थी। इस तरह द्रविड़ और आर्योंकी सांस्कृतिक [illegible] बहुत [illegible] दोनों संस्कृतियाँ

उत्तर और दक्षिणकी अलग-अलग रही। हजारों वर्षोंतक इन लोगोंमें आपसमें कोई सम्बन्ध नहीं था, क्योंकि बीचमें एक बड़ा भारी दण्डकारण्य पड़ा था। लेकिन फिर दो जमातोंका सम्बन्ध हुआ। उसमेंसे कुछ मीठे और कुछ कड़वे अनुभव आये और उसका नतीजा आजका भारतवर्ष है। द्रविड़ लोग यहांके बहुत प्राचीन लोग थे। द्रविड़ और आर्यों, इन दोनोंकी संस्कृतिके संगमका लाभ हिन्दुस्तानको मिला और उससे एक ऐसा मिश्र राष्ट्र बना, जिसमें उत्तर और दक्षिणके अच्छे अंश एक साथ समझाने मिल गये, उत्तर और दक्षिण एक हो गये। उत्तरके लोग ज्ञान-प्रधान थे तो दक्षिणके लोग भक्ति-प्रधान थे। इस तरह ज्ञान और भक्तिका संगम हो गया, लेकिन इसके बाद यहां जो मिश्र समाज बना, उसकी व्यापकता भी एकांगी साबित हुई।

लेकिन बाहरसे मुसलमान लोग यहां आये और अपने साथ एक नई संस्कृति ले आये। उनकी नई संस्कृतिके साथ यहांकी संस्कृतिकी टक्कर हुई। मुसलमानोंने अपनी संस्कृतिके फैलावके लिए दो मार्ग अपनाये, ऐसा दीखता है। एक हिंसाका और दूसरा प्रेमका। ये दो मार्ग दो धाराओंकी तरह एक साथ चले। हिंसाके साथ हम गजनी, औरंगजेब आदिका नाम ले सकते हैं तो दूसरी तरफ प्रेम-मार्गके लिए अकबर और कबीरका नाम ले सकते हैं। हमारे यहां जो कमी थी, वह इस्लामने पूरी की। इस्लाम सबको समान मानता था। यद्यपि उपनिषद् आदिमें यह विचार मिलता है, लेकिन हमारी सामाजिक व्यवस्थामें इस समानताकी अनुभूति नहीं मिलती थी। हमने उसपर अमल नहीं किया था। व्यावहारिक समानताका विचार इस्लामके साथ आया। इस्लामके आगमनके समय यहां अनेक जातियां थीं। एक जाति दूसरी जातिके साथ न शादी-ब्याह करती थी, न रोटी-पानी। इस तरह यहां छोटी छोटी चौखटें बनी हुई थीं, लेकिन धीरे धीरे दो संस्कृतियां नजदीक आईं। दोनोंके गुणोंका लाभ देशको मिला। इन मिलनोंमें जो लड़ाई-झगड़े हुए और जो समन्वय हुआ, उसका इतिहास हम जानते ही हैं। जो लोग यहां आये, उन्होंने तलवारसे हिन्दुस्तान जीता या हिन्दुस्तानके लोग लड़ाईमें हार गये, यह कोई नहीं कह सकता, बल्कि लड़ाइयां हुईं, उसके पहले ही फकीर लोग यहां आये। वे गांव-गांव घूम

और उन्होंने इस्लामका सन्देश पहुंचाया। यहांके लिए यह चीज एकदम आकर्षक थी।

बीचके जमानेमें हिंदुस्तानमें बहुत-से सन्त हुए, जिन्होंने जाति भेदके खिलाफ प्रचार किया और एक ही परमेश्वरकी उपासनापर जोर दिया। इसमें इस्लामका बहुत बड़ा हिस्सा था। हिंदुस्तानको इस्लामकी यह बड़ी देन है। इस तरह पहले ही जो संस्कृति द्रविड़ और आर्योंकी अच्छाइयोंके मिश्रणसे बनी थी उसमें यह नया रसायन शामिल हुआ।

इसके बाद कुछ तीसरी खास पहलेकी बात है। यूरोपके लोगोंको मालूम हुआ कि हिंदुस्तान बड़ा सम्पन्न देश है और वहां पहुंचनेसे लाभ हो सकता है। इसी समय यूरोपमें विज्ञानकी प्रगति हुई। वे लोग हिंदुस्तान आ पहुंचे। हिंदुस्तानमें प्राचीनकालमें जो प्रगति हुई थी उसमें विज्ञानकी कमी थी। यह नहीं कि विज्ञान यहां था ही नहीं। यहां वैद्यक-शास्त्र मौजूद था, पदार्थ-विज्ञान शास्त्र मौजूद था, लोगोंको रसायन-शास्त्रका ज्ञान था। अच्छे मकान, अच्छे रास्ते, अच्छे नगर भी यहां बनते थे—यानी शिल्प विज्ञान भी था। प्राचीन हिंदुस्तान एक ऐसा प्रगतिशील देश था जहां उस जमानेमें अधिक से अधिक विज्ञान मौजूद था। लेकिन बीचके जमानेमें यहां विज्ञानकी प्रगति कम हुई। उसी जमानेमें यूरोपमें विज्ञानका आविष्कार हुआ और पाश्चात्य लोग यहां आ पहुंचे। अब उनके और हमारे बीच संघर्ष शुरू हुआ। उनके साथ हमारा सम्बन्ध कड़वा और मीठा दोनों प्रकारका रहा। तब इस मिश्रणसे एक और नई संस्कृति बनी। कुछ मिश्रण तो पहले ही हो चुका था। फिर जो जो प्रयोग यूरोपवालोंने अपने देशमें किये उनके फलस्वरूप न सिर्फ भौतिक जीवनमें बल्कि समाजशास्त्र आदिमें भी परिवर्तन हुए और जैसे जैसे अंग्रेज, फ्रेंच, जर्मन, रशियन आदिके विचारोंमें परिवर्तन होने लगा वैसे-वैसे यहांके नव-विचारोंका संघर्ष भी बढ़ने लगा। आज हम जहां जाते हैं वहां सोशलिज्म (समाजवाद) कम्युनिज्म (साम्यवाद) आदि-आदि विचार सुनते हैं। ये सारे विचार पश्चिमसे आये हैं। अब इन सब विचारोंमें संघर्ष शुरू हुआ है। उसमें कचरा-कचरा निकल जायगा। हमारी संस्कृति कुछ खोयेगी नहीं बल्कि कुछ पायेगी ही। यही देखो न! हिंदुस्तानमें—बावजूद इसके कि पश्चिमके विचारोंका प्रवाह

विस्तार वहां पाता रहा—यहां तक जमानेमें जिसमें आध्यात्मिक विचार वाले महापुरुष पैदा हुए उतने अब इस जमानेमें नहीं हुए। यहां भाग विग्रह तो समझ आयगा। अब इस समय भी उपाय हो रहा है इधरसे ही रहे हैं, चिंतन हो रहा है। यह तो जीवनकी अवस्था है जिसमें कई प्रकारके परिणाम होते हैं।

यह तो मैंने प्रस्तावके तौरपर आपके कुछ विचार रखे ताकि हिंदुस्तान की हालत आप लोग अच्छी तरह समझ सकें।

गांधीजीके जानेके बाद जब मैं सोचता रहा कि अब मुझे क्या करना चाहिए तो मैं निर्वासितोंके कामसे लग गया। परन्तु इसके कम्युनिस्टोंके कामके बारेमें मैं बराबर सोचता रहा। यहांकी कुछ पार्टियोंके कामोंके बारेमें कुछ जानकारी मिलती रहती थी फिर भी मेरे मनमें कभी घबराहट नहीं हुई क्योंकि मानव जीवनके इतिहासका कुछ दर्शन मुझे हुआ है। इसलिए मैं कह सकता हूं कि जब-जब मानव-जीवनमें नई करवटें मोड़ हुआ है तब कुछ अनर्थ भी हुआ है। इसकी वजह भी वही है। इसलिए हम बिना घबराये शान्तिसे सोचना चाहिए और शान्तिमय उपाय करना चाहिए।

मैंने सुना कि हम मुल्कमें घूमना चाहिए। लेकिन घूमना हो तो कैसे घूमा जाय? आज आदि साधन विचार योजक नहीं हैं। वे समय-नाशक हैं, कामका नाश करते हैं। जहां विचार फैलना है वहां आखिरी साधन चाहिए। पुराने जमानेमें जो कुछ चीजें आदि थे। आप उनका उपयोग भी

प्राप्त किया। कम्युनिस्टोंके कामके पीछे जो विचार है उसका सारभूत अंश हमें ग्रहण करना होगा, उसपर अमल करना होगा। यह अमल कैसे किया जाय इस बारेमें मैं सोचता था तो मुझे कुछ सूझ गया। ब्राह्मण मैं था ही याचनावतार मैंने ले लिया और भूमिदान मांगना शुरू कर दिया।

पहले-पहल लगता था कि इसका परिणाम वातावरण पर क्या होगा? थोड़े-से अमृतबिंदुओंसे खारा समुद्र मीठा कैसे होगा? पर धीरे-धीरे विचार बढ़ता गया। परमेश्वरने मेरे शब्दोंमें कुछ शक्ति भर दी। लोग समझ गये कि यह जो काम चल रहा है नैतिक है और सरकारकी शक्तिके परे है क्योंकि यह काम तो जीवन बदलनेका काम है। अब लोग दान देने लगे। एक जगह हरिजनोंने अस्सी एकड़ मांगे और एक भाईने सौ एकड़ दे दिये। इस तरह लोग मुझे देने लगे। यद्यपि लोगोंने मुझे काफी दिया तो भी मेरा काम इतनेसे पूरा नहीं होता।

जब विचार फैलेगा तब काम होगा। मैं चाहता हूं कि दरिद्रनारायणको जो भूखा है और अब जाग गया है, आप अपने कुटुंबका एक हिस्सा समझें और आपके परिवारमें चार लड़के हैं तो उसे पांचवां मान लें। एक भाईके पास पांच एकड़ जमीन थी। उस भाईसे मैंने जमीन मांगी तो उसने मुझसे कहा कि मेरे घरमें आठ लड़के हैं। मैंने पूछा कि अगर नौवां आवा तो उसे भी सहोगे या नहीं? उसने कहा "हां।" मैंने कहा "यही समझो कि मैं नौवां हूं और मुझे भी कुछ दे दो।" समझ लीजिये कि दस हजार एकड़ वाला सौ एकड़ देता है। आंकड़ा दीखनेको बहुत बड़ा दीखता है पर दाता और दरिद्रनारायण दोनोंके हिसाबसे यह कम है। इस आंकड़ेसे मैं तो संतुष्ट हो जाऊंगा परंतु देनेवालोंको नहीं होना चाहिए। अगर ऐसा होता कि यहां कोई युद्ध की या बाढ़ लोगोंके संकटनिवारणकी समस्या होती और मैं दान मांगता तो थोड़ा-थोड़ा देनेसे भी काम चल जाता, परंतु यहां तो एक राजकीय समस्या हल करनी है, एक सामाजिक समस्या सुलझानी है, जो समस्या न सिर्फ इस जिलेकी है न सिर्फ हिंदुस्तानकी है बल्कि पूरी दुनियाकी है। और जहां ऐसी राजनैतिक व सामाजिक क्रांति करनेकी बात है वहां तो मनोवृत्ति ही बदल देनेकी जरूरत होती है। अगर कोई छोटा सा संकट होता तो अल्प दानसे काम चल जाता, परंतु यहां दस हजार

एकड़ जमीन रखनेवाले यदि दो एकड़ देंगे तबभी तो काम नहीं चलता। उन्हें तो दरिद्रनारायणको अपने परिवारका एक हिस्सा समझकर दान देना चाहिए। मैं तो गरीब और श्रीमान् दोनोंका मित्र हूं। मुझे तो दोनोंमें ही भगवान् दीखता है। जो शक्ति सेनाओंमें है वह प्रेममें नहीं है। अनेक राजाओंने लड़ाइयां लड़कर जो शांति नहीं की वह बुद्ध ईसा रामानुज आदिने की। इनमेंसे एक-एक आदमीने जो काम किया वह अनेक राजाओंने मिलकर नहीं किया अर्थात् प्रेम और विचारकी तुलनामें दूसरी कोई शक्ति नहीं है। इस वास्ते बार-बार समझानेका काम पड़े तो भी मैं तैयार हूं। दो दफा समझानेसे कोई न समझ सका तो तीन दफा समझाऊंगा। तीन दफा समझानेसे यदि नहीं समझ सका तो चार दफा समझाऊंगा। और चार दफा समझानेसे भी नहीं समझेगा तो पांच दफा समझाऊंगा। समझाना यही मेरा काम है। जबतक मैं कामयाब नहीं होता तबतक मैं हारूंगा नहीं निरन्तर समझाता ही रहूंगा।

जो मैं चाहता हूं वह तो सर्वस्व दानकी बात है। जैसा पोतना कविने (तेलगु) भागवतमें बताया है— 'आलितवहल आदि धर्मबत्सलतनु' यीशुस गाथ विविधुवादु'। माता पिताके समान चिंता करनेकी यह उपमा मैं आपको लागू करना चाहता हूं। जिस प्रेमसे माता-पिता-बच्चोंके लिए काम करते हैं भूखे रहकर उन्हें खिलाते हैं उनके लिए सर्वस्वका त्याग करते हैं वह शक्ति और वह प्रेम मैं आप लोगोंसे प्रकट करना चाहता हूं।

आज मैं जनमें यह जाननेके लिए कम्युनिस्ट भाइयोंसे मिलने गया था कि उनके क्या विचार बन रहे हैं। उनके साथ जो बातचीत हुई, वह पूरी यहां बतानेकी आवश्यकता नहीं है। पर उन्होंने एक सवाल मुझसे किया कि क्या आप इन श्रीमानोंको वापस अपनी जगहोंमें ले जाकर बसाना चाहते हैं? क्या उनके दिलमें परिवर्तन होनेवाला है? आपको वे लोग ठग रहे हैं। यूं इस तरहका उनका भाव था। मुझे यहां उनसे बहुत नहीं करनी थी न उनके हर प्रश्नका जवाब ही देना था। लेकिन अगर यह बात सही है कि हरेकके हृदयमें परमेश्वर विराजमान है और हमारे श्वासोच्छ्वासका नियमन वही करता है और सारी प्रेरणा वही देता है तो मेरा विश्वास है कि परिवर्तन जरूर हो सकता है। अगर कालात्मा जड़ा

है और भगवान् परिवर्तन करना चाहता है तो परिवर्तन होने ही वाला है। मनुष्य चाहे या न चाहे जब मनुष्य प्रवाहमें पड़ता है तब उसकी तैरनेकी शक्ति ही उसके काम नहीं आती प्रवाहकी शक्ति भी काम आती है। उसी तरह मनुष्यके हृदयमें परिवर्तनके लिए आज प्रवाह अनुकूल होता है। आज तो सबकी भूमि तपी हुई है। ऐसी तपी हुई भूमिपर प्रेमकी दो बूंदें छिड़कानेका काम अगर भगवान् मुझसे करवाना चाहता है तो मैं वह खुशीसे कर रहा हूं। मैं तो गरीबोंसे भी जमीनें ले रहा हूं। एक एकड़वालेसे भी मैं एक टुकड़ा ले आया हूं। अगर वह आधा टुकड़ा देता तो भी मैं ले लेता। लोग पूछते हैं कि एक टुकड़ा जमीनका मैं क्या करूंगा? मैं कहता हूं 'कोई हर्ज नहीं। जिसने मुझे वह एक टुकड़ा दिया है उसीको *ट्रस्टी* बनाकर मैं वह जमीन उसे सौंप दूंगा और कहूंगा कि जो पैदावार उसमें होगी वह गरीबोंको दे देना। एक एकड़वालेको एक टुकड़ा देनेकी वृत्ति होना उसे ही मैं विचार क्रांति कहता हूं। जहां विचार क्रांति होती है वहीं जीवन प्रगतिकी ओर बढ़ता है। 'अपि प्राज्यम् राज्यम् तृणमिव परित्यज्य सहसा'—एक चावलके तिनकेकी तरह राज्यका परित्याग करनेवाला त्यागी इस भूमिमें हो गये हैं।

विचार-शक्तिकी कोई हद नहीं होती। एक विचार एक मनुष्यको ऐसा सूझता है कि उससे मनुष्यके जीवनमें क्रांति हो जाती है। आपने देखा कुछ महापुरुष भी ऐसे होते हैं जिनके विचारमें ऐसी शक्ति होती है कि दूसरेके जीवनको पलट देते हैं। इसलिए विचारको जगानेके लिए मैंने उस गरीबसे भी एक टुकड़ा जमीन ले ली और जहां मैं उन श्रीमानोंसे जमीन ले रहा हूं वहां उनके सिर पर मेरा वरदहस्त है—"आइए। तुम्हें अब अहंकार मानकर चलनेकी आवश्यकता नहीं है। कबतक आपसे रहोगे?" याने यहां मैंने श्रीमानोंसे भी एकड़ दान लिया वहां मैंने उनके मनमें एक अच्छा विचार भी जगा दिया। हरेक मनुष्यके दिलमें अच्छे-बुरे विचार होते हैं। अब उसके हृदयमें एक लड़ाई शुरू होती है, एक महाभारत युद्ध शुरू होता है।

'अविशम्य विविशुर्वे जनाय
उच्चाटनम्य चचली वसुधाते
सर्वोपत् सत्यं अतरत् अजीया
सविता शोभीत्यपि दूमि वा मनसत्'

माननेवाले जानते हैं कि हर मनुष्यके हृदयमें सत् और असत्की लड़ाई चलती रहती है। जो सत् होता है, उसकी रक्षा होती है और जो असत् है, उसका खात्मा होता है। इसीलिए लड़ाई होती है, ऐसा माननेका कारण नहीं है। परन्तु उसके द्वारा अन्यायके भी कई काम हुए होते हैं। बिना अन्यायके हजारों एकड़ जमीन कभी जमा हो सकती है? अर्थात् जिन्होंने दान दिया है उन श्रीमानोंके जीवनमें कई तरहका अन्याय और अनीतिका होना सम्भव है। परन्तु उनके हृदयमें भी एक मसला पैदा होता कि क्या हमने जो अन्याय किया है, वह ठीक है? परमेश्वर उन्हें बुद्धि देता है अन्याय छोड़ दो। परिणाम इसी तरह हुआ करता है।

मेरी प्रार्थना है कि जब पैसा कमाया जाता है, आप सब लोग दिल खोलकर दीजिये। देनेसे एक दैवी सम्पत्ति निर्माण होती है। उसके सामने आसुरी सम्पत्ति टिक नहीं सकती। आसुरी सम्पत्ति छूट जाना चाहती है। वह ममत्वभावपर आधार रखती है। समत्व नहीं चाहती। दैवी तो समत्व पर आधार रखती है। दैवी और आसुरी सम्पत्तिकी यह पहचान है।

जहां मैं दान लेता हूं वहां हृदय-मन्थनकी, हृदय-परिवर्तनकी, आत्म-सम्बन्धकी, आत्म भावनाकी, मैत्रीकी और गरीबोंके लिए प्रेमकी आशा करता हूं। जहां दूसरोंकी फिक्रकी भावना जागती रहती है, वहां समत्व बुद्धि प्रकट होती है, वहां वैरभाव टिक नहीं सकता। वैरभावका स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं होता। पुण्यमें ताकत होती है, पापमें कोई ताकत नहीं होती। प्रकाशमें शक्ति होती है, अन्धकारमें कोई शक्ति नहीं होती। प्रकाशका अन्धकारसे मुकाबला नहीं हो सकता। प्रकाश वस्तु है, अन्धकार अवस्तु है। क्योंकि अन्धकारमें प्रकाश ले जाइये, एक क्षणमें अन्धकारका निवारण हो जायगा। वैसे ही आज पुण्योदय हुआ है। उसके सामने पापभाव टिक नहीं सकता। यह भू-दान-यज्ञ अहिंसाका एक प्रयोग है, जीवन परिवर्तनका प्रयोग है। मैं तो निमित्तमात्र हूं। आप भी निमित्तमात्र हैं। परमेश्वर आप लोगोंसे और मुझसे काम कराना चाहता है। यह काल पुरुषकी परमेश्वरकी प्रेरणा है। इसलिए मैं मांग रहा हूं। तब आप लोग दीजिए और दिल खोलकर दीजिए। यहां मांग एक छोटे जमीनके लिए मांगता है, यहां पर महान काम सैकड़ों हजारों एकड़ जमीन देनेके लिए

तैयार हो जाते हैं। तो आप समझिये कि यह परमेश्वरकी प्रेरणा है। इसके साथ हो जाइये। इसके विरोधमें मत खड़े रहिये। इसमें भला-ही भला होगा।

आज मैं फिरसे कहता हूं कि हम विज्ञानसे पूरा लाभ उठाना चाहते हैं। अगर हम विज्ञानसे पूरा लाभ उठायें तो इस भूमिको हम स्वर्ग बना सकते हैं। लेकिन फिर हमें विज्ञानके साथ हिंसाको नहीं अहिंसाको जोड़ना होगा। अहिंसा और विज्ञानके मेलसे ही यह भूमि स्वर्ग बन सकती है। हिंसा और विज्ञानके मेलसे यह स्वर्ग नहीं बन सकती बल्कि खतम हो सकती है।

पहले लड़ाइयां छोटी-छोटी होती थीं। जरासंध-भीम लड़े कुश्ती हुई, पाण्डवोंको राज्य मिल गया सारी प्रजा खून-खराबीसे बच गई। अगर इस जमानेमें वैसी लड़ाइयां लड़ी जायं तो इसमें हिंसा होनेपर भी नुकसान कम है। इसलिए यह द्वन्द्व-युद्ध मैं कबूल कर लूंगा। अगर हिटलर और स्टालिन कुश्तीके लिए खड़े हो जाते हैं और तय करते हैं कि जो हारेगा वह हारेगा और जो जीतेगा वह जीतेगा तो मैं उसे कबूल कर लूंगा। और अगर दुनिया वह द्वन्द्व देखने को आई है तो मैं उसका निषेध नहीं करूंगा क्योंकि दुनियाका उसमें विशेष नुकसान नहीं होगा। परन्तु द्वन्द्व-युद्धका जमाना अब बीत गया है। पहले द्वन्द्व-युद्ध होते थे फिर हजारों लोग आपसमें लड़ने लगे। हजारोंकी लड़ाई खतम हुई तो लाखों लड़ने लगे। उससे भी नतीजा नहीं निकला। फिर क्या इधर बीस लाख तो उधर पच्चीस लाख और इधर पच्चीस तो उधर पचास लाख। इस तरह यह जमाना आया कि हजारों-लाखों नहीं करोड़ों लोग आपसमें लड़ने लगे। मनुष्यके सामने सवाल यह है कि या तो 'टोटल वार' की तैयारी करो या हिंसा छोड़ो और अहिंसाको अपनाओ। मैं कम्युनिस्टोंको यही समझाता हूं कि भाइयो तुम लोग यहीं दो-चार खून करते हो यहीं दो-चार मकान जलाते हो यहीं कुछ लूट-पाट कर लेते हो रास्तेमें घात होते हो रेल पटरियां उखाड़ते हो लेकिन अब छुटपुट जमाना खतम हो चुका है। अब ऐसी छुटपुटमें कोई लाभ नहीं है। अगर लड़ाई लड़नी है तो विश्वयुद्ध (वर्ल्ड वार) की तैयारी करो और उसीको याद रखो। लेकिन जबतक करोड़ोंके पैमानेपर हिंसा करनेकी तैयारी नहीं करते तबतक छोटी छोटी लड़ाइयोंका यह ढकोसला

छोड़ दो और तुम्हें वोट देनेका जो अधिकार मिला है, उसमें लाभ उठाओ। प्रजाको अपने विचारके लिए तैयार करो। आध्यात्मिक युद्ध या परिशुद्ध प्रेम ऐसी समस्या विज्ञानने हमारे सामने खड़ी कर दी है।

इसलिए अगर प्रेमका अहिंसाका तरीका आजमाना चाहते हो तो इस जमीनका ममत्व छोड़ दो नहीं तो हिंसाका ऐसा जमाना आनेवाला है कि उसमें सारी जमीनें और उस जमीनपर रहनेवाले प्राणी खतम हो जायेंगे। यह समझकर कि भगवानने यह समस्या हमारे सामने खड़ी कर दी है भाइयो! निरन्तर दान दिया करो।

६०

ग्रामदानकी विचार और आचार-योजना

अंग्रेज हिंदुस्तानमें किस तरह आये और कैसे स्थिर हुए, उसका इतिहास सब जानते हैं। मार्केकी बात यह है कि पहले उनके राज्यके लिए हम लोगोंमें कुछ श्रद्धा भी थी परन्तु कुछ दिनोंमें उस श्रद्धाका पर्यवसान अश्रद्धामें हुआ। फिर बहुत दिनोंके बाद यह निश्चय हुआ कि स्वराज्य-प्राप्तिके बिना हिंदुस्तानके दुःख नहीं मिटेंगे। दादाभाई नौरोजीने १९०६ में कलकत्ता-कांग्रेस में हिंदुस्तानको स्वराज्यका मंत्र दिया। उसके बाद लोकमान्य तिलकने और फिर महात्मा गांधीने उस कार्यक्रमको उठा लिया। हजारों लोग उनके साथ जुट गये। बहुत तीव्र प्रयत्नके बाद स्वराज्यकी प्राप्ति हुई।

इस प्रकार जब एक मंजिलकी सिद्धि हो जाती है तब साधकोंकी हिम्मत बढ़ती है। जो साधक नहीं होते उनकी शक्ति मंजिल-सिद्धिके बाद क्षीण हो जाती है। उनका मन सिद्ध हो गया तो फिर उनकी भोग-वासना जागृत हो जाती है। फिर वे नई तपस्या नहीं कर पाते। परन्तु जो साधक होते हैं, उनका एक मंजिलकी सिद्धिके बाद उत्साह बढ़ता है। हिंदुस्तानमें भी साधक काफी संख्यामें थे, जिन्हें गांधीजीकी तालीम मिली थी। उन लोगोंने स्वराज्य प्राप्तिके बाद अपने सामने सर्वोदयका ध्येय रखा। एक मंजिलकी सिद्धिके बाद जब जीवन

दूसरा मंत्र आता है तो मनुष्यके जीवनकी सिद्धिके लिए यह बहुत ही सौभाग्य की बात समझनी चाहिए। जैसे कालिदासने लिखा है "क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते" अर्थात् जब एक क्लेश फलित होता है तो साधकोंको फिरसे नये क्लेशकी हिम्मत होती है। वैसे ही हिन्दुस्तानको स्वराज्यके बाद नये मंत्रकी प्राप्ति हुई। उन्हें यह मंत्र ढूंढना नहीं पड़ा। वह गांधीजीकी स्फूर्ति थी कि एक मंत्रकी सिद्धि के पहले ही उन्होंने दूसरा मंत्र तैयार रखा था। जो क्रान्तिदर्शी होते हैं उनका यह लक्षण है कि वे दूरका देखते हैं। गांधीजी ने भी बहुत दूरका देख लिया था। १९१७में यानी स्वराज्य प्राप्तिके तीस साल पहले ही उन्होंने दक्षिण भारतमें हिंदीका काम शुरू किया था। वे चाहते थे कि हमलोग हिंदीमें अच्छी तरह तैयार हो जायं तो स्वराज्यके बाद प्रगति कर सकेंगे। १९३७में यानी स्वराज्य के दस साल पहले ही उन्होंने नई तालीमकी योजना दी ताकि स्वराज्यके बाद नई तालीम शुरू हो जाय और देशकी प्रगति न रुके। इस तरहसे स्वराज्य प्राप्तिके बाद क्या करना पड़ेगा इसका भी दर्शन उन्हें पच्चीस-तीस साल पहले ही हुआ था। स्वराज्यके बाद सर्वोदय करना होगा यह मंत्र उन्होंने दे रखा था।

भारतका यह बहुत बड़ा भाग्य है कि एक मंत्रकी सिद्धिके बाद दूसरा मंत्र उपस्थित हुआ। मंत्रकी सिद्धिके लिए तपस्या करनी पड़ती है। एक तपस्या पूरी होनेके बाद फौरन दूसरी तपस्या शुरू करनेका मौका भगवानने हमें दिया। जिस जीवनमें तपस्या नहीं मंत्र नहीं वह जीवन सुखमय हो तो भी निस्सार हो जाता है। मनुष्यको उस सुखमें रस नहीं मालूम होता है। फिर मनुष्य यह करता है कि परम खानेकी चीजें खूब पड़ी रहनेपर भी एकादशीका उपवास करता है। सुखमें मनुष्यको समाधान नहीं होता है, इसलिए वह तपस्या ढूंढता है। सुखमें पशुको समाधान होता है लेकिन मनुष्यको कोई मंत्र चाहिए तपस्या करनेका मौका चाहिए। स्वराज्य प्राप्तिके बाद हमें फौरन एक मंत्र प्राप्त हुआ और भाग्यसे उस काममें लग गये। सत्ता हाथमें आई तो उसके साथ कई प्रकारकी बाधाएं भी आईं। कुछ लाचारीसे सत्ता हाथमें लेनी पड़ी। वह आवश्यक भी था। परन्तु उस वक्त बहुत पीड़ा सहन करनी पड़ी। देशमें खूब हिंसा चली। पचास लाख लोग पाकिस्तानसे हिंदुस्तान आये और करीब उतने ही

हिंदुस्तानमें पाकिस्तान पृथक् निवास बहुत बड़ी समस्या खड़ी हुई। परस्पर द्वेष बढ़ा। किसीका किसीपर विश्वास नहीं था। स्वराज्य प्राप्त तो हुआ परन्तु उसके टिकनेका अवसर भी भरोसा नहीं रहा। उस हालतमें सर्वोदय तो नहीं टिक सका और सर्वनाशका संकट दीखने लगा।

किसी तरहसे परिस्थिति संभल गई और उसके बाद देशमें योजना बनी। उस योजनामें सर्वोदयका तो नहीं पता नहीं चला। यह सोचा गया कि देशकी रक्षा पक्की होनी चाहिए। तो भरसक रक्षण होनी चाहिए। जहां मनुष्य युद्धकी व्यवस्था कर लेता है, वहां बड़े-बड़े उद्योगोंका विकास करना होता है क्योंकि आधुनिक युद्ध-कलामें उसकी जरूरत होती है। हिंदुस्तानके दो टुकड़े होनेसे थे। एक-दूसरेका एक-दूसरेको भय था। इस हालतमें कोई भी देश अपनी योजना स्वयं नहीं करता है। हम नाममात्रका राष्ट्रीय प्लानिंग करते हैं लेकिन वास्तवमें अपना 'प्लानिंग' हम नहीं करते हैं, बल्कि दूसरे देश हमारा प्लानिंग करते हैं। पाकिस्तानने सेना बढ़ाई तो हमारे प्लानिंगमें भी सेना बढ़ानेकी बात आती है। फिर हम प्लानका बहुत-सा पैसा उसीमें लगाना होता है। इसका मतलब यह होता है कि आपके देशका प्लानिंग पाकिस्तानने किया। प्लान करनेके लिए दिल्लीमें हम बैठे प्लान हमारे हाथसे हुआ परन्तु हमारे दिमागसे नहीं हुआ। हमारा दिमाग कहता था कि अधिक-से अधिक पैसा गरीबोंकी सेवामें लगाना चाहिए और सेना पर कम-से-कम खर्च करना चाहिए, गांधीजीके बताये हुए अहिंसाके मार्ग पर चलना चाहिए फिर भी हमारे हाथोंसे लिखा कि सेनाका बल बढ़ाना चाहिए क्योंकि हमारा प्लानिंग पाकिस्तानने किया और पाकिस्तानका प्लानिंग किसने किया वहां तो अभी चुनाव ही नहीं हुए हैं और इस सालमें पांच मंत्रि मंडल बदल गये तो वे क्या प्लानिंग करेंगे। पाकिस्तान मदद बन गया है अमरीकाकी ताकत गया है। पाकिस्तानका प्लानिंग अमरीका करता है और आपका प्लानिंग पाकिस्तान करता है। अब सर्वोदय कहां रहेगा? इस हालतमें सर्वोदय अगर चलेगा तो मन-शक्तिसे चलेगा।

सर्वोदयके साधक बापू थे। वे हमारे बिराम हो गये। वे खूब जानते थे परन्तु समझते थे कि अपनी मृत्युके साथ यह चरखा भी लोगोंके काममें आयेगा। वे कहते थे कि हम तो कातना नहीं छोड़ेंगे क्योंकि हमने

यह व्रत लिया है। हम तो यह पातिव्रत बराबर निभाएंगे, परन्तु इसमेंसे कुछ निकलेगा नहीं। दुनियामें एक चरखा चलेगा नहीं, मिल ही चलेगी। जो साधक नहीं थे उन्होंने कातना छोड़ दिया था, परन्तु जो साधक थे उन्होंने नहीं छोड़ा। वे कहते थे कि हम इस उपासनाको नहीं छोड़ेंगे, परन्तु उनके मनमें आशा नहीं थी। इस तरह सर्वोदय निराशामें पहुंच गया था। 'सर्वोदय' शब्द तो लोगोंने उठाया, परन्तु 'सर्वोदय होटल' भी खुल गया, मानो वह शब्द राम-नामके-जैसा पवित्र बन गया। जैसे किसी कारखानेको भी रामजीका नाम दिया जा सकता है, वैसे ही सर्वोदयकी हालत हो गई। 'सर्वोदय' शब्द बहुत अच्छा है, यह विचार सबको कबूल है, परन्तु अमल नहीं आयेगा, अव्यवहार्य है, ऐसा लोगोंका निर्णय हुआ। इसपर भी सर्वोदयके साधक काम कर रहे थे।

हम भी ढूंढ रहे थे कि सर्वोदयकी शक्ति कहांसे प्रकट होगी। होते होते भगवानकी कृपासे तेलंगानामें भूदान-यज्ञका जन्म हुआ और सर्वोदय की अहिंसक पद्धतिसे कुछ-न-कुछ काम बन सकता है, इसका थोड़ा दर्शन वहांपर हुआ। तेलंगानाके दो महीनेके भूदान-कार्यसे वहां थोड़ी शान्ति हुई। उसके बाद कम्युनिस्टोंने चुनावमें हिस्सा लिया और एक प्रदेशमें उनकी सरकार भी बनी। उन्होंने संविधानके अन्दर रहकर काम करनेका निश्चय किया। इस तरहसे परिवर्तन होता गया तो सर्वोदयका विचार कुछ पराक्रम कर सकता है, व्यवहारमें आ सकता है, ऐसा कुछ थोड़ा भास लोगोंको हुआ। सर्वोदय अच्छा विचार है, इसमें किसीको सन्देह नहीं था। परन्तु वह व्यावहारिक है या नहीं, इस बारेमें सन्देह था। लेकिन वह शायद कुछ व्यावहारिक है ऐसा भास हुआ तो सर्वोदयके साधकोंकी कमर मजबूत हुई। आखिर भूदानके आगे बढ़ते-बढ़ते उसमेंसे ग्रामदान निकला तो एक मानसिक चमत्कार हुआ, यानी सर्वोदयमें काफी शक्ति पड़ी है, इसका भास हुआ।

इसके बाद और एक बात हुई जो उससे भी बड़ी थी, लेकिन उसकी तरफ लोगोंका जितना ध्यान जाना चाहिए था उतना नहीं गया। आरम्भमें भूदानका काम चला और आखिर ग्रामदान हुआ। उसका आधार यह था कि जिले-जिलेमें भूदान-समिति थी। जैसे हर जिलेमें कांग्रेस-कमेटी होती है, वैसे हिन्दुस्तानके तीनसौ जिलोंमेंसे करीब ढाईसौ जिलोंमें भूदान-समिति

थी। इसके लिए गांधी-निधिसे कुछ मदद भी मिलती थी। यह अच्छा ही था। गांधी-निधिका उसमें बहुत सुन्दर उपयोग होता था, क्योंकि गांधीजीके स्मारकके लिए यह निधि थी और गांधीजीके विचारोंका प्रचार जितनी अच्छी तरह इससे हो सकता है उतना और किसीसे नहीं हो सकता है। इस बातको सब ऐसा महसूस करते थे और गांधी-निधिवाले बड़ी खुशीसे भूदानके लिए पैसा देते थे।

ग्रामदान होनेके बाद हमारे चित्तमें एक कल्पना पैदा हुई। हमें लगा कि अब और एक क्रांतिकारक कदम उठाना चाहिए। भूदानसे ग्रामदान तक प्रगति होनेसे विचार काफी विकसित हो गया है। अब यह काम तंत्र-मुक्त चलना चाहिए। इसलिए भूदानके लिए जो गांधी-निधिका आधार लिया जाता था, वह हमने बन्द किया और साथ साथ भूदान-समितियां आदि तोड़ दीं। कोई भी पार्टी जो व्यापक बनी है, अपना संगठन और मजबूत करना चाहती है। लेकिन यहां हमने बिलकुल उससे उलटी प्रक्रिया चलाई। एक ही प्रस्तावसे सारे भारतकी कुल भूदान-समितियां खत्म कर दीं। क्रान्तिके विचारका इतिहास लिखनेवाला भविष्यका इतिहासकार इस घटनाको बहुत महत्त्व देगा। यही वास्तवमें इतिहास है, जिसमें मानवकी कल्पनाका किस तरह विकास हुआ यह बताया गया है।

हमने यह कदम क्यों उठाया? क्रान्तियां नैतिक होती हैं, तांत्रिक नहीं होती हैं। सबके उपर क्रान्ति होती है, सबके संगठनके बलसे नहीं। संस्थामें कोई छोटा-मोटा सेवाका काम हो सकता है, उसके द्वारा दान मिल सकते हैं, परन्तु जन-समाजमें क्रान्ति लानेका काम उसके द्वारा नहीं हो सकता। क्रान्तिके लिए सब चाहिए और लोग सारे मुक्त हों। हरकोई अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार काम कर सकता हो। इस तरह सारी जनतापर आन्दोलन छोड़ दें, तब क्रान्ति हो सकती है।

इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ प्रान्तोंमें जहां पहले ४-५ कार्यकर्ता थे, उनके बदले सैकड़ों कार्यकर्ता हुए और कुछ प्रान्तोंमें जहां पहले कार्यकर्ता थे, वे भी फिर गये। इस तरह दोनों परिणाम निकले। हमने दोनों परिणामोंकी कल्पना कर रखी थी और मनमें दोनोंकी तैयारी भी। भूदान-समितियां टूटनेके बाद कुछ शिथिलताका भाव फैल जाता तो भी हमें चिन्ता

कि हमने जो कदम उठाया वह सही है क्योंकि यह एक प्रारम्भ है। सिद्धांत है कि क्रांतियां कभी संस्थाओंके जरिये नहीं होतीं। संस्थाका एक ढांचा होता है, एक अनुशासनकी पद्धति होती है, उसके अन्दर रहकर सबसे काम लिया जाता है। उसमें बुद्धि-स्वातंत्र्य नहीं रहता है।

आजके लोकतंत्रमें यह दोष देख सकते हैं। मान लीजिये कि चुनावमें १ %लोगोंने एक पार्टीको वोट दिया, बाकीके १ %ने २-४ पार्टियोंको मिलकर वोट दिया और ८ %ने किसीको वोट ही नहीं दिया। अब जिस पार्टीको ३ %वोट मिले उस पार्टीका राज्य चलेगा और वे १ % लोगों पर राज्य करेंगे। अब वे जो १ %वोट पानेवाले राज्य करने लगे उनकी सरकारकी तरफसे पार्लमिंटमें एक बिल आता है जिसकी चर्चा पहले पार्टीकी बैठकमें होती है। वहां ११%लोगोंने इस बिलको कबूल किया और १८%ने कबूल नहीं किया तो भी पार्टी-बैठकमें वह बिल पास हो जाता है। फिर वह बिल पार्लमिंटमें आता है, तो जिन १४%ने उसे पसंद नहीं किया उन्हें भी वहां उसे पसंद करना पड़ेगा। उसके पक्षमें हाथ उठाना पड़ेगा क्योंकि पार्टीका अनुशासन होता है। तो आखिर भारतपर कितने प्रतिशतकी सत्ता चली? यह केवल भारतकी ही हालत नहीं है सारी दुनियाके लोकतंत्रोंकी हालत है। आखिर १९ /का राज्य चलता है और इसका नाम है बहुमतका शासन और वे जो १९ हैं उनमें भी २ ४ लोगोंके पीछे सब लोग चलते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि २ ४ व्यक्तियोंके ही दिमाग का राज्य भारतपर चलता है। संस्था की मेंबरीमें यह सब होता है। इसमें क्रांतिका सवाल ही नहीं आता है क्योंकि बुद्धिकी आजादी नहीं होती। वहां तो हाथोंकी गिनती होती है। इसीलिए हमने कहा कि क्रांतिके लिए तंत्र नहीं चाहिए। हमारे इस निश्चयके बाद ग्रामदानोंकी संख्या बढ़ती ही गई।

भूदानमें एकके बाद एक अद्भुत घटनाएं घटती गईं। लोग भूदानके विचारकी ओर ध्यान देने लगे यह एक आश्चर्य ही है। फिर भूदानसे आरम्भ करते-करते लोग ग्रामदान तक आते हैं यह दूसरी बड़ी घटना है। फिर सारे भारतमें जो तंत्र बना था वह तोड़नेके लिए लोग तैयार हो गये यह और एक बड़ी घटना है। बावजूद तंत्र तोड़नेके ग्रामदान बढ़ रहे हैं यह एक अद्भुत ही घटना है और इस सबके सिरपर एक बड़ी घटना मैसूर प्रदेशमें

घटी। वहां हिंदुस्तानके भिन्न-भिन्न राजनैतिक पक्षोंकी चोटीके नेता, जिनके विचार एक दूसरेसे मिलते नहीं, इकट्ठे हुए और उन्होंने प्रस्ताव करके बाबाको ग्रामदानका काम उठानेका आदेश दिया। लोग हमसे पूछते हैं कि बाबा आप तो १९५७ में क्रांति होगी ऐसा कहते थे। हम उनसे कहते हैं कि क्या आप देखते नहीं कि क्रांति हो चुकी है, क्या आपको उसका दर्शन नहीं हुआ? वहां परस्पर विरोधी विचार रखनेवाले देशके यच्चयावत् नेता ग्रामदानका एक विचार मान्य करते हैं, वहां वैचारिक क्रांति हुई या नहीं हुई। वैचारिक क्रांति ही वास्तव में क्रांति है। वह हाथोंसे होनेवाली है, वह पीछे आती है। इसलिए आगेका सवाल बहुत कठिन नहीं है।

हम तो बिल्कुल विचारसे भर गये हैं। क्रांति हमारे साथ आयी है। हम उसके पीछे-पीछे जाते थे उसे पकड़ना चाहते थे अब वह हमारी पकड़ में आयी है। उसे हाथमें लेकर अब हम आगे बढ़ेंगे।

अब इसके आगे हमें क्या करना है इस बारेमें मैं योजना रखूंगा। अब वैचारिक क्रांति होगई तो अब इसके आगे हमारे कार्यकर्ताओंको जागृत रहना चाहिए। उनके मुखसे मधुर वाणी ही निकलनी चाहिए। खंडन नहीं होना चाहिए। यह जो मैंने नेताओंके सम्मेलनके पहले ही कालडीमें कहा था कि अब खंडन पर्व समाप्त हुआ है इसके आगे परम शांतिपर्व आया है। नेताओंके सम्मेलनके बाद हरेकको इसका दर्शन होना चाहिए कि हम कुछ खंडन करते हैं तो हमारे कामके लिए वह बाधक होगा। अब विश्वास रखना चाहिए कि राष्ट्रका संकल्प हुआ है, इस संकल्पके पीछे परमेश्वरका बल है। अब यह बाबाका व्यक्तिगत संकल्प नहीं रहा है, न वह सर्वोदयके साधकोंका संकल्प रहा है। यह कुल हिंदुस्तान देशका संकल्प हुआ है। इसलिए हमें परमेश्वर दर्शन तो हो चुका है इसके बाद उसकी सेवा करनेका कार्यक्रम है यह अब प्रेमसे हम करेंगे। जबतक परमेश्वरका दर्शन नहीं हुआ था तबतक बड़ी बिकट साधना करनी पड़ती थी। वैराग्य बहुत जरूरी था। बहुत नेति नेति विवेक आदि की जरूरत थी। परंतु ईश्वरका दर्शन होनेके बाद तो प्रेमसे सेवा करनी है। इसलिए जहां देशको नेताओंका आदेश मिल गया वहां हमें क्रांतिका दर्शन हो गया।

अब लोगोंको काममें जोश आना चाहिए। हमने कहा कि इसके आगे

कार्यकर्ताओंके मुखसे मंगल शब्द ही निकलना चाहिए। कहीं किसीकी मदद मिली नहीं मिली तो कोई चिंता नहीं करनी चाहिए। यह देशका कार्य है और देश इसे उठायेगा ऐसा विश्वास रखना चाहिए।

दूसरी सूचना यह है कि ग्रामदानका विचार क्या है इसे पूर्ण रूपसे समझ लीजिये। अभीतक लोग समझते थे कि जिनके पास है उनसे लेना है, और जिनके पास नहीं है उनको देना है यानी जिनके पास है उनका देनेका धर्म है और जिनके पास नहीं है उनका लेनेका ही धर्म है। धर्म इस तरह नहीं होता है। धर्म सबको लागू होता है। सत्य बोलना धर्म है तो किनके लिए है? सबके लिए है। प्रेम करना आदि धर्म है तो सबके लिए है। उसी तरह अगर देना धर्म है तो देनेका धर्म सबको लागू है। इसलिए समझनेकी जरूरत है कि इस देशमें और दुनियामें संपत्तिहीन कोई नहीं है। हरकिसीके पास देने लायक कुछ-न-कुछ चीज है। किसीके पास जमीन है किसीके पास संपत्ति है किसीके पास बुद्धि है किसीके पास श्रम-शक्ति है। प्रेम तो सबके पास है अथवा होना चाहिए। जिसके पास देनेकी जो चीज है वह उसे ग्राम दानमें देनी चाहिए। गांवके सब जमीनवालोंने अपनी सारी जमीन दान दी तो ग्रामदान हुआ यह अपूर्ण विचार है। जमीनवाले अबतक अपनी जमीन का उपयोग अपने घरके लिए करते थे अब उन्होंने जमीनका उपयोग गांव के लिए करनेका तय किया है यह बहुत अच्छी बात है। उसी तरहसे मजदूर अबतक अपनी मजदूरीका उपयोग घरके लिए करते थे अब उन्हें अपनी मजदूरी सारे ग्रामको समर्पण करनी चाहिए। ग्रामदानमें केवल जमीनवालों का ही हृदय-परिवर्तन नहीं करना है कुल जनताका हृदय-परिवर्तन करना है। कुछ लोगोंसे लेना और कुछ लोगोंको देना ऐसा यह विचार नहीं है। आरंभ में तेलंगानामें जब भूदान-यज्ञ शुरू हुआ था तब ऐसा विचार था और हम भी इस तरह कहते थे लेकिन आजतकमें सचार करते-करते विचारका विकास हुआ और अब एक पूर्ण विचार आया है कि ग्राममें जिस किसीके पास जो भी हो वह ग्राम-समाजके लिए अर्पण करे। इस पूर्ण-विचारको समझकर इसे जनताके सामने रखना चाहिए।

तीसरा सूचना यह है कि हम एक बातमें लोगोंको निर्भय बनाना चाहिए। कुछ लोग समझे हुए हैं कि ग्रामदान हुआ तो गांवकी कुल जमीन

एक करनी पड़ती। फिर सारे लोग मजदूर-ही-मजदूर बनेंगे। यह बिलकुल गलत विचार है। गांवकी योजना गांववाले अपनी इच्छाके अनुसार ही करेंगे। अगर वे चाहें तो गांवकी कुल जमीनको एक जगह कर सकते हैं, चाहें तो चार खेत बना सकते हैं, चाहें तो हर घरमें जमीन बांट सकते हैं। मालिकियतके तौर पर नहीं, बल्कि काश्त करनेके लिए। इस तरहसे वे जिस प्रकारकी योजना चाहते हैं वैसी कर सकते हैं। लेकिन एक बात बड़े महत्त्वकी है कि जो भी करें, एक-दूसरेके साथ सहयोगकी भावना होनी चाहिए। सहयोग भावना जो मूल है, वह होना चाहिए, फिर खेती सहकारी बनानी है या नहीं, यह विषय गौण है। ग्रामदानके हर गांवमें एक ही प्रयोग नहीं चलेगा, बल्कि भिन्न-भिन्न प्रयोग चलेंगे। उनमें किस प्रयोगसे ज्यादा लाभ होता है, यह सब देखेंगे। हम चाहते हैं कि लोग अलग न रहें, सब लोग एकत्र काम करें तो अच्छा होगा। परन्तु यह पूर्ण विचारसे और स्वतंत्र बुद्धिसे करनेकी बात है, इसमें दबाव कुछ नहीं है।

चौथी बात यह है कि ग्रामदानमें किसीको कुछ भी खोना नहीं है। यह बात प्रथम ध्यानमें आनी चाहिए। राजा-महाराजा गये और उनकी रियासतें भारतमें शामिल हुईं, इसमें उन्होंने क्या खोया? उन्हें पूरा रक्षण मिला और जो ताकतका वैभव उनके पीछे लगा था, जिसकी उन्हें चिन्ता करनी पड़ती थी, वह खत्म हुई और उनमें जो बुद्धिवाले थे, उन्हें प्रजाका प्रेम मिला। इसी तरहसे ग्रामदानमें किसीको कुछ खोना नहीं है। जैसे अपना पैसा बैंकमें रखना उसी तरह है। व्यक्तिके लिए समाज ही उत्तम बढ़कर बैंक है। सारे समाजको अपनी जमीन समर्पण करनेसे व्यक्तिका पूरा रक्षण है। इसने चार वैज्ञानिक सूचनाएं दीं। अब आधार-योजनाके बारेमें कुछ कहूंगा।

अब इस कल्पनाका भार, मुखियाके, तब कार्यकर्ताओं पर है। ऐसा नहीं मानना चाहिए, हमने एकदम ग्रामनिधि तोड़ डाली, फिर भी एक किसीके लिए [illegible] के तौर पर [illegible] मनुष्य रखा। [illegible] बन पाया है [illegible] तक सब [illegible] न विभाजन [illegible]। [illegible] एक विशेष [illegible] [illegible] प्रयत्न ज्यादा [illegible] इससे ज्यादा यह कुछ नहीं कर सकता।

जिन ग्रामदानों पर काम उठानेका आदेश दिया है, उनके अनुयायियों

को यह काम उठा लेना चाहिए। अब यह आन्दोलन सबके आधार पर है। इसमें सबकी इज्जत खतरेमें है। देशकी आबरू इसके साथ जुड़ी हुई है यह समझकर सब प्रकारके मतभेदोंको छोड़कर सबको यह काम उठा लेना चाहिए। यह हमारी प्रत्यक्ष आचार-योजना है। जन-जन लोगोंमें बात करते समय हम उनसे पूछेंगे कि आप क्या काम करते रहे हैं? अब यह बाबाका काम नहीं है आपका काम है। बाबा आपके जिलेमें घूम रहा है उसका उपयोग करो। अभी तक यह था कि बाबाके काममें ये लोग मदद करते थे और बाबाको उनका उपकार मानना पड़ता था। अब वे उनके काममें बाबाकी मदद लें और बाबाने मदद की तो उसका उपकार मानेंगे। अब परिस्थिति बदल गई है। फिर भी हम आपसे यह अपेक्षा नहीं करते हैं कि आप हमारा उपकार मानें। हम तो सबके चरणोंके सेवक हैं। हमें बहुत पक्ष मन्मतदार का एक वचन याद आता है जिसमें वह कहता है कि 'मैं तेरे दासके दासके दासका दास हूं।' यही विनोबाकी हैसियत है। इसलिए विनोबा आपकी चरण-सेवाके लिए हमेशा तैयार है। लेकिन आप सबको यह काम उठाना चाहिए।

आप यह काम करेंगे और जगह-जगह लोग ग्रामदानके लिए तैयार हो जायेंगे। लेकिन जहां लोग ग्रामदानके लिए तैयार होते हैं वहां उनके पीछे राहु केतु शनि मंगल जैसे साहूकार लगते हैं। साहूकार उनसे कहते हैं कि पुराना कर्जा जल्दी वापस दो और इसके आगे तुम्हें कर्जा नहीं मिलेगा क्योंकि तुम्हारी आसामियत नहीं रही है। जबतक कि सरकार भी उन्हें कर्जा देनेको राजी नहीं होती है मानो इन ग्रामवासियोंने कुछ पाप ही किया हो! इस तरहसे सब लोग उनपर हमला करते हैं। इसलिए ग्रामदान प्राप्ति के बाद कुछ आगेका काम करना पड़ता है।

ग्रामदानके बाद ग्राम-स्वराज्यकी स्थापना करनेका काम आता है। एक गांवको मजबूत बनानेकी बात है। यह काम सबको करना है। इसमें पहली जिम्मेदारी आपकी है। इसमें दाता व्यापारी खादी कमीशन कम्युनिटी प्रोजेक्ट आदि सबकी जिम्मेदारी है। देशमें एक बड़ी घटना बनी तो ग्रामके उत्थानके लिए जिम्मेदारी सबकी है यह काम हम नहीं करेंगे। इसका मतलब यह है कि देशमें ग्रामदानसे नैतिक हवा निर्माण हुई तो उसे

ठिकाने रखना चाहिए। लोगोंके पास सतत जाकर विचार समझानेवालोंकी और सेवा करनेवालोंकी एक सेना खड़ी करनी चाहिए। उसे हमने 'सेवा-सेना' नाम दिया है। शहरमें ऐसी 'सेवा-सेना' बननी चाहिए। सब शहरमें जनसंख्याके अनुसार शहरके लिए हर पांच हजार मनुष्योंके पीछे एक सेवक इस हिसाबसे लोगोंको सेवक चाहिए। वे सेवक पांच हजार लोगोंसे संपर्क रखेंगे। रोज लोगोंके घर जायेंगे। उन्हें साहित्य पहुंचायेंगे। हरेकका दुःख जानेंगे। फिर अपने लोगोंमें वह बात रखेंगे और कुछ दुःख-निवारणकी कोशिश करेंगे इस तरह एक निरन्तर सेवाकी योजना सारे भारतमें होनी चाहिए। तब ग्रामदान शान्ति कायम होगी स्थिर होगी ग्रामदानसे जो नैतिक हवा बनती है, उसकी गर्मी बनी रहेगी बल्कि वह गर्मी बढ़ती रहेगी। उसके लिए सारे भारतमें सत्तर हजार सेवकोंकी एक सेवा-सेना चाहिए।

हमने 'सेवा-सेना' नाम क्यों दिया? हिन्दुस्तानमें सेवा है, परन्तु सेवा सेना नहीं है। यानी सेवाका आक्रमण नहीं हो रहा है। हमारे सामने कोई भिखारी आता है तो उसका दुःख देखकर हमारा दिल पिघलता है और हम कुछ सेवा करते हैं। इस तरहकी सेवासे सामाजिक शान्ति नहीं होती है। सेवाका आक्रमण होना चाहिए। जैसे बच्चा भागना चाहता है तो भी मां उसे पकड़ती है उसकी नाक साफ करती है, उसे दूध पिलाती है। वह रोता ही रहता है, मुंह खोलता ही नहीं तो मां नाक दबाकर मुंह खोलती है और उसे दूध पिलाती है। उसके हितकी बात मां समझती है। वैज्ञानिक कहते हैं कि बच्चा अगर नहीं रोयेगा तो उसे दूध हजम नहीं होगा। उसका रोना लाजमी है रोते हुए भी मां उसके मुंहमें दूध डालेगी तभी वह उसे पचा सकेगा। इस तरह जैसे माता प्रेमका आक्रमण करती है, वैसे ही सेवा-का आक्रमण होना चाहिए। हमारी आंखोंके सामने कोई दुःख आया और फिर हमने उसके निवारणकी कोशिश की वह सेवा-सेना नहीं है। सेवा-सेनाके सेवक खुद घर-घर जायेंगे। वह सेवा-सेना ही मौकेपर 'शान्ति-सेना' बनेगी।